ISSN 2231 - 6329 Alochana

60 साल
सबसे आगे...

आलोचना

त्रैमासिक

सहस्राब्दी अंक

50

आलोचना
त्रैमासिक

सहस्राब्दी अंक पचास
जुलाई-सितम्बर 2013

सहस्त्राब्दी अंक पचास
जुलाई-सितम्बर 2013

यह अंक : ₹ 50
व्यक्तिगत सदस्यों के लिए
वार्षिक सदस्यता : ₹ 200

संस्थाओं के लिए
वार्षिक सदस्यता : ₹ 300

कृपया अपना शुल्क
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली
के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ्ट द्वारा भिजवाएँ।

प्रकाशन के लिए सामग्री दो पंक्ति छोड़कर (डबल स्पेस में) साफ टाइप
की हुई होनी चाहिए और निम्न पते पर ही भेजी जानी चाहिए :

संपादक
मैत्री शांति भवन, फ्लैट नं. 4, बी.एम. दास रोड
पटना-800 004 (बिहार)
दूरभाष : 0612-2300240

सम्पादन-अवैतनिक

AALOCHANA
A Quarterly Journal in Hindi
Published by Rajkamal Prakashan (P) Ltd.
1-B, Netaji Subhash Marg, New Delhi-110 002 (INDIA)
Phone : 011-23274463, 23288769 *Fax : 011-23278144*
website : www.rajkamalprakashan.com • e-mail : info@rajkamalprakashan.com

Subscriptions
In other countries
US $ 21/£ 17 *(via air mail)*
US $ 12/£ 10 *(via sea mail)*

आलोचना
त्रैमासिक

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110 002

आलोचना 50
त्रैमासिक

सम्पादकीय

यह आलोचना का सहस्राब्दी अंक-50 है।
वैसे तो प्रत्येक संख्या पूर्ण और पवित्र है, लेकिन कुछ संख्याओं को जीवन की पर्व-संधियाँ माना जाता है। रजत, स्वर्ण, हीरक, कौस्तुभ आदि, अर्थात् उन्हीं धातुओं के समतुल्य, उतना ही अधिक मूल्यवान। लेकिन हमारे लिए धातुओं, रत्नों से अधिक मूल्यवान हैं शब्द। जो अजर अमर हैं।

'आलोचना' के इन पचास अंकों ने यदि शब्द, भाषा और साहित्य के प्रति थोड़ा भी अपने कर्त्तव्य का निर्वहन किया तो श्रम अकारथ नहीं गया।

आलोचना का मुख्य काम श्रेष्ठ की पहचान कर, उसके मूल्य को स्वीकार्य बनाना है। साथ ही, ऐसे वातावरण, ऐसे समाज की रचना में भी अपना योग देना है जो श्रेष्ठ को पोषण प्रदान करे। ऐसे समाज का निर्माण जहाँ रोटी और कविता में सबकी बराबर हिस्सेदारी हो।

हम नहीं कहते कि यहाँ जो भी प्रकाशित हुआ वह सब मूल्यवान ही है या श्रेष्ठ ही है। लेकिन यदि पचास ऐसी प्रस्तुतियाँ भी मिलें तो हम धन्य होंगे।

आगे आनेवाले अंकों में हम कुछ नये संकल्प और प्रतिज्ञाओं के साथ काम करेंगे।

इस अवसर पर हम अपने सभी पाठकों, लेखकों और शुभेच्छुओं का अभिनन्दन करते हैं।

—अरुण कमल

संवरण समय में सृजन

एडवर्ड सईद

कला की कोई भी विधा हो, जहाँ तक उसकी शैली अथवा रूप-रचना का सम्बन्ध है वह प्रथमतः प्रभावित होती है अपने समय, ऐतिहासिक काल, समाज और परम्परा से प्राप्त शैली रूपों से, स्वयं कलाकर के सम्बन्ध की प्रकृति से। कलाकृति, अपनी तमाम विशिष्टताओं के साथ, उस युग का एक अंश होती है—विरोधाभासी विधि से अंश नहीं भी होती है—जिस युग में इसका जन्म होता है और यह प्रकाश में आती है। यह महज किसी समाजशास्त्रीय अथवा राजनीतिक संयोग का प्रश्न नहीं होता अपितु अधिक आकर्षक रूप से यह प्रश्न होता है आलंकारिक अथवा रूपगत शैली का। इस दृष्टि से प्रख्यात जर्मन संगीतकार मोज़ार्ट अपनी संगीत शैली में ऐसी अभिव्यक्ति, विधि अपनाते हैं जो बीथोवन अथवा वागनर की तुलना में राजदरबार अथवा चर्च से कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है क्योंकि बीथोवन और वागनर दोनों का उदय एक ऐसे लोकोन्मुखी पर्यावरण में हुआ था जो वैयक्तिक सृजनात्मकता की रोमांटिक धारा में समोया हुआ था तथा जो संरक्षण की अनिश्चितता के कारण अपने समय से टकरा रहा था, क्योंकि यह वह समय था जब संगीतकार का पेशेवर रूपान्तरण हो रहा था। इस कालखंड का प्रतिभा-सम्पन्न संगीतज्ञ अपने को किसी स्वामी का सेवक मानने की बजाय सृजन-प्रतिभा के बल पर अपनी आग्रही अपेक्षाओं का उद्घोष कर रहा था और इस तरह अपने सामयिक इतिहास को चुनौती देते हुए अपनी गरिमा और गौरव की स्वीकृति के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था। तुलनात्मक दृष्टि से मोज़ार्ट अपने समकालीन समाज से अनुकूलित हो गए थे जबकि बीथोवन और वागनर ऐसी मौलिकता से सम्पन्न थे जिसके बल पर वे अपने समय के कलात्मक और सामाजिक मानकों के साथ द्वन्द्व की स्थिति में थे। इसी तरह बाल्ज़ाक जैसे यथार्थवादी रचनाकार और उनके सामाजिक पर्यावरण के बीच यही नहीं कि एक सजीव स्पष्ट सम्बन्ध ही होता है अपितु उनके बीच एक विरोधात्मक सम्बन्ध भी होता है जो किसी संगीतकार के सन्दर्भ में न तो बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है और न ही जिसे सीधे शब्दों में सूत्रबद्ध किया जा सकता है क्योंकि संगीत कला न तो अनुकरणात्मक होती है और न ही नाटकीय। बीथोवन की उत्तरकालीन रचनाओं में एक निजी अधीरता और छटपटाहट के स्वर सुनाई देते हैं जो इन रचनाओं को उनकी ऐसी प्रारम्भिक सांगीतिक कृतियों से अलग करते हैं जिनमें उनकी उच्छल प्रतिभा उनके गहरे आत्म-विश्वास से आप्लावित है। बीथोवन के जीवन के अन्तिम दशक की कालजयी रचनाएँ इतनी अधिक विलम्बित शैली वाली हैं कि वे अपने समय के पार चली जाती हैं और ऐसा होता है उनके साहसिक रूपविधान और चकित

अनुवादक : रामकीर्ति शुक्ल

ए-601, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर 9, वसुन्धरा, गाजियाबाद-201012

करनेवाली नवीनता के कारण। इस अर्थ में भी वे अपने विलम्बित होने का संकेत देती हैं कि उनमें एक प्रकार से घर वापसी अथवा ऐसी दिशाओं की ओर प्रत्यावर्तित होने का संकेत मिलता है जिन्हें इतिहास की निर्मम अग्रगामिता के क्रम में या तो भुला दिया गया था अथवा पीछे छोड़ दिया गया था।

स्वयं साहित्यिक आधुनिकतावाद को भी एक प्रकार की विलम्बित शैली की परिघटना के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि टी.एस. इलियट और जेम्स ज्वाइस जैसे रचनाकार लगभग पूरी तरह अपने समय से अपने को बहिष्कृत मानते हुए अपनी प्रेरणा के लिए प्राचीन मिथकों तथा महाकाव्य जैसे कला-रूपों अथवा प्राचीन धार्मिक अनुष्ठानों की ओर लौटते हुए लगते हैं। यही नहीं बल्कि ऐसा भी लगता है कि आधुनिकतावाद नए का आन्दोलन न होकर वार्द्धक्य और विलम्ब का आन्दोलन है अथवा, टामस हार्डी के शब्दों में, एक ऐसा आन्दोलन जिसमें 'बचपन के वेष में वार्द्धक्य' केन्द्र में है। अपने उपन्यास 'जूड दि आव्सक्योर' में जिसमें इन शब्दों का प्रयोग किया गया है हार्डी जूड के पुत्र को 'लिटिल फादर टाइम' (अल्पवय पिता समय) कहते हैं जो दैहिक क्षरण और इसके वरदान-स्वरूप स्मृति-जागरण की एकसूत्रता के बोध के साथ आधुनिकतावाद का रूपक लगता है। लेकिन तो भी हार्डी की दृष्टि में यह अल्पवय शिशु उद्धार और मुक्ति का प्रतीक उतना ही है जितना की काली गौरैया। और यह उसी समय स्पष्ट हो जाता है जब यह शिशु ट्रेन यात्रा के पश्चात् अपने माता-पिता (सू और जूड) से मिलते हुए पहली बार उपन्यास में प्रकट होता है : "वह बचपन के वेष में वार्द्धक्य था और यह स्वाँग वह इतने खराब तरीके से कर रहा था कि उसका वास्तविक स्वरूप दरारों में से झाँक रहा था। प्राचीन वर्षों की रात्रि का उफान कभी-कभी बच्चे को उसके जीवन के प्रातःकाल में ऊपर उछाल देता था, जब समय के महासमुद्र की ओर उसका मुखमंडल पीछे मुड़कर देखता था और जो दिखाई पड़ रहा होता था उसकी ओर वह ध्यान नहीं देता था। जब दूसरे यात्री अपनी आँखें मूँद लेते थे जो कि वे एक-एक कर कर रहे थे–बिल्ली का बच्चा भी कम्बल के नीचे करवट ले लेता था क्योंकि घेरे में खेलते-खेलते वह उकता जाता था–तब भी पहले ही की तरह खेल चलता रहता था। तब वह (बालक जूड) दुगुनी मात्रा में जागता दिखाई पड़ता था मानो वह किसी बन्धन में पड़ा हुआ छोटा-सा देवता हो, चुपचाप बैठा हुआ, अपने साथियों की ओर देखता हुआ, उनका पूर्ण परिसमाप्त जीवन देखते हुए, न कि उनके तत्काल उपस्थित शरीरों को।" अल्पवय जूड अकाल वार्द्धक्य का प्रतीक उतना नहीं जितना कि प्रारम्भों और अन्तों, युवा अवस्था और वार्द्धक्य की असम्भव लगने वाली वयावनति का सहपुंजन, जिसके दैवत्व–इस शब्द में भी कुछ उपर्युक्त किस्म की ध्वनि मौजूद है–का अर्थ है अपने और अन्य लोगों पर निर्णय देने की उसकी योग्यता। बाद में जब वह अपने और अपने छोटे भाई-बहनों पर निर्णय की क्रिया सम्पादित करता है तो परिणाम होता है सामूहिक आत्महत्या, जिसका मेरे विचार से, अर्थ यह होता है कि अति-युवावस्था और अति-वार्द्धक्य का यह लोकोपवादी मिश्रण बहुत समय तक जीवित नहीं रह पाता।

लेकिन मृत्यु और जीवन एक साथ घटित होते हैं और प्रधानतः मैं इसी पर यहाँ विचार कर रहा हूँ। ऐसे अन्य चित्रों में दो उदाहरणों में से एक है सिसली के उच्चवर्गीय समाज के सदस्य लैम्पेड्यूसा जिन्होंने मात्र एक ही अतीत-मुग्ध उपन्यास लिखा था जिसे किसी प्रकाशक ने प्रकाशित करने में रुचि नहीं ली और दूसरे हैं सिकन्दरिया के ग्रीक कवि कान्सतैंताइन कवाफी जिन्होंने अपने जीवनकाल में कुछ भी नहीं प्रकाशित किया। इन उदाहरणों से अत्यन्त दुर्लभ परन्तु अत्यन्त मूल्यवान के साथ ही अत्यन्त दुःसाध्य कला-चिन्तन का संकेत मिलता है अर्थात् ऐसा कला-चिन्तन करने वाली मेधाओं का संकेत जो अपने समय के साथ सभी प्रकार के जुड़ाव त्याग देते हैं जबकि उसी समय में वे पर्याप्त रूप से सशक्त, अर्द्धप्रतिरोधी कृतियों की रचना भी कर रहे होते हैं। दर्शन के क्षेत्र में इसी तरह की 'असामयिकता' के यशस्वी-पुरुष हैं नीत्शे। ऐसे रचनाकारों के लिए 'विलम्ब' अथवा 'विलम्बित' शब्द बहुत सटीक होता है।

राशेल बेस्पलॉफ्ट की होमर के महाकाव्य इलियड पर केन्द्रित पुस्तक की भूमिका में हरमन ब्रॉख ने जीवन के उत्तरकाल की शैली का उल्लेख इस प्रकार किया है :

इसे (उत्तरकाल की शैली) सदैव आयु-वर्षों का उत्पाद नहीं कहा जा सकता। कलाकार के अन्य लक्षणों की तरह यह भी उसकी प्रतिभा की धरती में बोयी रहती है, शायद समय के साथ वयस्क होती हुई, प्रायः अपने समय के पहले ही पल्लवित होती हुई, मृत्यु-छाया में बढ़ती हुई, या फिर वार्द्धक्य अथवा मृत्यु के निकट आने के पहले अपने आपको पुष्पित करती हुई : यह अभिव्यक्ति के एक नए शिखर पर पहुँचना है, जैसे वृद्ध टिटियन (मध्यकालीन योरोप के प्रख्यात चित्रकार) द्वारा सर्ववेधी प्रकाश का आविष्कार जो मानव देह और मानव आत्मा को एक उच्चतर सूत्र में पिरो देता है, अथवा अपनी परिपक्वता के शिखर पर पहुँच चुके रेम्ब्राँ और गोया (मध्यकालीन योरोप के महान् चित्रकार) द्वारा उस परामौतिक सतह की खोज जो मनुष्य और पदार्थ जगत में अन्तःस्थित दिखाई पड़ती

है लेकिन जिसे चित्रांकित नहीं किया जा सकता है अथवा टि आर्ट ऑफ फ्यूगू (जर्मन संगीतकार बाख की संगीत रचना) जिसे बाख ने किसी वाद्ययंत्र को विचार में लाए बिना ही बोलकर लिखवा दिया था, क्योंकि जो वे (बाख) कहना चाहते थे वह संगीत की श्रव्य-भूमि के या तो नीचे था अथवा उसके परे।

II

विलम्बित शैली और आदिम अन्तर्वस्तु के मिश्रण के सन्दर्भ में यूरिपिडिज़ विलबम्न, अथवा शायद क्षरण के लिए एक विचित्र उदाहरण हैं। अपने मूल्यों में यूरिपिडिज़ शिला-सदृश एस्किलस की तुलना में कहीं अधिक रहस्यमय और सोफोक्लीज़ की तुलना में कहीं कम तीक्ष्ण हैं। नीत्शे ने यूरिपिडिज़ को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है जो डायोनीसस और अपोलो—ट्रैजिक कला-रूप के आधार-स्तम्भ—के मिथक ग्रहण कर इसे अन्ततः एक बार 'कट्टर मतवाद की कठोर, बुद्धिसम्मत चौकसी से' इसलिए मुक्त करते हैं ताकि ट्रैजेडी के लिए वह इसे पुनः प्रयोग कर सके। "क्या थी तुम्हारी इच्छा, देवविरोधी यूरिपिडिज़ जब तुमने एक बार पुनः उस मृतप्राय मिथक को विवश करने का प्रयास किया था? इस मिथक ने तुम्हारे हिंसक हाथों में अपने प्राण गँवा दिए, तब फिर तुम्हें किसी ऐसे कूट छद्मवेशी मिथक की आवश्यकता पड़ी जो...पुराने वस्त्रों में अपना केवल अलंकार ही कर सकता था।" यूरिपिडिज़ तक पहुँचते-पहुँचते ट्रैजेडी का प्राचीन रूप 'अपनी पीड़ादायी और हिंसक मृत्यु के स्मारक' के रूप में कठिनाई से केवल साँस ही ले सकता था। विचित्र बात है कि यूरिपिडिज़ के अन्तिम ट्रैजेडी नाटक द बेकचै और इफिजिनिया एट आउलिस ऐसी कृतियाँ हैं जो विषयवस्तु के स्तर पर किसी मुश्किल से स्मृति में आने वाले प्रारम्भ बिन्दु की ओर सचेत रूप से वापस लौटती हैं, लौटती हैं किसी अत्यधिक व्यथित करने वाले 'पाशविक तल पर अनियंत्रणीय रहस्य' (डब्ल्यू बी. येट्स) के किसी संकेत की ओर। द बेकचै उस क्षण को प्रस्तुत करता है जब ओलिम्पस पर्वत पर एक अपरिचित एशियायी के रूप में एक अनिश्चित किन्तु आक्रामक यौनिकता वाला देवता डायोनीसस प्रवेश करता है। उस समय के थेब्ज पर कैडमस के उत्तराधिकारी के रूप में पेंथियस का राज्य था, और जब सन्देहवादी युवा पेंथियस देवता के रूप में डायोनीसस को स्वीकार करने से मना कर देता है तो डायोनीसस पेंथियस के ऊपर भयानक अत्याचार करता है। द्वितीय संदेशवाहक के एक असाधारण सम्भाषण से नाटक के चरमोत्कर्ष का संकेत मिलता है। चरमोत्कर्ष के इस बिन्दु पर पेंथियस की माँ डायोनीसस को आराध्य के रूप में स्वीकार कर लेती है। भावावेश में आकर अपने ही पुत्र की हत्या कर देती है और उसके देह के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है। उसे यह विश्वास बना रहता है कि जिस देह के उसने टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं वह एक सिंह था। वह बैके के आराधकों के समूह का नेतृत्व करती हुई उन्हें ऑरकेस्ट्रा की ओर ले जाती है। इस समय उसकी गोद में विजय-प्रतीक के रूप में उसके पुत्र का सिर होता है। इस पूरे क्रम में पेंथियस का राजमहल ही नहीं भस्म कर दिया जाता है अपितु स्वयं थेब्ज का भी कायाकल्प कर दिया जाता है। डायोनीसस की विजय होती है लेकिन यह विजय कितनी व्ययसाध्य होती है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इफिजिनिया के कथाक्रम ट्रोजन युद्ध के ठीक पहले का है जिस समय आट्रियस के पुत्रों अगामेमनन और मेनेलास के सेनापतित्व में एशिया के ऊपर आक्रमण के लिए सेना तत्पर खड़ी है परन्तु आउलिस के समुद्रतट पर छाई मृत्यु-शान्ति के कारण उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ रही है। दोनों सेनापतियों में से एक अगामेमनन क्लीतेमनेस्त्रा का पति और इफिजिनिया, इलेक्त्रा और ओरेस्तीज़ का पिता है और दूसरा मेनेलास हेलेन का पति। जिस समय सेनाएँ रणक्षेत्र की ओर प्रस्थान करने को उद्यत हैं उसी समय भविष्यवक्ता केलचस अगामेमनन को सूचित करता है कि सेनाएँ समुद्रीमार्ग का अनुसरण तभी कर सकती हैं जब उसकी (अगामेमनन की) पुत्री की आउलिस की देवी के समक्ष बलि दे दी जाएगी। अपने सैन्य अभियान के लिए दृढ़प्रतिज्ञ अगामेमनन अपनी पत्नी और पुत्र-पुत्रियों को मायसेनी से आउलिस चलने के लिए मनाने चल देता है और बहाना यह बनाता है कि इफिजिनिया को एकिलीज़ से विवाह करने का प्रस्ताव मिला है। क्लीतेमनेस्त्रा इस बात का पता लगा लेती है कि उसकी पुत्री इफिजिनिया की हत्या की योजना बन चुकी है और इसी कारण वह अपने पति के आदेश का विरोध करती है। माता, पुत्री और पिता के माध्यम से कथानक को विकसित करने के क्रम में यूरिपिडिज़ माता के हृदय में आक्रोश और प्रतिशोध के ऐसे बीज बोते हैं जो आगे चलकर क्लीतेमनेस्त्रा को पर-पुरुष के साथ समागम के लिए ही नहीं अपितु अपने पति अगामेमनन की हत्या के लिए भी प्रेरित करते हैं अर्थात् उसी प्रकार का रक्तपिपासु कार्य जिनके आधार पर एस्किलस ने अपने नाटक ओरेस्टेइआ का कथानक रचा था। इफिजिनिया नाटक का अन्त युवा इफिजिनिया द्वारा अपने पिता की महत्त्वाकांक्षा के लिए आत्मबलिदान के लिए

अपने को स्वेच्छया प्रस्तुत करने के साथ होता है और वह अपनी रोती-बिलखती माँ को छोड़कर आगे चल देती है। 'चलो करें हम नृत्य', वह कोरस से कहती है :

चलो करें हम नृत्य, करें अर्तिमस का अभ्यर्चन
जो है धन्य महारानी औ' देवी
बलि होते ही मैं
धो डालूँगी अपनी शोणित बूँदों से
दैव-नियत उस महाशाप को
ओ माँ, मेरी गरिमामंडित माँ
स्वीकारो मेरे अश्रुबिन्दु, लो इन्हें सम्हालो
ताकि तुम्हारी पावन देहरी पर जब आऊँ
तब न करूँ मैं अश्रुपात।

जैसा कि यूरिपिदिज़ के नाटकों के सिनेमा-संस्करणों के विषय में मेरिआनी मकडोनाल्ड ने कहा है, अपनी भयावह, अश्रुपूरित और विह्वलकारी कथा के बावजूद ये नाटक हृदय को खोलकर रख देते हैं। यह सच है कि पुराने मिथकों का रंग-रूप यहाँ भी सरलता से उसी प्रकार देखा जा सकता है जिस प्रकार सोफोक्लीज़ और एस्किलस जैसे यूरिपिदिज़ के पूर्ववर्ती नाटककारों की कृतियों में लेकिन स्थितियों की मनोरचना समझने में, छलयोजना और षड्यन्त्र को उघाड़ने में, आत्म-भ्रम और प्रताड़ना के अनुवीक्षक के रूप में अपने दोनों महान अग्रज रचनाकारों की तुलना में यूरिपिदिज़ बीस हैं। इस प्रकार यहाँ उल्लिखित दोनों नाटकों के अन्त में पाठक/प्रेक्षक को परिसमाप्ति और समरसता का उसी तरह का अनुभव नहीं होता जैसे यूरिपिदिज़ से पहले के नाटकों में। और अंशतः इसका कारण है यूरिपिदिज़ का परवर्ती होना जिसके चलते वे अपने नाटकों का प्रयोग पूर्वपरिचित सामग्री को दुहराने, उन्हें संशोधित अथवा पुनर्व्याख्यायित करने अथवा उनकी ओर लौटने के लिए करते हैं। लेकिन यूरिपिदिज़ के नाटकों का विशिष्ट बोध होता है उनकी क्रीड़ाप्रियता, और ऐसा बोध तभी होता है जब नाटक के विषय में सोचते हुए हम ट्रेजिक कथा के विस्तार, अलंकार और साक्ष्यसम्पन्न बनाने के उद्देश्य से प्रयास के विस्तार और असम्पृक्त तथा लगभग शुद्ध रूप से रूपाधारित संकेतों को ध्यान में रखें। उनके नाटकों में जीवन्त आधुनिक मनोविज्ञान के साथ ही चरित्रों, स्थितियों और वाग्मिताओं के रूपांकन में अर्द्ध-अमूर्त रस का भी बोध प्राप्त किया जा सकता है।

परिणामतः उनकी कृतियों में अपरिहार्यता और व्यग्रता की मात्रा कम होने की अपेक्षा कहीं अधिक है। थेब्ज़ को और कैडमस राजवंश को ध्वस्त करने के पश्चात् जब डायोनीसस अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करता है तब आत्म-प्राकट्य के क्षण में उसके शब्दों में एक विक्षोभी किन्तु विचित्र ऊर्जा का विस्फोट सुनाई देता है मानो वह उन नश्वर मानवों के साथ क्रीड़ा करने, उन्हें संतप्त और अन्ततः उनका विनाश करने के लिए सदैव तत्पर रहता हो जिन्होंने जानबूझकर उसका अपमान चाहे न किया हो लेकिन जिन्होंने उसके अहं को ठेस पहुँचाई है। यूरिपिदिज़ जितना ही इस परपीड़ाजनित सुख के कवि हैं उतना ही वे इफिजिनिया की यातना का षड्यंत्र करने वाले अगामेमनन के छल-कपट के विरुद्ध उसके (इफिजिनिया के) समर्थक भी हैं। जब नीत्शे ने यूरिपिदिज़के विषय में यह कहा था कि उन्होंने मृत और प्राचीन मिथकों को नष्ट करने के लिए ही उनका उद्धार किया था, तब उनका (नीत्शे का) मतलब केवल यही नहीं था कि उन्होंने जो प्राचीन और मानवेतर था उसका मानवीकरण किया बल्कि यह भी कि उन्होंने ऐसे देवताओं के लिए एक जीवन्त तर्क पद्धति का भी आविष्कार किया जो अन्यथा दिक्-काल की सीमा के बाहर ही रह गए होते।

अतिनाटकीयता और संगीत यूरिपिदिज़ के नाटक के ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण आधुनिक नाट्य निर्देशकों के सामने बहुत चुनौतीपूर्ण समस्याएँ पैदा हुई हैं। आन्द्रज़ेज वाजदा द्वारा 1998 में सोफोक्लीज की नाट्यरचना एंटीगॉन की प्रस्तुति एक प्रकार से सॉलिडेरिटी आन्दोलन द्वारा पोलैंड के रूपान्तरण पर राजनीतिक टिप्पणी के रूप में थी। अपनी तमाम जोरदार टिप्पणियों के बावजूद इस प्रकार की समान्तरताएँ यूरिपिदिज़ को चोट पहुँचाती हैं क्योंकि उनके परवर्ती नाटक भावावेग और छल-योजना को एक-दूसरे के संगीतात्मक रूपों में मंचित करते हैं। अपने सारे कौशल के बावजूद फ्रेंच नाट्य-निर्देशिका अरियानी म्नुसस्कीन ने इफिजिनिया को सोफोक्लीज के नाटक ऑरेस्टेइआ के पूर्व रंग के रूप में प्रस्तुत किया। पेरिस नगर के बाहर एक लम्बे लेकिन तंग बसेरे की संरचना वाले रंगालय को उन्होंने एक चौकोर बुलरिंग में बदल दिया जिसे उसी समय एक प्रकार के बेरयूथ की भी भूमिका अदा करनी थी जहाँ अनुष्ठान, संगीत और अद्भुत रूप से प्रभावी शैलीबद्ध अभिनय मिलकर एक ऐसे परिवार के पतन को व्यक्त करते हैं जो अपनी वंशावली और स्वभाव के चलते भयावह कृत्य करने के लिए अभिशप्त है।

म्नुसस्कीन की अवधारणा के केन्द्र में है एक प्रकार के वस्त्र विन्यास में सजे लगभग दो दर्जन नृत्यकारों का कोरस जिसमें अलग-अलग प्रकार के रंग-रोगन में अभिनेता और अभिनेत्रियाँ प्रस्तुत की गई थीं और पूरे संयोजन को देखकर लगता था कि निर्देशिका ने मूल कथानक को एक लोककथा के

रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। कोरस के सभी अभिनेता संगीत वाद्यों में निपुण प्रतीत होते थे। नाटक के अन्तिम क्षणों में बलि की जा चुकी इफिजिनिया और उसकी माँ क्लीतेमनेस्त्रा भी नृत्य में सम्मिलित हो जाती हैं। नृत्य के बीच-बीच में शंख-ध्वनि भी गूँजती है और अन्तिम क्षणों में कुत्तों का भौंकना भी सुनाई पड़ता है।

यूरिपिदिज़ के एक अन्य नाटक द बैकथे की इन्ग्राम बर्गमन की प्रस्तुति एक संगीत नाट्य के रूप में की गई थी जिसे एक बैले का रूप दिया गया था। संगीत रचना एक स्थानीय संगीतकार की थी और डायोनिसस की भूमिका एक स्त्री ने निभाई थी जिसकी सुन्दरता और मांसल देहयष्टि से डायोनिसस के चरित्र के विशिष्ट लक्षणों की प्रस्तुति बहुत प्रभावपूर्ण बन पड़ी थी। लगता था कि बर्गमन नाटक की पूरी प्रस्तुति में डूबे हुए थे; बैके के उपासकों के रूप में कोरस के प्रत्येक सदस्य के अलग-अलग नाम, पृष्ठभूमि और चरित्र को स्पष्ट कर दिया गया था और इस तरह कोरस में भाग लेने वाले पात्र एक ही समय एक समूह के रूप में तथा अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ भी देखे जा सकते थे। समूह-संगीत को केवल एक बार रोका गया था, जब द्वितीय संदेशवाहक के रूप में एक अभिनेता ने पेंथियस के अंग-विच्छेदन के संकेत के लिए गद्य का प्रयोग किया था। बर्गमन की प्रस्तुति आनुष्ठानिक कम, जानी-पहचानी अधिक लगती है और इसमें विध्वंस और विध्वंस की पीड़ा को इस तरह उभारा गया है मानो मंच पर आने वाले प्रत्येक अभिनेता ने डायोनिसस के चरित्र और उसकी विनाशलीला को निजी स्तर पर अनुभव किया हो। बर्गमन द्वारा निर्देशित फिल्मों की ही तरह यहाँ भी निर्वैयक्तिक और नायकत्व को दिन-प्रतिदिन के जीवन के स्तर पर उतारकर अनौपचारिक घटनाओं के अनुक्रम के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक भाषाओं के बावजूद ये दोनों प्रस्तुतियाँ यूरिपिदिज़ को प्रेक्षक के रूबरू नहीं लातीं। दोनों प्रस्तुतियों को देखने के बाद यह महसूस होता है कि निर्देशक एक प्रकार के अलगाव-प्रभाव की सृष्टि करना चाहता था मानो यह कहने के लिए कि हमें चरित्रों के निकट आकर उनसे तादात्म्य नहीं स्थापित करना चाहिए क्योंकि ये चरित्र रहस्यमय शक्तियों और अपने अँधेरे हृदयों के कारण तहस-नहस हो चुके हैं। इससे इस बात पर भी बल देना निर्देशकों के लिए सम्भव हो गया कि 410 ई.पू. में भी जब इन नाटकों को पहली बार मंचित किया गया था यूरिपिदिज़ के विषय में सब कुछ विजातीय और बेमौसम था। यूरिपिदिज़ उस समय मिथक और यथार्थ के मिलन-बिन्दु को नाट्यांकित कर रहे थे—ये दोनों आपस में एक दूसरे को चुनौती देते हुए गुत्थमगुत्था हो रहे थे। परिणाम एक असाधारण कृत्रिमता के रूप में सामने आता है जहाँ मंचन इसी रूप में अपने को उद्घोषित करता है और अपने को शुद्ध रूप से व्यग्र और भयाक्रान्त प्रेक्षण और श्रवण के लिए प्रस्तुत करता है।

III

सिकन्दरिया में रहने वाले ग्रीक कवि कांस्तैंताइन कवाफी 1933 में दिवंगत हो गए थे। वे चाहते थे कि उनकी 154 कविताएँ, जो बीसवीं शताब्दी के चलन के हिसाब से लघु कविताएँ ही कही जाएँगी, संरक्षित की जाएँ। ये कविताएँ विक्टोरियायी काल के प्रसिद्ध अंग्रेज कवि राबर्ट ब्राउनिंग के ड्रेमेटिक मोनोलॉग (नाट्य एकालाप) की ही तरह अतीत के किसी क्षण अथवा घटना के स्पष्टीकरण अथवा नाट्यांकन के रूप में रची गई थीं। यह अतीत या तो कवाफी के किसी निजी अनुभव से जुड़ा था अथवा उस विस्तृत और परिदृश्य से गायब हो चुके हेलनिक विश्व का अतीत था। अधिकांश कविताओं के कथानक का स्रोत प्लूटार्क है। कुछ सामग्री वे शेक्सपियर से भी लेते हैं और जुलियन दि अपॉस्टेट के प्रति वे विशेष रूप से आकर्षित थे। उनके पूरे रचनाकाल में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सिकन्दरिया छाया हुआ है। उनकी बहुत प्रारम्भिक रचनाओं में एक कविता 'द सिटी (नगर)' है जो मित्रों के बीच संवाद की शैली में लिखी गई है। पहला मित्र जो शायद एक पूर्व गवर्नर है, एक अनाम मिस्री नगर के जेल में अपने बन्दी जीवन पर शोक कर रहा है :

कब तक मैं सुलगने दूँ अपने मन को यहाँ
जिधर भी मुड़ता हूँ, जिधर भी देखता हूँ
मैं अपने जीवन के स्याह खँडहर ही देख पाता हूँ यहाँ
जहाँ मैंने बिताए हैं अगणित दिन महीने वर्ष
पूरी तरह से व्यर्थ, निष्फल।

दूसरा मित्र बड़ी ठंडी आवाज और नपे-तुले अन्दाज में उत्तर देता है जो कवाफी के संकुचित भावबोध और निरपेक्ष शैली को बहुत सटीक ढंग से व्यक्त करता है :

नहीं पा सकते तुम कोई नया शहर, नया तट
तुम्हारा पीछा करता रहेगा यह शहर। चलते रहोगे तुम
जानी-पहचानी सड़कों पर, बूढ़े हो जाओगे इसी पड़ोस में
इन्हीं घरों में पकते रहेंगे तुम्हारे बाल
घूम-फिर कर पनाह लोगे आखिर में तुम इसी शहर

में। मत करो उम्मीद
चीजों को कहीं पर और
न तो कोई सड़क है और न ही कोई वाहन
इन छोटे कोटरों में जैसे किया है व्यर्थ तुमने अपना समय
वैसे ही नष्ट कर दिया है तुमने इसे हर कहीं इस दुनिया में

यह केवल स्थान ही नहीं है जिसने वक्ता को जकड़ लिया है अपितु उन आवर्ती कर्मों ने भी जिन्हें करने के लिए उसकी नियति ने उसे विवश किया है।

कवाफी अपने एक अन्य कविता 'द सतरपी' और 'शहर' को अपनी प्रौढ़वय का मार्गदर्शक मानते थे। इस कविता का वाचक एक ऐसे आदमी को सम्बोधित कर रहा है जो सिकन्दरिया छोड़कर राजा अतजिरेक्सीज के राज्य के किसी प्रान्त में एक नए पद की तलाश पर निकलने की सोच रहा है। जिस भावी सफलता की आशा उसे है उसके विपरीत सिकन्दरिया छोड़ने वाले व्यक्ति को स्मरण होता है कि :

चाहते तुम और कुछ हो, छटपटा रहे हो अन्य चीजों के लिए
लोगों से, सोफिस्टों से प्रशंसा के लिए
कठिन श्रम से मिले उस अमूल्य जय-जयकार के लिए
चाहते हो अगोरा, रंगमंच और फूलों का मुकुट
राजा से ऐसा कुछ भी नहीं मिलेगा
इनमें से कुछ भी नहीं देख पाओगे सतरपी में
तब फिर इनके बिना कैसा जीवन जियोगे वहाँ।

अपनी सारी कमियों के बावजूद सिकन्दरिया ऐसा शहर है जो प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार ई.एम. फार्स्टर के अनुसार कपास, प्याज ओर अंडों की नींव पर खड़ा हुआ है, बनावट भद्दी, भद्दी नगर योजना और भद्दी जल-निकासी इसकी पहचान है। वह आदमी एक उम्मीद छिपाए हुए है जिसके बिना कवाफी जिन्दा ही नहीं रह सकते थे हालाँकि इस उम्मीद का अन्त धोखा ओर निराशा में हुआ।

नगरीय पृष्ठभूमि की लगातार उपस्थिति कवाफी की कविता का प्रमुख लक्षण है जो मिथक तथा उदास मोहभंग की पूरी विडम्बनात्मक और किंचित् घुटी-घुटी ध्वनि के साथ गद्यात्मकता को एक कर देती है। लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों से मिस्र की इस कविता को स्थानबद्ध करना इस बात से चकित होना है कि किस प्रकार उनकी रचना आधुनिक अरब-विश्व की पूरी अनदेखी करने में सफल हो जाती है। सिकन्दरिया तो कवि के जीवन (शराबखाने, किराए के कमरे, कॉफी हाउस अथवा वह घर जहाँ वे अपनी प्रेमिकाओं से मिलते थे) के अलग-अलग प्रसंगों का भू-क्षेत्र है अथवा इसका चित्रांकन तब का है जैसा यह कभी था, अर्थात् अनेक ग्रीस, रोम अथवा अलेक्जंडरियायी, वाइजैंतियम जैसे साम्राज्यों के पहले अथवा बाद के राजवंशों, टॉलमी के मिस्र अथवा आधुनिक अरब इथाका साम्राज्य के अधीन कोई शहर। अंशतः काल्पनिक, अंशतः यथार्थ, कविताओं के चरित्र कवि के जीवन के गुजरते हुए क्षण हैं। कविता ऐसे क्षण को समाने लाकर पवित्रीकृत करती है जो इतिहास में बन्द होने के पहले घटित होता है और यह हमेशा-हमेशा के लिए हमारी गिरफ्त से बाहर चला जाता है। कविता में समय की उपस्थिति हमेशा यथार्थ वर्तमान के बाहर अथवा उसके पार्श्व में होती है और इसे कवाफी अतीत की ओर जाने वाले एक निजी मार्ग के रूप में ही प्रयोग करते हैं। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, वह एक सीखी हुई ग्रीक भाषा है जिसके कवाफी सचेत रूप से अन्तिम आधुनिक प्रतिनिधि थे। यह भाषा कविता की तात्त्विक और साफ-सुथरी छवि और शब्द-चयन में बरती गई सावधानी को और अधिक रेखांकित करती है। ये कविताएँ अतीत और वर्तमान के बीच एक प्रकार की न्यूनतम उत्तरजीविता को प्रकट करती हैं। और इस तरह अभिधात्मक और गद्यात्मक अतुकान्त काव्य पंक्तियों में व्यक्त उनका बंजर सौन्दर्य दर्शन उनकी रचनाओं के प्राणत्व के रूप में निर्वासन झेलने के उनके बोध को धार प्रदान करता है।

इस तरह कवाफी की कविताओं में भविष्य लगभग पूरी तरह अनुपस्थित रहता है और यदि कभी दिखता भी है तो यह एक अर्थ में घटित हो चुका भविष्य होता है। सीमित आशाओं वाला यह अन्तस्थ, संकुचित विश्व उन भव्य प्रायोजनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक वरेण्य है जो या तो बीच में स्खलित हो जाती हैं अथवा निन्दा का उपकरण बन जाती हैं। उनकी एक अत्यन्त ही सघन कविता 'इथाका' मानो किसी ऐसे ओडीसियस के समक्ष बोली गई है जिसकी घर वापसी और पेनिलोप से होने वाली भेंट पहले से ही नियोजित और ज्ञात हो चुकी है और इस प्रकार कविता की प्रत्येक पंक्ति होमर के इसी नाम वाले महाकाव्य के भार से युक्त है लेकिन इससे कविता के आस्वाद में कोई अन्तर नहीं पड़ता :

हों वहाँ अनेक वसन्ती प्रात
जब उछाह आनन्द भाव से
तुम तट पर पहुँचो पहली बार
रह जाओ कुछ दिन तुम फोनीशियन व्यापार केन्द्र पर
क्रय करने को भेंट वस्तुएँ

हीरे-मोती मूँगा-रत्न मणि-मुक्ता और आबनूस
सभी तरह के प्रेय सुगन्धित द्रव्य।

लेकिन प्रत्येक सुख-बोध वाचक के कथन में पहले से ही सावधानी से चिह्नित कर दिया जाता है। कविता की अन्तिम लय गृहोन्मुख नायक के गन्तव्य अथवा उद्देश्य के रूप में पुनराविष्कृत न होकर उसकी यात्रा के उद्दीपन के रूप में उल्लिखित की जाती है :

इस आकर्षक यात्रा का अवसर दिया इथाका ने
उसके बिना तुम यात्रा का प्रारम्भ न करते
तुम्हें अब देने के लिए कुछ भी उसके पास नहीं है।

इस तरह एक ओर तो इथाका नगर के प्रति उसकी लालसा पूरी होने के आश्वासन के साथ ही वह इसे गँवा भी देता है क्योंकि गृह-वापसी की यात्रा का पूरा विवरण कविता की पंक्तियों में ही आ जाने के कारण इथाका न तो आकर्षित ही कर सकता है, न ही उसे छल सकता है। इथाका एक नया अर्थ ग्रहण कर लेता है लेकिन किसी स्थान के रूप में नहीं बल्कि ऐसे अनुभवों के एक वर्ग के रूप में जो मानवीय बुद्धि को सक्षम-सक्रिय बनाते हैं :

छलता नहीं इथाका तुमको यदि होता वह निर्धन
अनुभव से पूरित तुम हो जाते बुद्धिमान
और समझ लेते तब तक रहस्य इथाकाओं का।

'समझ लेते तब तक' जैसी शब्द-योजना कविता को इसके अन्तिम स्पष्टीकरण की ओर ले जाती है, लेकिन स्वयं कोई क्रिया न सम्पादित करने वाले वाचक को कविता से बाहर ही खड़ा रखती है। ऐसा लगता है मानो कवाफी की मूल काव्यात्मक क्रिया किसी अन्य को अपना अर्थ सौंपना चाहती हो और स्वयं कवि को इस पुरस्कार से वंचित रखना चाहती हो : यह एक ऐसा निर्वासन रूप है जो ग्रीक सभ्यता से रिक्त किसी भी ऐसी सिकन्दरिया में वाचक के आस्तित्विक अकेलेपन को लगातार रूपांकित करता है, जहाँ, कवाफी की सर्वोत्तम कविता 'असभ्यों की प्रतीक्षा' की तरह, किसी विपत्ति के घटने की प्रतीक्षा एक ऐसा अनुभव है जो इस बोध से छितरा दिया जाता है कि 'कोई असभ्य अब बचा ही नहीं है' और तभी आत्म-निन्दा से युक्त खेद स्पष्ट होता है 'वे सब लोग एक प्रकार के समाधान थे' जैसे शब्दों में। इस तरह पाठक को एक प्रकार का श्लेषी लेकिन यत्नपूर्वक विशिष्टीकृत वह काव्यात्मक स्थान मिल जाता है जिसमें वह जो वास्तव में घटित हो रहा है उसे थोड़ा ही सुन पाता है और आंशिक रूप से ही उसका अर्थ समझ पाता है।

कवाफी की महत्त्वपूर्ण काव्यात्मक उपलब्धियों में एक है विलम्बन, भौतिक संकट और निर्वासन को ऐसे रूपों, स्थितियों और शैलियों में रूपायित करना जो उनकी आविष्कारी कल्पना और सूत्रात्मक सौम्यता से भरपूर हैं लेकिन सदैव ऐसा नहीं होता कि सिकन्दरिया का इतिहास उनको ऐसे अवसरों से लाभान्वित करता रहे जैसे प्लूटार्क के एक कथांश पर आधारित उनकी कविता 'ईश्वर त्याग देता है एन्टनी का'। कविता रोम के महानायक एन्टनी को सम्बोधित है, ऐन्टनी को शौर्यमय जीवन समाप्त हो गया है, उसकी योजनाएँ निष्फल हो गई हैं और जब उसका नगर भी उससे विदा ले रहा है : 'कहो विदा उस नगर को जो त्याग रहा है तुम्हें।' कविता का वाचक एन्टनी को कामुकता में डूबे रहने से और इस प्रकार के सरल आत्म-छल से मुक्त होने का आदेश देता है। उसे यह भी निर्देश दिया जाता है कि अब वह सिकन्दरिया को एक सजीव, अनुशासित झाँकी के रूप में देखे और अनुभव करे जिसमें वह स्वयं कभी सम्मिलित होता था लेकिन जो अन्य नश्वर चीजों की भाँति अब उसके हाथ से धीरे-धीरे सरकती जा रही है :

तुम्हें मिला यह नगर, उचित तुम्हारे लिए यही है
जाओ गवाक्ष के निकट
सुनो मार्मिक उन भावों को
पर कापुरुषों की तरह न करना अश्रुपात
मत फैलाना हाथ, न बनना याचक करुणा का
और सुनो उन आवाजों को,
सुनो जुलूसों से उठती संगीत लहर को, भावप्रवाही रसधारा को
एक बार फिर, अन्तिम बार
और विदा लो अन्तिम बार नगर से
जो जाता है आज दूर तुमसे।

इन मार्मिक पंक्तियों के प्रभाव को गहनता देने वाली कवाफी की वह काव्यात्मक युक्ति है जिसके माध्यम से वे एन्टनी को एकदम शान्त बनाए रखते हैं ताकि वह उस अद्भुत संगीत को पूरा का पूरा ठीक से सुन सके जिससे वह विदा ले रहा है : पूर्ण निस्तब्धता और पूर्ण व्यवस्थित श्रुतिमधुर ध्वनि का यह संयोजन एक प्रकार की नितान्त गद्यात्मक, आरोह-अवरोह से पूर्णतः रिक्त भाषा में व्यक्त किया जाता है।

फार्स्टर बने कवाफी को 'ब्रह्मांड से जरा हटकर चुपचाप खड़े' आदमी की संज्ञा दी थी और यह संज्ञा कवाफी की विलम्बित शैली की अद्भुत, आह्लादकारी प्रभाव-क्षमता को सटीक ढंग से व्यक्त करती है। कवाफी की उक्त शैली में मिले हैं संकोचपूर्ण, छोटे-छोटे उद्घोषी सम्बोधन, जिन्हें, ऐसा लगता है, अँधेरे से अनुनयपूर्वक बाहर आने को कहा गया है। उनकी

एक श्रेष्ठ अन्तिम कविता है 'मायरिस : सिकन्दरिया, ई.पू. 340'। इसमें वाचक अपने पुराने पियक्कड़ मित्र मायरिस के अन्तिम संस्कार के समय उपस्थित एक व्यक्ति है। मायरिस ईसाई था जिसे मृत्योपरान्त लम्बे-चौड़े चर्च अनुष्ठान में पुनर्सृजित किया जा रहा है। वाचक को अचानक इस बात का भय सताने लगता है कि वह मायरिस के प्रति अपनी भावनाओं के द्वारा छला जा रहा है और वह उस 'भयानक घर' अर्थात् चर्च से भाग खड़ा होता है :

मैं तुरन्त उनके भयानक घर से बाहर भागा
बाहर भागा इससे पहले कि मायरिस की मेरी स्मृतियाँ
पकड़ ली जातीं, विकृत कर दी जातीं उनके ईसाई
धर्माचार द्वारा।

विलम्बित शैली की यह विशिष्टता होती है कि यह आसक्ति और अनासक्ति को उनकी विरोधात्मकता का समाधान किए बिना भी वाणी दे सकती है। विरोधी दिशाओं में एक दूसरे को खींचने वाले इन दोनों मनोभावों के बीच किसी को तनावों में बनाए रखने वाला तत्त्व होता है कलाकार की वह अनुभव-पक्व व्यक्तिनिष्ठता, जो शब्दाडम्बर और ऊबड़-खाबड़ के परे निकल गई है तथा जो न तो अपनी दुर्बलताओं से और न ही दीर्घायु और निर्वासन के परिणामस्वरूप अर्जित औसत कोटि के आत्मविश्वास से लज्जित होती है।

IV

मेरे विचार से डोनल्ड मिचेल ने उचित ही यह सवाल उठाया है कि क्या ब्रिटन की नृत्य-नाटिका डेथ इन वेनिस (वेनिस में मृत्यु) कालक्रमानुसार अन्तिम रचना मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस सन्दर्भ में विश्वसनीय साक्ष्य भी प्रस्तुत किया है कि ब्रिटन इसे अपनी अन्तिम रचना के रूप में नहीं प्रस्तुत करना चाहते थे। लेकिन मिचेल यह भी मानते हैं कि यह इच्छापत्रीय रचना अपनी विषयवस्तु के आधार पर विलम्बित चरण की मानी जा सकती है : ब्रिटन की लगातार अस्वस्थता, नृत्यनाटिका की अत्यधिक सघन और कठिन शैली, जिसे मिचेल ने काल्पनिक उपदेश कथाओं की विधा से सम्बद्ध बताया है और नायक, गुस्ताव आशेनबाख़ के ऊपर पड़ने वाली महाविपत्ति, यह सारा कुछ जर्मन (और प्रकारान्तर से योरोपीय) कलाकार के एकाकी चरित्र में मिल जाता है : कलाकार एकाकी होने के साथ ही एक ऐसा चिन्तनशील और समादृत लेखक है जो म्यूनिख छोड़कर किसी नए स्थान को भाग जाना चाहता है मुख्यतः इसलिए क्योंकि (टामस मान के शब्दों में) "उसकी कृतियों में कल्पना की वह अग्निगर्भी क्रीड़ा अब नहीं रही जो आनन्द-भाव से जन्मती है।" मान की इसी नाम की उपन्यासिका के भीतर नायक द्वारा वेनिस की लगभग सुप्त लेकिन अपरिहार्य यात्रा पाठक के मन में यह बोध जाग्रत करती है कि अनेक संकेतों और अतीत के जुड़ावों के कारण (1883 में स्वयं वागनर की मृत्यु) और अपनी अलग पहचान के कारण वेनिस एक ऐसा नगर है जहाँ किसी को एक विशिष्ट प्रकार के अन्तिमत्व का दर्शन होता है। कथा के क्रम में नायक जिन-जिन चीजों के सम्पर्क में आता है—विशेष रूप से राक्षसी प्रवृत्ति वाले लोगों का पूरा समूह जिसमें नाव पर उसके साथी यात्री के साथ ही हँसोड़ नाई भी शामिल है—ये सब दर्शक के रूप में हमारी इस अनुभूति को और तीक्ष्ण करती हैं कि जीवित रहते हुए वह कभी भी वेनिस नहीं छोड़ सकता।

मान की उपन्यासिका डेथ इन वेनिस 1911 में प्रकाशित हुई और इस प्रकार उनकी कृतियों में यह तुलनात्मक रूप से प्रारम्भिक रचना मानी जाती है और इससे इसके शुष्क और प्रायः उदास स्वर का विरोधाभास और अधिक स्पष्ट हो जाता है। नृत्यनाटिका की रचना के समय तक ब्रिटन अपने रचनात्मक जीवन की प्रौढ़वय में आ चुके थे : हमें मालूम है कि 1965 से ही ब्रिटन इसके बारे में सोच रहे थे जबकि नृत्यनाटिका के रूप में इसे पूरा और मंचित किया गया 1974 में। नृत्यनाटिका और उपन्यासिका दोनों में जो खास बात उभरकर आती है वह यह कि दोनों असाधारण रूप में जीवनीपरक व्याख्या की अपेक्षा करती हैं और उसे अस्वीकार भी करती हैं। दोनों के केन्द्र में संकट, चुनौतियाँ और जटिलताएँ हैं जो कला-जीवन के लिए अनोखी लगती हैं और जिन्हें मान और ब्रिटन दोनों ने अपने जीवन में अनुभव किया था। हम यह भी जानते हैं कि समलैंगिकता दोनों को अपनी सृजनात्मकताओं के अन्वेषण के लिए प्रेरित करती है और नृत्यनाटिका और उपन्यासिका दोनों इसे छिपाने की कोशिश नहीं करतीं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि दोनों कृतियाँ इस अर्थ में कलात्मक उपलब्धि की विजय प्रदर्शित करती हैं कि अन्तिम दैहिक क्षरण और रोग और अवैध यौनिकता को उसके ऊपर तरजीह नहीं देतीं। दोनों कृतियों में समुद्रतट पर मृत वृद्ध एक सावधानीपूर्वक दूरस्थ की गई वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है—जो कारुणिक और दुखद दोनों है—जहाँ से उपन्यासकार और नृत्य नाटककार दोनों जा चुके होते हैं; ऐसा लगता है मानो वे कह रहे हों कि यह (मृत वृद्ध) *मैं* नहीं हूँ बावजूद इसके कि स्थितियों में उनके समान्तरताएँ और संकेत मौजूद हैं।

एक आलोचक, डेरिट कॉन, के अनुसार—मान इस प्रक्रिया

के आख्यानात्मक प्रसंगों को दो हिस्सों में बाँटकर व्यक्त करते हैं जिससे वाचक आशेनबाख़ के संवेदनों, चिन्तनों और अनुभूतियों से घनिष्ठता बनाए रखता है जबकि विचारधारात्मक स्तर पर अपने को उससे दूर भी बनाए रखता है। कॉन आगे बढ़कर मान के वाचक को स्वयं मान से भी अलग रखती हैं : कृति के पीछे से लेखक एक ऐसा सन्देश प्रेषित कर रहा है जो उस वाचक की पकड़ में नहीं आता जिसे उन्होंने कृति के केन्द्र में स्थापित किया होता है। आशेनबाख़ के अनुभवों के सपाट नैतिक समाधान को अपनी विडम्बनात्मक विधि से खंडित करते रहने वाले मान के विपरीत, उपन्यास का वाचक लगातार नैतिक निर्णय की वाग्मिता का इस्तेमाल करता है जिसे कुछ आलोचक मान की असफलता से जोड़ते हैं : 'पूजागान' के रूप में कथा की अवधारणा कर लेने के बाद मान अब इसे 'नैतिक रूप' से सुलझाना चाहते हैं, और परिणाम यह होता है कि एक खराब अर्थ में कहानी श्लेषयुक्त बन जाती है, अपने ही अर्थ के प्रति सन्देह युक्त, बिखरी हुई।

कॉन की तरह मैं भी उपन्यासिका द्वारा प्रस्तुत नैतिक समाधान को वाचक की अपनी आवश्यकता के एक उत्तर के रूप में देखना चाहता हूँ, न कि मान की जो बड़ी सावधानी से विडम्बना के माध्यम से वाचक से अपनी दूरी बनाए रखते हैं। इसीलिए कॉन पाठक से मान की एक अन्य कृति से आगे की बात सोचने की अपेक्षा रखती है और वह कृति है डॉक्टर फास्टस जहाँ मान पुनः कलाकार की स्थिति की गवेषणा करते हैं। न तो डॉक्टर फास्टस का नायक सेरेनस त्साइत्ब्लोम और न ही डेथ इन वेनिस का वाचक क्रमशः आड्रियन लेफरक्यून और आशेनबाख़ को सृजित करने में सक्षम है। मान अपनी 'द्विमुखी विडम्बना'—अपने और वाचक के बीच, वाचक और मुख्य चरित्र के बीच—एक ऐसी साहित्यिक, आख्यान-सम्मत युक्ति से उपलब्ध करते हैं जो नृत्यनाटिका के संगीतकार-रचनाकार को सहसा उपलब्ध नहीं होती। और मेरे विचार से एक सीधी-सादी, प्राथमिक समझ को ब्रिटेन की पूरी परियोजना का आधार-बिन्दु माना जाना चाहिए, एक ऐसी विवशता जो माध्यम-परिवर्तन (उपन्यास से नृत्यनाटिका) में अनुस्यूत होती है। ब्रिटन के संगीत-वृन्द की एक सहकारी, माइफनवे पाइपर ने स्वीकार किया है कि कैसे उन्होंने मान के उपन्यास के आधार पर नृत्यनाटिका रची : उपन्यासिका की 'गहन और व्यग्रकारी', अनवरत रूप से आह्वानपरक; श्लेषी और सन्दर्भी भाषा का नृत्यनाटिका में मंच के अनुरूप 'अत्यन्त अलंकृत काव्यात्मक गद्य' में अनुवाद। उन्होंने यह भी लिखा है कि जैसा काम वे कर रही थीं उसमें काट-छाँट, पदान्वयन और संक्षेपीकरण अनिवार्य था। और अन्ततः जो सामने आया वह था कथा और संगीत के रूप में मंचित किया जाने वाला, सावधानीपूर्वक प्रस्तुत किया गया एक ऐसा पाठ जिसका मूल उपन्यासिका के साथ निकट और दूरस्थ दोनों प्रकार का रिश्ता था।

अत्यधिक कौशल के साथ प्रस्तुत नृत्यनाटिका की कथा मान के वाचक तथा उसकी व्यंग्यपूर्ण, उपदेशपरक और स्पष्ट विडम्बनात्मक आवाज को एक साथ जोड़ देती है जो आशेनबाख़ की क्रियाओं अथवा विचारों का आख्यान भी करती है और साथ ही इसकी ओर हमारा ध्यान भी खींचती है। उदाहरण के लिए, जब आशेनबाख़ शहर में घूम रहा होता है (उसने अभी 'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ' कहा भर है) उस समय वाचक उसे 'हमारा साहसी घुमक्कड़' के रूप में सन्दर्भित करता है और फिर उसके उखड़े-उखड़े व्यवहार का वर्णन करता है और यह सारा कुछ करते समय अप्रसन्नता व्यक्त करता हुआ उससे काफी दूर जाता रहता है, यह विशेष युक्ति नृत्यनाटिका में नहीं मिलती। सच बात तो यह है कि इस नृत्यनाटिका के प्रारम्भिक प्रारूपों में इस प्रसंग को जान-बूझकर छोड़ दिया गया था : मूल योजना थी कि मुख्य पात्र को डायरी से पढ़ता हुआ दिखाया जाए (एक ऐसे वाचक का आभास देते हुए जो कथानक के बाहर खड़ा है) लेकिन बाद में इसे बदलकर पियानो के साथ गाए जाने वाले गीत का रूप दे दिया गया। आख्यान-आयाम इस तरह संगीत में पिरो लिया गया।

मान की उपन्यासिका और ब्रिटन की नृत्यनाटिका में एक और अन्तर नृत्यनाटिका के प्रारम्भिक क्षणों में व्यक्त होता है। आशेनबाख़ शवगृह के पोर्टिको में एक विचित्र आदमी को देखता है जो उससे कहता तो कुछ भी नहीं लेकिन उसे देखकर मुख्य चरित्र के मन में दक्षिण-यात्रा का भाव जगता है। वाचक फिर मुख्य चरित्र के विचारों का ब्यौरा देने के क्रम में उसके मन में उठने वाली इस बात का भी ज़िक्र करता है कि उसे सावधानीपूर्वक कुछ सीमाओं का भी ध्यान रखना है : "वह यात्रा पर निकलेगा। बहुत दूर तो नहीं, और कम से कम शेरों के रास्ते तो नहीं ही।" 'शेरों की आँखों' की चमक का सन्दर्भ इसलिए है कि विचित्र व्यक्ति के द्वारा उसके मन में यही भाव जगाया गया है। नृत्यनाटिका में शेर की ओर न जाने की मुख्य चरित्र की आन्तरिक सावधानी को और आख्यान के बाहरी चौखटे को छोड़ दिया जाता है। विचित्र व्यक्ति 'दुबके हुए शेर की आँखों की अचानक हिंसक चमक' की बात प्रत्यक्षतः कहता है आशेनबाख़ को दक्षिण-यात्रा से सावधान करने के लिए। थोड़ी ही देर बाद आशेनबाख़ 'धूप और दक्षिण' की ओर जहाँ उसका 'व्यवस्थित चित्त अन्ततः तरोताजा हो जाएगा'

जाने के अपने विचार का गायन करता है। इसके पहले कुछ प्रश्नवाचक, सन्देह व्यक्त करने वाली पंक्तियाँ आती हैं कि क्या उसे अपनी व्यवस्थित जिन्दगी को तोड़ना चाहिए और शीघ्र ही सचमुच वह व्यवस्थित जिन्दगी जीना बन्द कर देता है।

नृत्यनाटिका यहाँ पहुँचकर तात्कालिक और स्पष्ट लगने लगती है जबकि उपन्यासिका इस बिन्दु पर थोड़ा चुप ही नहीं अपितु विडम्बनात्मक रूप से बिखर भी जाती है क्योंकि ठीक इसी ढंग से वह वेनिस में शेरों की दुनिया में पहुँच जाएगा; एक प्राच्यवादी विश्व में शेरों का यह संसार एक महामारी के रूप में होगा। 'शेरों के रास्ते नहीं जाना है' आख्यान का एक ऐसा वाक्यांश है जो आशेनबाख़ के आन्तरिक एकालाप का हिस्सा हो सकता है अथवा कोई ऐसी चीज जो विडम्बनात्मक रूप से देखने वाले वाचक के द्वारा आख्यान में डाल दिया जाता है। 'सामान्य' रूप से पढ़ते समय हम इस पर ध्यान नहीं दे पाते। एकाकी और सचेत रूप से आवश्यक पुनर्पाठन में रुकना और ध्यान देना सम्भव हो जाता है; हम पाठ की ओर पीछे मुड़ते हैं, हम चीजों को एक-दूसरे से अलग करते हैं, हम बढ़ते और पीछे हटते हैं और कभी-कभी हमें श्लेषात्मकता और अस्थिरता के उदाहरणों का जब पता चलता है तब ये शब्द विमर्श के एक या दूसरे स्तर से जुड़े होते हैं। गद्य लेखन की क्रमिक कालिकता इस प्रकार की पश्चगामी क्रमिकता को सम्भव बनाती है। डेथ इन वेनिस वास्तव में एक ऐसा पाठ है जिसका घनत्व, सन्दर्भों का विस्तार और कलात्मक विन्यास अत्यधिक सचेत अर्थोपलब्धि के लिए बाध्य करता है जो मंच पर सांगीतिक अभिनय के दौरान पाठ के वाचन से बहुत अलग किस्म का अनुभव होता है।

दूसरी ओर, सभी सांगीतिक रूपों की तुलना में नृत्यनाटिका प्रेक्षक द्वारा व्यवस्थित किए जाने वाली बाह्य सूचनाओं का विशालतम पुंज प्रस्तुत करती है। शब्द, ताल, वस्त्र-विन्यास, चरित्र, अंगसंचालन, वाद्यवृन्द, नृत्य और पृष्ठभूमि—ये सारे उपादान मंच से प्रेक्षकों की ओर खिसकते रहते हैं और प्रेक्षकों के लिए जो कुछ भी हो रहा है उसकी ओर ध्यान केन्द्रित किए रखना सरल नहीं होता। ब्रिटन की नृत्यनाटिका मान की उपन्यासिका के पर्याप्त अंश लिये हुए हैं और इसलिए हम जो सुनते और देखते हैं वह स्मृति और वास्तविकता का एक जटिल मिश्रण होता है और इस सारे कुछ के ऊपर आशेनबाख़ की उपस्थिति छाई रहती है, जिसके पहले शब्द 'मेरा मस्तिष्क झनझना रहा है', उसकी कथा के रहस्यमय ढंग से आगे बढ़ने को स्पष्ट कर देते हैं। मान की उपन्यासिका में सारा कथानक अन्तरस्थ है जबकि नृत्यनाटिका में अनिवार्यतः इसका बाह्यकरण होता है : आशेनबाख़ का विचार-प्रवाह नृत्यनाटिका में सुनाई पड़ता है जिसे सुना और देखा दोनों जाता है, जबकि उपन्यासिका में नायक को 'पढ़ा' जाता है, और आशेनबाख़ के मन में उठ रहे विचारों और वाचक के अपने विचारों के एक-दूसरे के ओर आने-जाने के क्रम को पटकथा में रच-बुन दिया गया है।

लेकिन इन सारे अन्तरों के बावजूद दोनों कृतियाँ अन्ततः एकाकीपन की गहन अनुभूति सम्प्रेषित करती हैं और साथ ही, चूँकि ताज़ुदियों के लिए अपने प्यार को आशेनबाख़ मौन ही रखता है, इसलिए वेदना भी सम्प्रेषित होती है। टाडत्सियो को दैहिक अर्थ में यथार्थतः पाने में आशेनबाख़ की असफलता रंगमंच पर दिखाई जाने वाली टाडत्सियो और उसके मित्र-प्रतिद्वन्द्वी याशिऊ के बीच घनिष्ठता से तुलनीय है। और अन्तिम दृश्य में जब टाडत्सियो समुद्र की ओर जाता हुआ दिखाई पड़ता है, तो असाध्य रूप से बीमार आशेनबाख़, सजा-बजा अपनी एकाकी कुर्सी में चुपचाप बैठा उसे देखता हुआ अपनी अन्तिम साँस लेता है। प्रेम और प्रेमी के बीच का यह अक्षरशः अन्तराल उपन्यासिका की ही तरह नृत्यनाटिका में भी लगातार बरकरार रखा जाता है मानो लेखक और संगीतकार हमें यह ध्यान दिलाना चाहते हों कि यद्यपि आशेनबाख़ दक्षिण की यात्रा करता है तो भी वह शेरों की दुनिया तक नहीं पहुँच पाता अर्थात् उस आदिम, उद्दाम क्षेत्र में नहीं पहुँच पाता जहाँ इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं और हवाई कल्पनाएँ यथार्थ बन जाती हैं। उपन्यासिका लेखक मान और उपन्यासिका के नायक आशेनबाख़ दोनों के लिए वेनिस ही वह स्थान है जहाँ वे अन्ततः पहुँचते हैं, एक दक्षिणी शहर लेकिन पूरी तरह प्राच्य नहीं, योरोपीय लेकिन किसी भी तरह विजातीय नहीं। फिर यह प्रश्न मान के लिए और उसी तरह उनका निकट अनुसरण करने वाले ब्रिटन के लिए शेष रहता है : ऐसा क्यों नहीं होता कि आशेनबाख़ को पूरी यात्रा करने दिया जाता, और फिर वेनिस को ही क्यों गन्तव्य के रूप में चुना गया?

वागनर की मृत्यु से जुड़े होने के अतिरिक्त वेनिस ऐसे सघन सांस्कृतिक इतिहास से भी जुड़ा है जिसे टॉनी टैनर ने अपनी पुस्तक वेनिस डिज़ायर्ड (वेनिस की ललक) का विषय बनाया है। अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में कहीं अधिक विश्वसनीय ढंग से टैनर ने यह दिखाया है कि मान के प्रिय नगर वेनिस के साथ उन्नीसवीं सदी की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत भी जुड़ी हुई है : बायरन, रस्किन, हेनरी जेम्स, मेलविल और प्रूस्त को वेनिस में ऐसा कुछ विशेष दिखाई पड़ा था जो अपने लिए 'प्रशंसा, पुनर्प्राप्ति और चकित दिवास्वप्नों' का बोध पैदा

करता था और उपर्युक्त कल्पनाजीवी व्यक्तियों में अधिकांश ने इस नगर के सौन्दर्य और पतन को अपनी रचनाओं में बड़ी प्रभविष्णुता से उभारा है। टैनर के लिखते हैं :

"(विशेषकर अपने क्षरण और पतन में) खँडहरों और टुकड़ों में बदलते हुए लेकिन गुप्त ऐन्द्रिय मांसलता से ऊभ-चूभ-इस तरह मृत्यु बोध और कामना के मादक मिश्रण में सराबोर अथवा उसका संकेत करते हुए-वेनिस अनेक लेखकों के लिए वह हो जाता है जो वह कभी था; बायरन के लिए पूर्वानुमान में 'मेरी कल्पना का सर्वाधिक हरित द्वीप' बन जाता है। दो वर्ष पश्चात् जब बायरन ने वेनिस से विदा ली तब यह 'समुद्र सोडोम' बन चुका था। किसी अन्य नगर की तुलना में अपने लेखक-प्रशंसकों पर वेनिस का जादू अपने ढंग से ही चलता था।

एक नगर के रूप में वेनिस के यथार्थ में दो आत्यन्तिक तत्त्व मिले हुए हैं : "गौरवशाली, अद्वितीय और प्रकाशोज्ज्वल सृजनशीलता के साथ ही घृणास्पद, चतुर्मुखी भ्रष्टाचार और गहन पतनशीलता। एक अर्द्ध-प्लेटॉनिक सम्प्रभु गणराज्य के रूप में वेनिस तथा कारागारों वाले अपराधग्रस्त सुरक्षा व्यवस्था, आन्तरिक कलह और अन्याय से ग्रस्त वेनिस।"

टैनर की पुस्तक में पहली बार वेनिस के इन सारे रूपों को प्रस्तुत किया गया है और इसका विशिष्ट पक्ष यह है कि कैसे टैनर यह सिद्ध करते हैं कि अपने लेखकों की विशाल विविधता के बावजूद वेनिस के मूल स्वरूप की निरन्तरता भंग नहीं होने पाती। रस्किन का उल्लेख करते हुए टैनर लिखते हैं कि किस प्रकार वेनिस में 'भव्यता और भयावह अस्वच्छता के बीच कोई अन्तराल होता ही नहीं' अर्थात् भव्यता और अस्वच्छता एक ही स्थान पर एक ही समय मिल जाएँगी। रस्किन की पुस्तक द स्टोन्स ऑफ वेनिस (वेनिस के पाषाण) से वे एक उद्धरण देकर इस ओर संकेत करते हैं :

"अपने शैशव में वेनिस ने अपने आँसुओं से वह फसल बोयी थी जो उसे अपनी जवानी में काटनी थी। अब उसने हँसते हुए मृत्यु के बीज बोए थे। उसके बाद वर्ष-प्रतिवर्ष यह नगर निषिद्ध सुखों के निर्झर से अपनी गहरी प्यास बुझाता रहा और पृथ्वी के तिमिराच्छादित स्थानों पर उस समय तक अज्ञात झरने खोदता रहा। विलासिता के कौशल में, झूठे घमंड में वेनिस सम्पूर्ण ईसाई साम्राज्य के नगरों से श्रेष्ठ हो गया जैसे अतीत में वह शक्ति और समर्पण में उनसे आगे था; जैसे कभी योरोप की सत्ताएँ वेनिस के न्याय-आसन के आगे खड़ी रहती थीं ताकि उन्हें न्याय मिल सके और इसलिए योरोप के युवा विलास-भवन (वेनिस) में आनन्द-कला सीखने के लिए एकत्र होते थे। उसके अन्तिम विनाश के चरणों को चिह्नित करना अनावश्यक की ही तरह पीड़ादायक भी है। प्राचीन अभिशाप, 'घमंड, भोजन की प्रचुरता और आलस्य का आधिक्य' जो मैदानी क्षेत्र के नगरों का अभिशाप था, उसके ऊपर था कि अपनी वासनाओं की आग में जलकर यह राष्ट्रों के बीच अपने उच्च स्थान से पतित हो गया और उसकी राख मृत लवण समुद्र को सुखा रही है।"

वेनिस में स्वर्ग और नरक के बीच यह त्वरित संतरण, टैनर के शब्दों में, रस्किन की कल्पना के केन्द्र में है। डेथ इन वेनिस में यह किस तरह ध्वनित होता है? यह स्पष्ट है कि मान और ब्रिटन दोनों ने वेनिस के इस स्वरूप को अपनी अलग-अलग कृतियों में बखूबी उभारा है।

वेनिस की छवि का दूसरा गुण व्यक्त होता है इसके बारे में किसी बाहरी व्यक्ति के अंकन में और यह अंकन 'पहले से ही एक ऐसी छवि पर आधारित होता है जो लिखित आलेखों में प्रकट हुई है, ऐसे नगर के रूप में वेनिस जिसे पहले ही लिख, देख और पढ़ लिया गया है। इसे हम प्रूस्त के विवरण में देख सकते हैं क्योंकि प्रूस्त ने रस्किन को पढ़ा है और अपने पहले से ही पढ़े हुए को वे अपनी विशिष्ट लाक्षणिक शैली में लिख रहे होते हैं :

"निष्पक्षता ही सब कुछ है। प्रूस्त के उपन्यास में वेनिस (शब्द-ध्वनि) उस अनुपस्थिति की सुखानुभूति है, ऐसी सुखानुभूति जो स्थगित सुखानुभूति से अथवा उस स्थगन से अलग नहीं की जा सकती जो यथार्थ सुखानुभूति होती है। वर्तमान वेनिस वह वेनिस है जो खो चुका है। लेकिन शायद वह खोना किसी अन्य प्राप्ति का पूर्वरंग है-एक दूसरे रूप में। वेनिस का सुख एक स्पष्ट मामला है।"

मान का सम्बन्ध इसी विरचना से है जो आशेनबाख़ से वेनिस को ऐसे स्थान के रूप में प्रयोग करने को कहते हैं जो बहुत दूर है और जहाँ उसे लौटना है और इसमें सांस्कृतिक स्मृति के उस विशाल भंडार को खोजना है जिसे उसके पूर्ववर्तियों ने संयोजित किया है; इसी से जुड़ी हुई मान की अपनी कृति एक प्रकार की पुनर्प्राप्ति है, समय और दूरी में खोए हुए वेनिस का पुनराविष्कार, 'एक अलग विधि' से खोज। ब्रिटन की नृत्यनाटिका मान की उपन्यासिका की तुलना में कहीं अधिक सुस्पष्ट इस अर्थ में है कि यह प्रत्यक्षतः एक पूर्व-लिखित रचना पर आधारित है जिसका प्रयोग ब्रिटन उस नगर के वैभव की खोज करने के लिए और साथ ही अपनी यौनिक प्रवृत्तियों से तालमेल बिठाने वाले कलाकार के रूप में करते हैं।

एक बड़े ही रहस्यमय ढंग से ब्रिटन के लिए वेनिस की यात्रा एक अन्य पाठ के भीतर से बाहर की ओर होती है जो

कि वेनिस की उस कलात्मक छवि के अनुरूप ही है जिसका विस्तृत विश्लेषण टैनर ने अपनी पुस्तक में किया है। और साथ ही अपने गौरवशाली और पतनयुक्त इतिहास के चलते वेनिस किसी नृत्यनाटिका के लिए एक प्रकार की विलंबित पृष्ठभूमि बन जाएगा जिसके लिए कोई सुस्थिर, अति-प्रयुक्त और परिचित शैली अपने आपमें किसी स्थान, विषयवस्तु अथवा शैली अपनाने की किसी ऐसे कलाकार की कलागत/व्यक्तिगत स्थिति का रूपक बन जाती है जो वहाँ तक वैसे नहीं पहुँच पाता जैसे प्रॉसपेरो (शेक्सपियर के अन्तिम नाटक के रूप में स्वीकृत द टेम्पेस्ट का नायक) अपने द्वीप पर पहुँचता है। अपितु यह पहुँचना है एक प्राचीन, अति-अन्वेषित, अति-सांसारिक स्थान पर जिसकी दुबारा यात्रा इस रूप में की जाती है मानो यह अन्तिम है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि रूपक-कथा अथवा उपदेश-कथा की समस्या यह होती है कि जिसकी वे रूपक-कथा होते हैं, उसे हमेशा पश्चदृष्टि से देखा जाता है अथवा रूपक-कथा एक प्रकार की स्मृति कथा होती है जो अनुभवगत कथा का एक अलग रूप, एक संकेतात्मक प्रस्तुति होती है।

यह उल्लेख किया जा चुका है कि मान अपनी उपन्यासिका में विडम्बनात्मक आख्यान-विधि का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि उन्हें मुख्य चरित्र को उस वाचक से दूर रखना है जो टाडत्सियो के प्रति आशेनबाख़ के दैहिक आकर्षण की कहानी कह रहा है। और मान वाचक के चरित्र का इस्तेमाल स्वयं अपने को आशेनबाख़ से दूर रखने के लिए भी करते हैं। लेकिन ब्रिटन अपनी नृत्यनाटिका में मान की उपन्यासिका का इस्तेमाल इन सब चीजों को ध्यान में रखे बिना करते हैं। इस तरह नृत्यनाटिका अपनी 'मूल' जर्मन कृति की रूपक-कथा है लेकिन रूपक-कथा के रूप में यह उस वास्तविक वर्तमान का भी इस्तेमाल करती है जो हमारे समक्ष प्रस्तुत वेनिस में आकार ग्रहण करता है।

मान की साहित्यिक रचना डेथ इन वेनिस के विपरीत नृत्यनाटिका एक सहयोगाधारित कृति है लेकिन तो भी इसमें ब्रिटन की भूमिका प्रधान है। फिर भी वेनिस नृत्यनाटिका के कलात्मक अस्तित्व का आधार तत्त्व बना रहता है। लेकिन इसकी भूमिका इसके साहित्यिक रूपों से यहाँ अलग किस्म की है। नृत्यनाटिका के प्रारम्भ का वाद्यवृन्द नगर प्रवेश के समय को लक्षित करने वाले संगीत के समान है...और फिर आशेनबाख़ के साथ हम जहाँ भी होते हैं वेनिस भी वहीं होता है। इस तरह वेनिस के प्रति ब्रिटन के दृष्टिकोण को संगीत केवल स्पष्ट ही नहीं करता अपितु भौगोलिक दूरी पर विजय भी प्राप्त करता है और एक सांगीतिक-मंचीय पर्यावरण के रूप में भी वेनिस को प्रस्तुत करता है जिसमें से विडम्बनात्मक वाचक और आत्म-चेती संदेहवाद को हटा दिया गया है।

मान की आख्यान-कला सचेत रूप से जिससे बचना चाहती है उसके विपरीत नृत्यनाटिका के माध्यम से ब्रिटन पहचानों को सीधे और तत्काल सम्प्रेषित कर देते हैं। यह स्पष्ट होता है उनके इस निर्देश से कि एक ही बैरीटोन की सात अलग-अलग किन्तु (उपन्यासिका में आन्तरिक स्तर पर एक दूसरे से सम्बद्ध) एकसूत्र में बँधी हुई भूमिकाएँ होंगी। बीच-बीच में लेकिन स्पष्ट रूप से ब्रिटन हमें याद दिलाते रहते हैं कि पूरी कथा वेनिस में घटित होती है और इसमें लेकिन एक ही समय उपस्थित कई पहचानें मौजूद हैं : होटल में अनेक प्रकार के अतिथि, होटल के कर्मचारी, आशेनबाख़ के सम्पर्क में आने वाले वेनिस के अनेक नागरिक इत्यादि। लेकिन इसके साथ ही वेनिस अपोलो और डायोनिसस के बीच होने वाली दैवी क्रीड़ा-प्रतियोगिता के स्थान के रूप में भी हमारे सामने प्रकट किया जाता है। लेकिन जब डायोनिसस अपनी ही आवाज में गाता है तब वह एक बाहरी व्यक्ति (एक अपरिचित देवता) के रूप में ही ऐसा करता है हालाँकि स्वप्न में उसका दिखाई देना उस समय घटित होता है जब आशेनबाख़ वेनिस की तलछट में रहने वाले लोगों के साथ होकर यह घोषणा करता है : " 'नगर का गुप्त, व्याकुल, अनर्थकारी, विध्वंस' मेरी आशा है।"

इस समय तक अर्थात् एक दृश्य पहले तक नगर पहले ही एशियाई प्लेग की चपेट में आ गया होता है जिसका वर्णन उस यात्रा-प्रबन्धन दफ्तर में अंग्रेज पादरी करता है जहाँ आशेनबाख़ सूचना प्राप्त करने के लिए आता है। नृत्यनाटिका में आशेनबाख़ जो भी अनुभव करता है वास्तव में वह पहचानों का एक विशाल पुंज होता है (ठीक वैसे ही जैसे एक ही बैरीटोन अलग-अलग ध्वनियों का पुंज संजोएँ रहता है) जो सभी की सभी वेनिस से जुड़ी हैं, ईसाइयत का वैभवशाली नगर और मैदान का भी नगर, योरोपीय वेनिस के साथ ही एशियाई वेनिस, कला की नगरी वेनिस और कचरा-घर के रूप में वेनिस और वेनिस के ये सारे रूप, सारी पहचानें ब्रिटन के बहुस्वरी, बहुतालयुक्त संगीत-संयोजन के माध्यम से मुखरित हो जाती हैं। ऐसा लगता है मानो नृत्यनाटिका में ब्रिटन का उद्देश्य उन बाधाओं के साथ ही उत्पीड़नों की पूरी एक शृंखला प्रस्तुत करना रहा हो जिनसे होकर उन्हें वेनिस में प्रवेश करना है, वेनिस जो स्वर्ग होने के साथ ही नरक भी है जिससे ब्रिटन पीछे नहीं हटते।

इस तरह मेरा अनुमान है कि ब्रिटन की नृत्यनाटिका एक

लम्बे कलामार्ग की ओर लौटने और स्मृतियों के माध्यम से उसे जानने के बोध को सम्प्रेषित करने वाली विलंबित शैली में लिखी एक रूपक कथा तो है ही लेकिन इस नृत्यनाटिका के कथानक की घटना-भूमि के रूप में वेनिस एक ऐसा नगर भी है जहाँ—कम-से-कम मुख्य चरित्र के लिए—असंयोज्य और विरोधी चरित्र एक-दूसरे में प्रवेश करा दिए जाते हैं जो पूर्ण विक्षिप्तता का संकेत देता है। टैनर ने उचित ही संकेत किया है कि मान का मुख्य चरित्र जो संगीत नृत्यनाटिका में सुनता है वह उसके लिए एक प्रतिभाषा है, एक ऐसा मुहावरा जो पूरी तरह व्यग्रपूर्ण, अरुचिकर और चेतना तथा सचेत कलात्मक सम्प्रेषण पर एक प्रकार का पाशविक प्रहार है।

नृत्यनाटिका में भाषा और संगीत तथा पाठ और पाठेतर की एक-दूसरे से तुलना ब्रिटन के लिए सम्भव नहीं थी और इसीलिए वे नृत्यनाटिका के लिए ऐसा संगीत तैयार करते हैं जो उनकी पहले की प्रस्तुतियों के साथ ही गैर-योरोपीय स्रोतों का भी इस्तेमाल करता है। स्पष्ट ही इस सगीत में विवादी तत्त्वों का जो मिश्रण है उसका महत्त्व ब्रिटन के लिए यह है कि यह उन्हें निकट से कलात्मक उपक्रम की सीमाओं की तलाश करने की छूट देता है और उन विरोधों को बरकरार रखने और उन्हें लम्बा खींचने की भी छूट देता है जिसका बुनियादी अन्तर विजातीय डायोनिसस और प्रदीप्त बोध के देवता अपोलो के बीच संघर्ष की याद दिलाता है। इस तरह नृत्यनाटिका सारे अर्थों की समाप्ति की ओर तो नहीं जाती लेकिन तो भी यह द्वन्द्वों का शमन नहीं करती और इस तरह मेरे विचार से ब्रिटन कोई उद्धारक सन्देश अथवा समाधान नहीं प्रस्तुत करते। जब आशेनबाख़ अपनी नश्वरता और अपनी कलात्मक क्षमता की सीमाएँ देखने के लिए विवश कर दिया जाता है, तब ब्रिटन अपने नायक की नियति किसी ऐसे व्यक्ति की नियति के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो अपने प्रेमी से न तो दूर रह पाता है और न ही उससे मिलकर अपनी इच्छा पूरी कर पाता है और मेरे हिसाब से यही ब्रिटन की *विलंबित कृति* का सारतत्त्व है जो सम्भवतः उस दूरी में बड़ी मार्मिकता से रूपायित हुआ है जो अपनी कुर्सी पर बैठे हुए आशेनबाख़ और लगातार दूर जाते हुए पोलिश युवक टाडत्सियो के बीच पसरी हुई है। अडोर्नो इस तरह के निकटस्थ और दूरस्थ चित्रों को 'आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ' दोनों मानते हैं : "जो वस्तुनिष्ठ है वह चिटका हुआ भूदृश्य है और आत्मनिष्ठ वह प्रकाश जिसमें यह जीवन में प्रदीप्त होता है। वह (कलाकार) दोनों के बीच समस्वरी संश्लेष नहीं पैदा करता। छितराव की शक्ति के रूप में वह उन्हें समय रहते एक-दूसरे से अलग कर देता है शायद अनन्तकाल तक उन्हें संरक्षित रखने के लिए। कला के इतिहास में विलंबित कृतियाँ महाविपत्तियाँ होती हैं।"

ऑन लेट स्टाइल (2006)

मानवता की प्रतिध्वनि

पीटर ब्रुक* का महाभारत और उसके असमंजस

प्रभाकर श्रोत्रिय

A work which only India could have created. but which carries echoes for all Mankind.

–Peter Brook

(यह ऐसी कृति है जिसका सृजन केवल भारत द्वारा ही किया गया जा सकता था, परन्तु इसमें समस्त मानवता की गूँज अन्तर्निहित है।)

इसी विराट दृष्टि से पीटर ब्रुक ने महाभारत नाटक/फिल्म की प्रस्तुति की।[1] वे महाभारत को महान् काव्यात्मक इतिहास कहते हैं। महर्षि व्यास ने भी इसे इतिहास कहा था। परन्तु पीटर इस निष्कर्ष पर अपनी अन्वीक्षा और अन्वेषण से पहुँचे हैं और उन्होंने इसे अनेक अध्येताओं द्वारा'भाई-भाई का युद्ध', 'अनैतिहासिक', 'मिथकीय' कहकर छोटा करने के प्रयासों का प्रतिवाद किया है।

फिर भी महाभारत मात्र इतिहास नहीं है, वह अप्रतिम महाकाव्य है। इसलिए कल्पना, मिथक और सौन्दर्य के अन्य उपादानों का इसमें सम्मिलित होना स्वाभाविक है। प्राचीन भारतीय साहित्य में अतिमानवीय और दैवीय तत्त्व जुड़े होते थे, जो तब सहज विश्वास का विषय थे। फिर 'जय' काव्य से 'महाभारत' तक की यात्रा कोई 700 वर्षों की है। इस बीच 'वैशम्पायन' और 'सौति' द्वारा उसका पुनर्वचन तो हुआ ही है, अनेक कथावाचकों, पांडुलिपिकारों आदि के हाथ भी इसमें लगे हैं। इसलिए भी इसमें अनेक मिथकीय तत्त्वों, कथाओं आदि का समावेश हुआ है और कई कालखंडों के आस्था-विश्वासों ने जगह पाई है।

पीटर मानते हैं कि महाभारत एक ब्रह्मांडीय (कास्मिक) रचना है। इसलिए वे इसके विराट् केन्वास को वैश्विक रंगों से बुनते हैं। वे विश्व के कोने-कोने से अभिनेता चुनते हैं। इसमें भारत की भी एक अभिनेत्री मल्लिका साराभाई है। शेष पात्र यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, फ्रांस, जर्मनी आदि अनेक देशों के हैं। ये विभिन्न रंगों, रूपों, जातियों, धर्मों, संस्कृतियों से आते हैं। निर्देशक की यह विशेषता है कि वह सारे पात्रों को एक ऐसी लयात्मक भूमिका में उतारता है जहाँ वे अपने वैविध्य से विश्व भी रचते हैं और महाकाव्य में अपनी-अपनी भूमिका के साथ समरस भी होते हैं।

पीटर ने भारत के सांस्कृतिक स्वभाव को समझने के लिए जीन क्लॉड के साथ कलकत्ता, मुम्बई, दिल्ली, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल आदि की व्यापक यात्रा की थी। उन्होंने विभिन्न भागों की नागरिक और लोक-कथाएँ, वेशभूषा, नाट्य प्रयोग, रहन-सहन, अस्त्र-शस्त्र आदि का अपने नाटक में कलात्मक समावेश कर भारत की सम्मिश्र संस्कृति और सर्वसमावेशी अन्तश्चेतना को अभिव्यक्ति दी है। परिणामस्वरूप यह नाटक भारत की समग्रता का दर्पण बन गया है।

* ए-601, जनसत्ता आवास, सेक्टर 9, वसुन्धरा, गाज़ियाबाद-201012

यह ठीक है कि हमारी अभ्यस्त रुचियों को आरम्भ में तो यह कुतूहलपूर्ण लगता है, परन्तु कुछ देर में ही वह हमारे अपने नाट्यास्वाद में बदल जाता है। इसमें निर्देशक के कौशल, अभिनय की परिपक्वता और सृजनशीलता का ऐसा समागम है जो निश्चय ही उस अनुभूति का पर्याय है, जो किसी देश की संस्कृति और काव्य की सम्पृक्ति में घटित होती है।

पीटर कहते हैं कि 'महाभारत को मुट्ठी में बन्द करना असम्भव है।' यह ठीक है। उसमें पाठ, उपपाठ, अन्तर्पाठ, अनुलोम-विलोम पाठ, समानान्तर पाठ आदि के अनेक स्तर हैं। अन्तर्कथाएँ तो ऐसी हैं, जिन्हें हटा देने पर महाभारत का कोई बड़ा सांकेतिक अर्थ ही खो जाता है। जैसे वनवास-काल में मैथुन-रत मृगयुग्म पर पांडु का शरसन्धान। इसे हटा देने पर न केवल बहुत से संकेत और आशय नष्ट हो जाते हैं बल्कि पांडु का चरित्र और वन यात्रा की सांकेतिकता समाप्त होकर कथाप्रवाह के समुचित विकास में बाधा पैदा हो जाती है। इन्हीं कारणों से महाभारत को एक फिल्म या नाट्यकृति में संक्षिप्त करना बेहद चुनौती भरा काम है, जिसका सामना पीटर ब्रुक और जीन क्लॉड ने यथासम्भव किया है। इसमें सन्देह नहीं कि संक्षिप्तीकरण में कई जगह महाभारत का सरलीकरण हो गया है; परन्तु अपनी संस्कृति, संस्कारों और परम्पराओं से भिन्न प्रकार की संस्कृति की एक विराट जटिल, अनेक अनुशासनों से युक्त, बहुस्तरीय रचना को शेष विश्व के लिए ग्राह्य और विश्वसनीय बनाकर उसका एक विश्व-संस्करण तैयार करने जैसे कठिनतम काम में उन्हें यथेष्ट सफलता मिली है।

यह जानते हुए भी कि ऐतिहासिक और ब्रह्मविद्यापरक सत्य अपनी प्रकृति से ही विवादास्पद होता है। (Any historical and thieological truth controversial by its nature–P. Brook) और महाभारत इसी प्रकृति का काव्य है। पीटर ने महाभारत को विस्तृत रूप में ढालकर मंचित करने का जोखिम उठाया है। उन्होंने कथावस्तु और चरित्रों का युगानुसार युक्तियुक्तकरण करने की कोशिश की है और चाहा है कि कुछ भी असंगत और असम्बद्ध न रह जाए। सम्भवतः इसीलिए (उनके अनुसार) अतिरिक्त भार हटाकर कथा को उसके मौलिक अवयवों के साथ प्रस्तुत किया गया है। अतिमानवीय और दैवीय घटनाओं को मानवीय बनाने के लिए उन्हें बदला या हटाया गया है, जबकि समस्त विसंगतियों, विरोधाभासों और ज्वार-भाटों जैसा उत्तोलन-वितोलन महाभारत का सौन्दर्य है। अतिमानवीय घटनाओं के भी अपने प्रयोजन और संकेत हैं।

पश्चिमी साहित्य के अभ्यस्त आमतौर पर रचनाओं में चरित्र के दो वर्ग जानते हैं—अच्छे या बुरे। महाभारत ने भी प्रारम्भ में तो अपने चरित्रों को दो वर्गों में बाँटा है, परन्तु काव्य में यह वर्गीकरण औपचारिक हो गया है। इससे पात्र टाइप होने से बच गए हैं। इसीलिए उसमें वर्गीकरण का ढाँचा बहुत लचीला है। चरित्रों की नियति स्थिर नहीं है? महाभारत का कोई पात्र न पूरी तरह सदोष है न निर्दोष। उसमें उच्चावच देखे जा सकते हैं। यही कारण है कि वर्ग निर्धारित कर उनके युक्तियुक्तकरण के बहुत से प्रयासों ने उन्हें सपाट और टाइप बनाया है। यदि दुर्योधन सर्वथा उजड्ड और क्रूर होता, जैसा पीटर ने दिखाया है, तो वह न तो एक श्रेष्ठ प्रजा पालक राजा के रूप में मान्य होता न युधिष्ठिर को पांडवों की बजाए, स्वर्ग में दिखाई पड़ता। यदि युधिष्ठिर सर्वथा सत्यवादी होते तो धरती से ऊपर चलने वाला उनका रथ धरती पर न टिक जाता। महाभारत दिखाता है कि ईश्वर ने सृष्टि को गुण-दोषों से मिलकर बनाया है, इस विधान से स्वयं ईश्वर भी ऊपर नहीं है—यदि वह संसार में अवतार लेता है तो। इसी अवधारणा के कारण महाभारत जड़ीभूत रचना नहीं बन सकी है। इसीलिए तार्किक दृष्टि से युक्तियुक्तकरण करते ही उसका सूक्ष्म, जटिल स्नायुजाल बिखर जाता है। महाभारत की अनेक परवर्ती कृतियों में यह किया गया है। इससे उसका अर्थसंकुल संघात ज्ञान, तत्त्वमूलकता और सर्जनात्मक अवकाश खो गया है। इससे स्वयं वे रचनाएँ भी औसत हो गई हैं।

महाभारत और भारतीय संस्कृति की प्रकृति को समझने और नाटक को निष्ठापूर्वक रचने में यद्यपि पीटर ने कोई कोताही नहीं की है, फिर भी किसी देश की संस्कृति और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता को सांगोपांग उतारना, किसी विदेशी के लिए साधारणतया कठिन होता है, खासकर उस रचना को जो संस्कृति की प्रतिनिधि हो। भाषा के संस्कृतिमूलक पर्यायवाचियों का चयन भी कठिन होता है। ऐसे कई मामलों में पीटर और क्लॉड असमंजस में थे। वे न 'धर्म' का पर्याय ढूँढ़ सकते थे, न 'मंत्र' का न 'माया' का; क्योंकि 'रिलीजन', 'सीक्रेड फार्मूला' और 'एक्स्ट्रा ऑर्डिनरी ट्रिक' इनके पर्याय नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी व्यापक संस्कृतिमूलक अर्थसत्ता है।

महाभारत को संक्षिप्त करने में वे लाक्षागृह कांड के बाद के पांडवों के अज्ञातवास को, द्यूत के बाद के वनवास से मिला देते हैं। इससे केवल पूर्वापरता का दोष आया है वरन किसी देश-विशेष के मानव-स्वभाव, सम्बन्धों की विशिष्टता आदि की पहचान में गम्भीर चूक से विसंगति आई है। भीम का हिडिम्बा से विवाह (या सम्बन्ध) प्रथम अज्ञातवास में हुआ था, जब पांडवों के साथ द्रौपदी नहीं, कुन्ती थी। परन्तु पीटर ब्रुक

के महाभारत में इस घटना के समय द्रौपदी थी। क्या द्रौपदी इसे सहज स्वीकार कर लेती? कुन्ती की तरह अनुमति दे देती? जब अर्जुन, सुभद्रा हरण कर लाए थे तब द्रौपदी कितनी आहत हुई थी और अर्जुन कितने डरे हुए थे। अपने देश के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अभ्यस्त पीटर से भारतीय स्त्री की मनोदशा समझने में चूक हुई। यहाँ तो सपत्नी से ईर्ष्या-द्वेष पर लोक और नागरिक काव्य में कितना कुछ लिखा गया है? फिर द्रौपदी अपनी रक्षा के लिए अर्जुन और युधिष्ठिर पर नहीं, भीम पर निर्भर थी, क्योंकि हर बार ऐसे समय भीम ही उसके पक्ष में खड़े रहे। क्या भीम का एक राक्षसी के पीछे चल देना द्रौपदी को कुरुचिपूर्ण नहीं लगता? पश्चिम और भारत के पति-पत्नी सम्बन्धों में बहुत अन्तर है। भारत में दाम्पत्य के बीच तीसरे के हस्तक्षेप की प्रतिक्रिया में तलाक नहीं होता बल्कि चिर घुटन होती है। इस मामले में पश्चिम की सामाजिक दृष्टि भी अलग है। सम्भवतः पीटर ने महाभारत की कथा के अनुरूप सोचा हो कि द्रौपदी से विवाह करने के लिए अर्जुन ने इसलिए इन्कार कर दिया था कि बड़े भाई के विवाह से पहले छोटा भाई विवाह कैसे करे? यदि भीम का उदाहरण सामने था तो अर्जुन यह बात क्यों कहता? अर्जुन के इस कथन पर अगर अन्य कोई भाई प्रतिवाद नहीं कर सका, तो कम-से-कम भीम ही कर देता। परन्तु किसी ने ऐसा नहीं किया; धर्मराज ने भी नहीं। ऐसी स्थिति में पीटर का यह सोचना स्वाभाविक है कि भीम का हिडिम्बा से विवाह, द्रौपदी से विवाह के बाद होने में कोई कठिनाई नहीं थी। परन्तु भीम से हिडिम्बा के विवाह का कारण, समय और प्रक्रिया बिल्कुल भिन्न थी।

सामान्य नैतिक और लौकिक दृष्टि से कृष्ण महाभारत के सबसे विचित्र चरित्र हैं। अनेक अन्तर्विरोध उनमें हैं; दिखने और होने के बीच कई दरारें और दर्रे हैं। लौकिक या अलौकिक सत्ता के रूप में कृष्ण का एकान्तिक मूल्यांकन 'महाभारत के कृष्ण' के लिए असम्भव है। आमतौर पर उनके चरित्र का युक्तियुक्तकरण करने में लेखक लड़खड़ाए हैं। कृष्ण के चरित्र को लोक-सामान्य बनाने के लिए पीटर ने ही नहीं, कई लेखकों ने ऐसे प्रसंग निकाल दिए हैं जो मानवीय कसौटी पर खरे नहीं उतरते या सरासर दैवीय प्रतीत होते हैं।

यह युक्ति आंशिक सफल रही है। परन्तु दैवीय तत्त्वों की लौकिक व्याख्या महाभारत के ढाँचे और प्रयोजन में प्रायः सम्भव नहीं है। कृष्ण को सामान्य मानव के रूप में रचते हुए, पीटर ने कृत्रिम बादल से सूर्य को ढँकने वाली कृष्ण की माया को असाधारण युक्ति (Extra ordinary trick) कहा है, परन्तु द्रौपदी का चीर बढ़ाने वाले अलौकिक प्रसंग से वे अपने को कहाँ बचा पाए? वस्तुतः कृष्ण के ही पाठ में प्रायः अवपाठ है। पीटर ने कृष्ण को सौम्य और चतुर व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया, परन्तु वे उन्हें विलक्षण कामों के बावजूद भव्य और दिव्य रूप न दे सके। सम्भवतः इसलिए भी कि वे महाभारत को इतिहास के रूप में चित्रित करना चाहते थे। परन्तु महाभारत के भीतर जो कुछ तीव्रता है वह उसके अन्त और प्रभाव तक नहीं जाती है। यही विशेषता उसे विश्व के अन्य काव्यों से अलग करती है। युद्ध-कथा का ऐसा उदास, शान्त और लयात्मक अन्त, क्या सुलभ है? कृष्ण का निःशब्द निधन एक अनाम व्याध के शर से होता है। उनकी नगरी समुद्र में लीन हो जाती है। द्रौपदी सहित पांडव हिमालय की ऊँचाइयों पर चढ़ते-चढ़ते सूने बर्फीले विराट में दम तोड़ देते हैं और युधिष्ठिर जिस लोक में पहुँचते हैं वहाँ से नर्क का साक्षात्कार करने जाना पड़ता है। महाकाव्य जीवनभर हाहाकार करते कौरव-पांडवों के राग-द्वेष रहित, सुख-दुःख से ऊपर, ऐसी निस्पृह शान्ति में अपना समापन करता है जो जीवन की प्रत्यक्षता से अधिक दर्शन की अनुभूति है। ये सब स्थितियाँ और दशाएँ पल-पल विकसित अवपाठ और अन्तर्पाठ के कारण होती हैं जो शरीर में प्राण की तरह संचरित है। पीटर अपने अन्त को नाटकीय तो बना सके, परन्तु उसे उदात्तीकरण में नहीं बदल सके। उन्होंने स्वर्ग तक सीढ़ी बना दी और इन्द्र की जगह दरबानों द्वारा कुत्ते को प्रवेश करने देने से इनकार करने के लिए रख दिया। इससे क्या यह घटना लौकिक हो गई?

भीष्म; युधिष्ठिर, कुन्ती आदि श्रेष्ठ चरित्रों की कोटि में आते हैं, परन्तु इनके चरित्रों में भी ऐसे तत्त्व मिलते हैं जो इनके यश के प्रतिकूल हैं। पीटर ने उनको जिन युक्तियों से दोषमुक्त करने का प्रयास किया है, उनमें से एक है संवाद की अपनी योजना—जैसे भीष्म के लिए यह नितान्त लज्जाजनक था कि भरी सभा में द्रौपदी पर अन्याय होता देखकर भी वे मौन रहे। पहले तो उन्होंने प्रश्न का उत्तर नहीं दिया, बमुश्किल दिया भी तो ऐसा जो उनकी तटस्थता की बजाय संवेदनहीनता, अविवेक और निर्वीर्यता ही प्रकट करता है। पीटर ने इस दोषारोपण को हटाने के लिए द्यूत से पहले एक संवाद का आयोजन किया जिसमें युधिष्ठिर भीष्म से यह वचन ले लेते हैं कि द्यूत क्रीड़ा में वे किसी भी स्थिति में कुछ नहीं बोलेंगे। भीष्म अपने वचन से बँधे थे। इसलिए प्रत्यक्ष अनाचार और अन्याय देखते हुए भी वे चुपचाप कसमसाते रहे और जब विवश होकर उन्हें द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर देना पड़ा तो 'नरो वा कुंजरो वा' जैसा उत्तर दे दिया। पीटर द्वारा आयोजित कुन्ती का यह वचन व्यास के सृजन-स्वभाव से गलत था

जिन्होंने अपने चरित्रों की त्रुटियों और अपराधों का बचाव नहीं किया। पीटर ने ही नहीं, महाभारत को अपनी विषयवस्तु बनानेवाले अधिकांश लेखकों ने विभिन्न चरित्रों के रूप चरित्र को बचाने के लिए भाँति-भाँति की युक्तियों का प्रयोग किया है, बिना यह जाने कि महाभारतकार ने अपनी कृति को आदर्शवादी न बनाकर उसे एक सर्जना बनाया है। उन्होंने चरित्रों को सँवारने की कोशिश नहीं की बल्कि उनके सब पक्षों का उन्मोचन किया।

युधिष्ठिर और कुन्ती का बचाव भी खैर पीटर ने इसी युक्ति से करने की कोशिश की। अर्जुन ने स्वयंवर में रखी शर्त पूरी की थी, इसलिए द्रौपदी से उसका वरण न्यायसंगत और स्वाभाविक था। फिर भी अनवधानता में निकले कुन्ती के शब्दों को आज्ञा का स्थान देकर (जिस पर कुन्ती ने पश्चाताप और ग्लानि भी प्रकट की थी।) युधिष्ठिर ने केवल दिखावे भर के लिए यह कहा कि अर्जुन ने उसे जीता है, इसलिए वही उसका वरण करे। इस पर अर्जुन ने नम्रता प्रकट करते हुए औपचारिकतावश यदि यह कह दिया था कि बड़े भाई से पहले मैं विवाह कैसे कर सकता हूँ, तब युधिष्ठिर को भीम के वरण की याद नहीं रही और न वे अपने धर्मानुसार निर्णय पर अडिग रहे। उन्होंने तुरन्त इस रूढ़ि को स्वीकार कर लिया और घोषित कर दिया कि सभी भाइयों से द्रौपदी का विवाह होगा। इन सब विसंगतियों के समाहार के लिए पीटर ने एक युक्तिसंगत तर्क दिया। उन्होंने कहा कि कुन्ती ने यह आज्ञा पहले ही प्रसारित कर रखी थी कि जो भी चीज लाओ, सब भाई बाँट लो–'You must share every thing with brothers'. यह कुन्ती का आकस्मिक नहीं, स्थायी आदेश था, और विशेष की अपेक्षा सामान्य था, विशेष परिस्थिति में उसका अपवाद सम्भव और स्वाभाविक था। खैर अपने इस आरोपित तर्क के अनुसार पीटर ने एक ओर कुन्ती का बचाव किया और दूसरी ओर युधिष्ठिर तथा अन्य भाइयों का भी जो पहले से ही द्रौपदी को ललचाई आँखों से देख रहे थे। कुन्ती को लेकर यह प्रश्न उठता है कि जब पांडव उससे आदेश लेकर द्रौपदी-स्वयंवर में गए थे, तब उनके प्रसन्न लौट आने के कारण को रोजमर्रा की भिक्षा से जोड़ना कितनी नासमझी थी? इसके विपरीत कुन्ती को तो उनके विजयी लौटने की प्रतीक्षा करनी थी। इस वक्त वह न तो ऐसी बूढ़ी हुई थी न बेसुध कि कुछ भी कह देती। यह घटना को त्रासद मोड़ देने की एक युक्ति भर थी। परन्तु इस प्रसंग में सबसे ज्यादा उंगली धर्मराज पर उठती है कि जिन्होंने न माँ को समझाया न नम्रता में कहे अर्जुन के कथन को औपचारिक मानकर उसकी अवहेलना की। जिस स्त्री को उन्होंने अपने पौरुष से नहीं जीता था, उसके उपभोग का उन्हें क्या अधिकार था? इन असुविधाजनक प्रश्नों से अपने पात्रों की मुक्ति के लिए पीटर ने कुन्ती के स्थायी आदेश का सहारा लिया और महाभारत के इस सामान्य नियम को आधार बनाया कि महाभारत में एक वचन जो निकल चुका है वह अनकिया नहीं हो सकता 'No word in Mahabharata once attened can be undone'। पीटर को लगा कि यह सामान्य धारणा महाभारत की समस्त घटनाओं से प्रमाणित है। गांधारी का शाप कृष्ण को लगा तो अश्वत्थामा द्वारा उत्तरा के गर्भ को लक्षित ब्रह्मास्त्र ने आखिर उत्तरा के गर्भ की हत्या की ही। बाद में इन बातों को भले सँवारा गया हो, पर घटित तो हुई ही। परन्तु अपवाद कहाँ नहीं होते? महाभारत में भी हैं...

महाभारत के अनुसार युद्ध के प्रारम्भिक दस दिनों तक भीष्म के जीवित रहते कर्ण ने युद्ध नहीं किया। इसका कारण भीष्म द्वारा कर्ण को अपमानित करते हुए अर्द्धरथी कहना था। पीटर को लगा कि कर्ण जैसा वीर, जिस पर दुर्योधन की आशा टिकी थी, और जो स्वयं भी दुर्योधन का इतना कृतज्ञ और हितचिन्तक था, बच्चों की तरह किसी बात पर हठ ठानकर युद्ध कैसे छोड़ सकता है? यह न उसके लिए स्वाभाविक था न दुर्योधन द्वारा इसे स्वीकारना। पीटर ने इस प्रसंग को कर्ण के पक्ष में मोड़कर कर्ण के बारे में उठने वाले प्रश्नों का समाधान कर दिया। उन्होंने कहा कि भीष्म ने सेनानायक बनने का दुर्योधन का अनुरोध इसी शर्त पर स्वीकार किया था कि जब तक युद्धक्षेत्र में वे रहें, तब तक कर्ण युद्ध में भाग न ले। मुझे लगता है कि महाभारत के किसी पाठ या पुनर्सृजन में कहीं यह प्रस्ताव भी है, पर चयन और त्याग के विवेक से पीटर इस कथन से बच सकते थे। पीटर ने शायद यह नहीं सोचा कि इससे भीष्म और दुर्योधन दोनों प्रश्न के घेरे में आ जाते हैं। भीष्म ने यह शर्त क्यों रखी? दुर्योधन ने बिना विरोध इसे कैसे स्वीकार कर लिया, जबकि भीष्म से कम कर्ण उसके लिए अपरिहार्य नहीं थे? दुर्योधन के पक्ष में तो तर्क जुटाए भी जा सकते हैं, परन्तु भीष्म के पक्ष में ऐसा कोई सबल तर्क नहीं दिया जा सकता।

महाभारत के साथ प्रायः हुआ यह है कि घटनाओं और चरित्रों का युक्तियुक्तकरण करने में एक जगह तो वह युक्तिसंगत तर्क बन जाता है परन्तु दूसरी जगह उसमें दोष आ जाता है। महाभारत की विसंगतियों और अन्तर्विरोधों के अपने तर्क हैं जो जीवन को सन्तुलित कर उसमें नई व्यंजना भरते हैं और संसार की जटिलता से हमारा साक्षात्कार कराते हैं।

बहरहाल उक्त तीनों उद्भावनाएँ चरित्रों को तर्कसंगतता

देने और स्थितियों को सँभालने के सर्वोत्तम उपाय थे। परन्तु हानि यह हुई कि इससे महाभारत की जटिल शैली का सरलीकरण हो गया। इस उपाय से तो महाभारत अन्य रचनाओं की तरह फार्मूला रचना बनकर रह जाती है।

द्यूत प्रसंग में द्रौपदी के प्रति जो वचन भीष्म और युधिष्ठिर के हैं, उन्हें पीटर ने गांधारी के मुँह से कहलाया है। भीष्म भी दो बार बोलते हैं—एक बार द्रौपदी के प्रश्न पर दूसरी बार विदुर के कोंचने पर। परन्तु प्रमुख स्वर गांधारी का ही है। इससे पीटर ने युधिष्ठिर और भीष्म को तो यथासम्भव उबार लिया, परन्तु गांधारी का चरित्र संदिग्ध बना दिया। संवादों का यह विस्थापन गांधारी की दृष्टि से उपयुक्त नहीं रहा। आचरणसंहिता सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर या समाधान, भीष्म और विदुर के रहते गांधारी करे, यह भी अटपटा लगता है। महर्षि व्यास ने गांधारी का चरित्र ऐसा रचा है, मानो वह काँटों के बीच खिला गुलाब हो। अपनी ममता और वात्सल्य के बावजूद उसने दुर्योधन, कौरवों तथा धृतराष्ट्र का किस-किस जगह विरोध नहीं किया? कुन्ती के प्रति उसके व्यवहार में कितनी कोमलता थी। उसके चरित्र में अजब तरह की मृदुता है जिसमें क्रोध भी है, दया भी, शान्ति भी, नैतिकता और दृढ़ता थी। एक ओर तो वह दुर्योधन को विजय का आशीष नहीं देती क्योंकि उसे धर्म मार्ग में प्रवृत्त कराना चाहती है, दूसरी ओर उसके शरीर को लौहवत् बनाने के लिए आँख पर बँधी पट्टी (जीवन में पहली बार) खोलती है। वह विगलित होकर भीम से प्रश्न करती है कि क्या बूढ़े माँ-बाप के लिए 100 पुत्रों में से एक को भी छोड़ नहीं सकता था, वहीं कृष्ण को इस महासमर के लिए क्षमा नहीं करती, पतिपरायणा होने पर भी वह द्यूत का विरोध करती है, इतना ही नहीं, अपने पक्ष की गलत बातों का वह सर्वत्र विरोध करती है और धृतराष्ट्र को पुत्रमोह से बचने की सलाह देती है। जिसके चरित्र में ऐसा विवेक, ऐसी न्यायसंगतता और स्पष्टता हो, उसे द्रौपदी के प्रति कठोर बनाने से पीटर क्या सिद्ध कर सके जबकि महाभारत युद्ध की समाप्ति पर वह द्रौपदी को समदुःखिनी मानती है?

एक और अन्याय पीटर ने गांधारी के साथ किया। वन में अन्तिम क्षणों में धृतराष्ट्र, गांधारी से आँख की पट्टी खोलकर देखने को कहते हैं। वह अपनी प्रतिज्ञा का वास्ता देकर इसे नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर सकती थी, पर वह झूठ-मूठ धृतराष्ट्र से कह देती है कि उसने पट्टी खोल दी है (जबकि वास्तव में खोली नहीं थी)। अपने पति के अन्धत्व का लाभ उठाते हुए उससे अन्तिम समय पर इस तरह छल करना गांधारी के चरित्र के विपरीत है। पीटर ब्रुक ने भारतीय नारी के पातिव्रत्य के आदर्श को ध्यान में नहीं रखा, जो गांधारी के लिए जीवन-तप ही था।

महाभारत की कुछ प्रासंगिक कथाएँ दूर तक जाती हैं। वे उसकी वस्तु, चरित्र और प्रतीकात्मकता से जुड़ी हैं। महाभारत को संक्षिप्त करने के लिए कई लेखक इन्हें कथा से निकाल देते हैं। इससे महाभारत के कथ्य के बहुत से संकेत खो जाते हैं। उदाहरण के लिए खांडव वन दाह का प्रसंग है। यह तत्कालीन जातीय बुनावट और उनके केन्द्र की ओर संकेत करता है। यहीं अग्निदेव द्वारा कृष्ण को सुदर्शन चक्र और अर्जुन को रथ, गांडीव धनुष आदि प्राप्त होते हैं। इनकी महाभारत युद्ध में क्या भूमिका है इसे सब जानते हैं। इससे आदिवासी समाजों के बारे में भी पता चलता है जो आर्यों की अधिकार-भूमि में रहते थे या आर्यों ने उनकी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था। वे सर्वथा वनवासी थे और आर्यों की दृष्टि से बर्बर थे, पीटर ने इस प्रसंग को निकाल दिया जबकि उन्होंने अग्नि की ज्वालाओं को अपना मूल संकेत बनाया है। पीटर की यह प्रतीकाग्नि खांडव वन दाह में पहली बार लक्षित हुई थी, दूसरी बार वह लाक्षागृह दहन में और तीसरी बार महाभारत के अन्त में (वन में) प्रकट हुई थी। जनमेजय के भावी नागयज्ञ की वह प्रस्तावना भी थी। भारतीय आख्यानों की इस अन्तर्शृंखला को ध्यान में रखना जरूरी था।

लाक्षागृह अग्निकांड का प्रसंग भी निकाल दिया गया है जो कौरवों के विरुद्ध पांडवों का एक प्रबल तर्क था। दुर्योधन की क्रूरता, षड्यन्त्र और कुटिलता का वह दस्तावेज था। यहीं सच्चे हितैषी विदुर का सदाशय और दुर्योधन का खलनायकत्व स्पष्ट हुआ। इसी की आड़ में पांडव उस समय तक बचे रहे जब तक द्रौपदी से विवाह और कृष्ण के साहचर्य से सबल न हो गए।

महाभारत युद्ध के क्षेत्र में दोनों सेनाओं के बीचों-बीच रथ रोककर कृष्ण और अर्जुन का संवाद पीटर को शायद अस्वाभाविक लगा, इसलिए उन्होंने गीता का पूरा प्रसंग; यहाँ तक कि सन्दर्भ ही निकाल दिया, जबकि यह घटना प्रतीकात्मक है और महाभारत की तत्त्व मीमांसा का आवश्यक पक्ष है। अर्जुन का संशय या हिचक और कृष्ण का उसे उत्साहित करना भर गीता की विषयवस्तु नहीं है, वह ज्ञान, कर्म, सांख्य योग और जाने क्या-क्या आयोजन करते हुए संसार के पटल पर खेले जाते एक विराट् नाटक का प्रतीकात्मक सन्दर्भ है। कहना न होगा कि पीटर ने इसे अवान्तर या अवांछित समझकर महाभारत का विश्व के दूसरे महाकाव्यों से उसके अन्तर और भारतीय संस्कृति के आन्तरिक उपक्रम के निशान मिटाए हैं जिनका

सम्बन्ध सिर्फ साभिप्राय कर्म, आदि का उपदेश ही नहीं है–उसके महाभारत के अन्तः सूत्र, दार्शनिक दृष्टि और वैश्विक प्रतीति से है। खैर, यह नाटक या फिल्म की मजबूरी भी हो सकती है।

पीटर ब्रुक ने शायद अपनी धारणा और संस्कार के अनुरूप 'अर्द्धसत्य' के द्वन्द्व को नहीं समझा। उन्होंने यही ठीक समझा कि यदि अपने को सत्य के प्रति आश्वस्त करने के लिए सत्यवादी धर्मराज इसी अर्धसत्य से सत्य कथन के प्रति आश्वस्त होते हैं तो यह द्वन्द्व ही क्यों? सीधे-सीधे अश्वत्थामा मारा गया कहकर बात को खत्म क्यों न किया जाए? परन्तु युधिष्ठिर का अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध देखिए कि झूठ वे बोल नहीं सकते थे परन्तु अपनी सेना को बचाने के लिए उन्हें सच नहीं बोलना था। इन दोनों के बीच जिस तरह यह प्रसंग रचा गया है, वह महर्षि व्यास की मानव मन में झाँकने की अद्भुत क्षमता का परिचय देता है। सत्य के आभास या झीने पर्दे से वे अपने को सत्यवादिता के लिए आश्वस्त करना चाहते थे, वहीं दुनिया पर पड़ी सत्यवादी होने की छाप भी बचाए रखना चाहते थे। इस तरह वे अपने प्रति भी भ्रम पालते हैं और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं। इसमें काव्य-न्याय की भी विलक्षण रूप से रक्षा हुई है। युधिष्ठिर ने भले ही दूसरों की आँखों में-और स्वयं अपनी आँखों में धूल झोंकी हो। वह कवि की निर्भ्रान्त प्रज्ञा को भटका न सके और अन्ततः युधिष्ठिर के रथ के पहिए भूमि पर गए।

पीटर की कुन्ती युद्ध के पहले ही कर्ण को जन्म का रहस्य बता देती है, जबकि महाभारत में कर्ण के सेनापति बनने से पूर्व। इसका कारण यह है कि कुन्ती के लिए यह ऐसा गोपान रहस्य था, जिसे वह केवल तभी बता सकती थी जबकि इसके सिवा कोई रास्ता न बचा हो। पीटर द्वारा घटना-क्रम के विपर्यय के कारण इस रहस्य की गम्भीरता कम हुई। सम्भवतः पाश्चात्य संसार में ऐसी घटना के सामान्य होने के कारण पीटर के सामने इस घटना का गहरा अर्थ प्रकट न हो सका।

मय द्वारा निर्मित भवन की भूलभुलैया में दुर्योधन जल-थल का भेद नहीं कर पाता। यह देखकर वहाँ खड़ी स्त्रियाँ उपहास से हँसने लगती हैं। परन्तु इस प्रसंग में एक प्रवाद चल पड़ा है कि वहाँ द्रौपदी भी थी, जिसने कहा था 'अन्धों के अन्धे' यानी जैसा बाप वैसा बेटा। दुर्गा भागवत से लगाकर दिनकर (कुरुक्षेत्र) और आगे तक भी यह जुमला चला और चल रहा है। महाभारत के प्रमुख पाठ में तो इस दृश्य को देखती स्त्रियों का उल्लेख भी नहीं है परन्तु जहाँ दुर्योधन अपने अपमान और उपहास की शिकायत धृतराष्ट्र से करता है वहाँ अवश्य ही यह कहा गया है कि वहाँ स्त्रियाँ भी हँस रही थीं। सम्भव है 'अन्धों के अन्धे' जैसी अप्रामाणिक बात किसी गपोड़ी ने महाभारत में जोड़ दी होगी जो दन्तकथा के रूप में चलते-चलते साहित्य में चली आई। इससे द्रौपदी प्रत्यक्ष रूप से 'महाभारत युद्ध' का कारण बनती है। द्रौपदी जैसी गम्भीर, उत्तरदायी, शील सम्पन्न स्त्री के लिए जो इस समय साम्राज्ञी है और जिसके पति अभी-अभी राजसूय यज्ञ सम्पन्न कर चुके हैं–यह कथन सर्वथा असंगत है, इस कथन से द्रौपदी छिछली, छिछोरी स्त्री के रूप में दिखाई पड़ती है जो व्यास को अभीष्ट न था। फिर, गहमागहमी के इस वातावरण में एक साम्राज्ञी को निठल्लों की तरह तमाशा देखने और ठिठौली करने का समय ही कहाँ था। पीटर ने भी इस कथन का उपयोग किया है, उन्होंने भी सम्भवतः इसके परिणामों पर विचार नहीं किया।

चमत्कारों को हटाने की दृष्टि से पीटर ने 'यक्ष-प्रश्न' प्रकरण में बताया कि जलाशय का पानी जहरीला था जिसे पीने से चारों भाई मर गए। जब युधिष्ठिर वहाँ पहुँचे तो पानी से उठी एक आवाज द्वारा किए गए प्रश्नों का उन्होंने उत्तर दिया। लेखक ने समझा होगा कि इस तरह दैवीय घटना को हटाकर उस प्रसंग को स्वाभाविक बना दिया गया है। परन्तु पानी से आवाज आना क्या चमत्कारिक नहीं है? यक्ष की अवधारणा पर विश्वास न होने से पीटर के व्यास वहाँ आकर सभी पांडवों को बचा लेते हैं। क्या व्यास की उपस्थिति भी अपने में एक चमत्कार नहीं है? और जहरीला पानी पीने से मरे भाई जीवित कैसे हुए?

'When Karna calls for the weapon, he will forget its secret formula, and die' पीटर के परशुराम कर्ण को यह शाप देते हैं। यहाँ भाषा की सीमा का पता चलता है। वे ब्रह्मशास्त्र के 'आवाहन-मन्त्र' को 'Secret formula' कहते हैं, जबकि भारत में मंत्र की सत्ता विशिष्ट है जिसके भीतर एक आध्यात्मिक अर्थ भी होता है।

संजय की भूमिका में महर्षि व्यास को रखकर पीटर ने भले ही एक सर्जक की दृष्टि की ओर इशारा किया हो, परन्तु अपने परिवर्तन से उन्होंने एक भव्य फैंटेसी की सम्भावना खो दी है। इतना ही नहीं, इस प्रसंग की एक अद्भुत नाटकीय सत्ता भी थी। आधुनिक युग के पत्रकार की पारदर्शी, दायित्वपूर्ण दृश्यांकन भूमिका भी अपने आप इसमें से निकल गई है। संजय धृतराष्ट्र को न केवल युद्ध-कथा सुनाते हैं, उनसे संवाद भी करते हैं और बार-बार उन्हें युद्ध के लिए उत्तरदायी बताकर लताड़ते भी हैं। संजय की इतनी भूमिकाओं का लाभ तो पीटर ने खोया ही, महर्षि व्यास का दर्जा भी घटाया है। वे एक राजा

(वह भी उनका पुत्र) को उसके पुत्रों की मृत्यु की कथा कैसे सुना सकते थे? पीटर ने भारतीय महर्षि की गरिमा और महत्तम शक्तियों को नजरअन्दाज कर उन्हें एक सामान्य कथावाचक बना दिया। असल में भारतीय महाकाव्य के रूपायन में वह समग्र दृष्टि भी रखनी होती है जो उसकी आस्था, परिकल्पना और अनुश्रुतियों में है।

नाटक में द्रौपदी का अभिनय करने वाली मृणालिनी साराभाई ने कहा था कि महाभारत एक स्थूल कथा ही नहीं, प्रतीकात्मक काव्य है। उसमें पाँच पांडव पंचइन्द्रियों के प्रतीक हैं, द्रौपदी मन है जो सभी इन्द्रियों को अँगुलियों से जोड़ती हथेली की तरह है। पीटर ने इस प्रतीक की सुन्दर व्यंजना की है। विवाह की वेला में द्रौपदी की हथेली पर एक पर एक सभी पांडव अपनी हथेली रखते हैं। इस प्रतीक की सटीक दृश्यात्मकता प्रस्तुत कर पीटर ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

नाटक में कहा गया है कि वह मानवता का इतिहास है। इसमें मनुष्य के सारे भाव, प्रवृत्तियाँ, अनुभव और कार्य व्यापार शामिल हैं। इसकी रचना हर युग में प्रासंगिक है क्योंकि प्रासंगिकता स्थूल सन्दर्भों में नहीं, उसके संकेतों, अभिप्रायों में होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस ऐतिहासिक महाकाव्य को पीटर ने मूल कथात्मकता के साथ आधुनिक रूप देने की भरसक कोशिश की है। कलि काल में जिन तीन बातों की ओर नाटककार ध्यान दिलाता हैं वे हैं 'Ambition, corruption & commerce' क्या बीसवीं शती और इस इक्कीसवीं शती में हम इन स्थितियों से नहीं गुजर रहे हैं? चारों ओर भ्रष्टाचार है, मनुष्य के भीतर तीव्र महत्त्वाकांक्षा है जिससे वह गलाकाट स्पर्द्धा में लगा हुआ है। आज बाजारवाद या वाणिज्य-व्यापार मनुष्यता की नियति बन चुका है। अगर महाभारत से ये संकेत निकलते हैं तो निश्चय ही आज वह प्रासंगिक है।

आतंकवाद और नरसंहार का यह वक्त महाभारत को निरन्तर अपने बाहर और भीतर घटित होते देखने का है। पीटर ब्रुक निश्चय ही महाभारत को यह विराट दृष्टि देने में समर्थ हुए हैं। उनकी फिल्म और नाटक ने महाभारत को विश्वव्यापी बनाने में सर्वाधिक भूमिका निभाई है। भारत को उनका ऋणी होना चाहिए।

सन्दर्भ

नाट्य लेख/पटकथा लेखक : जीन क्लॉड केरियर (Gean claud carriere)। इस आलेख में प्रायः पीटर ब्रुक का उल्लेख है। इसमें जीन क्लॉड को अन्तर्निहित माना जाए।

1. यह विश्लेषण नाटक पर आधारित है।

मानस और कवितावली के उत्तरकांड के बीच फर्क का निहितार्थ

कमलानन्द झा

एसोसिएट प्रोफेसर, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महेन्द्रगढ़

तुलसीदास की रचना से गुजरते हुए एक प्रश्न उठता है कि आखिर कौन-सा कारण है कि 'रामचरित्‌मानस' पढ़ने से भौतिक और आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति पर बल दिया जाता है, लेकिन तुलसी की अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जाती। आशय यह कि तुलसीदास से लेकर तुलसी के टीकाकार या व्याख्याकार तक 'रामचरित्‌मानस' को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं लेकिन उस अर्थ में अन्य रचनाओं को नहीं। असुविधा अधिक तब होने लगती है जब हम 'रामचरित्‌मानस' के साथ 'कवितावली' को रख देते हैं। दोनों रचनाएँ रामकाव्य की प्रामाणिक रचनाएँ हैं, दोनों के मूल में रामकथा ही है, दोनों में सात कांड हैं। लेकिन मानस के सम्बन्ध में तुलसीदास 'उत्तरकांड' तथा अन्य कई स्थानों पर लिखते हैं :

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख सम्पत्ति नाना विधि पावहिं।
सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अन्तकाल रघुपति पुर जाहीं॥

(श्रीराम चरित्‌मानस—उत्तरकांड-टीकाकार—श्री विजयानन्द त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपरा, बनारस, पृ. 37)

तुलसीदास के अतिरिक्त 'मानस' के अनेक व्याख्याकारों की तरह श्री विजयानन्द त्रिपाठी अपनी 'रामचरित्‌मानस टीका' में विशेष रूप से यह फुटनोट लगाते हैं, "उत्तरकांड प्रारम्भ से यहाँ तक (उपर्युक्त दोहा तक) पन्द्रह दोहा पर्यन्त नित्य नियम से पाठ करने पर आशातीत लाभ अवश्य होता है।[1] 'मानस' के आधार पर ही लिखी गई 'कवितावली' के सम्बन्ध में आखिर ऐसा निर्देश क्यों नहीं दिया जाता है? क्या मात्र इसलिए कि 'मानस' एक प्रबन्ध काव्य है और कवितावली खंड काव्य? कुछ लोगों का मानना है कि इसके मूल में मानस का एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध रचना होना है जबकि इसके विपरीत कवितावली के पदों की रचना समय-समय पर हुई है। सूरदास के पद तो मुक्तक काव्य की श्रेणी में आते हैं, बावजूद इसके कृष्ण भक्त उसे पूरे भक्ति भाव से गाते और भजते हैं। आखिर क्या कारण है कि 'मानस' की तरह न तो 'कवितावली' का कोई पाठ करता है और न ही उसके पाठ करने के 'आदेश' दिए जाते हैं।

तुलसी रचित रामचरितमानस की चमत्कारिक लोकप्रियता की पड़ताल लगातार जारी है। मानस केन्द्रित नवीनतम पुस्तक 'रामचरितमानसः पाठः लीलाः संगीत' (शृंखला सम्पादक प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल) में रमण सिन्हा लिखते हैं, "अट्ठारहवीं शताब्दी में रामचरितमानस के प्रचार-प्रसार में दो महत्त्वपूर्ण कारकों का योग रहा है—एक औरंगजेब की मृत्यु (1707) और मुगल साम्राज्य के पतन के साथ देसी हिन्दू राजवाड़ों का उत्थान तथा दूसरा रामानन्दी सम्प्रदाय को राज्य का संरक्षण प्राप्त होना।"[2] महत्त्वपूर्ण तथ्यों और गम्भीर

शोध के आधार पर उनकी मान्यता है कि पुष्टिमार्गी भक्ति की ऐन्द्रिकता और अतिशय सौन्दर्यानुभूति के कारण आम लोगों से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान कृष्णभक्ति की अपेक्षा रामभक्ति की ओर गया। मठों आदि की संख्या चाहे जिस शाखा की अधिक रही हो किन्तु आम लोगों में कृष्ण भक्ति हमेशा सर्वाधिक लोकप्रिय रही है, इसमें दो राय नहीं। हाँ, यह सही है कि जब से 'राम' एक खास तरह की आक्रामकतापूर्ण भक्ति के प्रतीक बन गए हैं, तब से रामभक्तों की संख्या में काफी इजाफा हुआ है। जहाँ तक सवाल ऐन्द्रिकता और सौन्दर्यानुभूति का है तो रामचरितमानस में भले ही ऐन्द्रिकता न हो किन्तु तुलसीदास की जानकीमंगल, पार्वतीमंगल और दोहावली और रामललानहछू में ऐन्द्रिकता और सौन्दर्यानुभूति कई बार शालीनता की हदें पार करती नजर आती है। दोनों में फर्क यह है कि जहाँ कृष्णभक्ति में अधिकांश पुरुष दृष्टि से स्त्रियों का सौन्दर्य वर्णित है वहीं रामललानहछू एवं दोहावली में स्त्री दृष्टि से पुरुष यानी नायक यानी राम का नख-सिख वर्णन किया गया है। वर्णन करने वाली सखियाँ हैं। ये सखियाँ राम के पौरुष में लहालोट हो रही हैं। इस सौन्दर्यवर्णन में राम की आँखें, नाक, कान, विशाल भुजाएँ आदि तो हैं ही यहाँ तक कि रामचन्द्रजी के नाभि, त्रिवली और रोमावलियाँ भी हैं। रामलला नहछू तो घोर शृंगारिक रचना है ही। जानकीमंगल, पार्वतीमंगल और रामललानहछू में भक्ति रंचमात्र है।

'रामचरित्मानस' को अत्यधिक महिमामंडित करने के पीछे कुछ अन्य कारणों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। एक सामान्य-सा कारण तो यह है कि कविता कई बार केवल अपने गुण पर निर्भर नहीं करती है। कभी-कभी वह इस बात पर भी निर्भर करती है कि जो समाज का मानदंड तय करते हैं, वे अपने लिए किसे सुविधाजनक मानते हैं। 'मानस' समाज के सत्ताधारी वर्ग को एक तरह से जबर्दस्त सहारा देती है, जबकि 'कवितावली' ऐसा कुछ नहीं दे पाती। इसके विपरीत वह कटु सत्य और यथार्थ से साक्षात्कार कराती है। रमण सिन्हा द्वारा तुलसी की लोकप्रियता में हिन्दू राजवाड़ों के उत्थान के निहितार्थ को समझने की आवश्यकता है। रामचरितमानस इस सत्तावर्ग को वैचारिक आधारभूमि प्रदान करती है। 'मानस' को पूरी भक्ति-भावना से नित्य-प्रति पाठ करने की अनुशंसा इसलिए की जाती है क्योंकि यह राम के प्रति अगाध आस्था की महागाथा है। किन्तु 'कवितावली' वह आस्था दे पाने में असमर्थ है। 'कवितावली' में आस्था हिलती हुई प्रतीत होती है। यह कविता संशय की कविता है और जहाँ संशय हो वहाँ भक्ति नहीं। जाहिर है जिस रचना में भक्ति पर ही संशय हो, उसे प्रतिदिन पाठ करने के काबिल कैसे माना जा सकता है? अगर ऐसा नहीं होता तो 'कवितावली' को भी सभी पापों से मुक्ति का सेतु अवश्य माना जाता। 'हिन्दी रामकाव्य का स्वरूप' नामक अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक में प्रेमचन्द महेश्वरी ने ठीक ही लिखा है कि, "आध्यात्मिकता आस्था की आधारभूमि पर खड़ी होती है। अनास्था प्रश्नचिह्नों की आकुल मानसिकता में ही जन्म लेती है। आस्था अद्वैत और सामरस्य की साधना है, अनास्था संशय और द्विविधा की।"[3]

सम्पूर्ण 'रामचरित्मानस' और 'कवितावली' को छोड़ भी दें तो 'मानस' के 'उत्तरकांड' और 'कवितावली' के उत्तरकांड में जमीन-आसमान का फर्क है। और यह प्रचंड फर्क जब तुलसी जैसे सजग और सचेत कवि की रचना के सन्दर्भ में है तो इसे महज संयोग कहकर नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है। 'रामचरित्मानस' के उत्तरकांड में कलियुग का प्रकोप तथा उससे मची अस्त-व्यस्तता का मूल कारण है— 'नाना पुराण निगमागम' तथा वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना लेकिन आश्चर्य है कि 'कवितावली' में इसका मूल कारण कुछ और ही है। वह कारण है भूख—"आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।" इस कटु सत्य से रू-ब-रू होने के पश्चात् उन्हें लगता है असली रावण तो दारिद्रय है :

"दारिद-दसानन दबाई दुनी दीनबंधु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहाकरी।"

कहीं एक ओर 'रामचरित्मानस' में रामराज्य की यह स्थापना कि—"नहीं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुधन लच्छन हीना॥" और कहाँ 'कवितावली' का यह भयावह और क्रूर सच्चाई। इस समय कवि को इन सारी अव्यवस्थाओं का मूल कारण वेद-द्विज निन्दा नहीं दिखती, बल्कि दिखती है :

"पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन गन अहन अखेटकी
ऊँचे-नीचे करम धरम अधरम करि
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।"

(कवितावली, उत्तरकांड टीका—लाला भगवान दीन, पद-96)

जब तुलसीदास 'कवितावली' में यहाँ तक कहने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि भूखे, असहाय बच्चों के लिए तो चने के चार दाने ही चार सिद्ध फल—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष हैं तो दोनों रचनाओं के 'उत्तरकांड' का फर्क मालूम होता है। और मालूम होता है कि तुलसीदास किस प्रकार धीरे-धीरे मानवीय साँचे से अलग हो रहे हैं। 'कवितावली' में आकर राम के मात्र दर्शन और उनके चरण धोने से न तो किसी केवट का दारिद्रय दूर होता है और न ही उसे पुरानी सारी मजूरी मिल जाती है—

नाथ आजु मैं कान्ह न पावा। मिटे दोष दुख दरिद दावा। बहुत काल मैं किन्हिं मजूरी। आजु दीन्ह विधि बनि भालि भूरि।"

(लोकवादी तुलसीदासविश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 94)

क्योंकि 'कवितावली' की भूख केवल और केवल पेट की भूख है और पेट की भूख को अध्यात्म या वेद-पुराण के पालन से नहीं मिटाया जा सकता। इस बात का अहसास 'कवितावली' के रचनाकार को हो गया था। 'कवितावली' या 'हनुमानबाहुक' में आकर अचानक तुलसीदास को इस यथार्थ से साक्षात्कार होता है, ऐसा नहीं है। इस यथार्थ तक पहुँचने के लिए उन्हें समाज से लेकर खुद अपने तक से जबर्दस्त संघर्ष करना पड़ा था। अगर गौर से देखा जाए तो तुलसीदास मध्यकाल के सर्वाधिक आत्मसंघर्षी कवि हैं। उनके आत्मसंघर्ष को सही-सही समझ लेना ही उनके मोहभंग को समझना है, क्योंकि उनका मोहभंग इसी आत्मसंघर्ष का परिणाम है।

गोस्वामी तुलसीदास के आत्मसंघर्ष को व्यापकता और गहराई से जानने के लिए हमें उनकी व्यक्तिगत ज़िन्दगी में झाँकना होगा। 'दूसरी परम्परा की खोज' में डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी अन्तिम पुस्तक तुलसीदास पर लिखना चाहते थे। महाकवि का जीवन-संघर्ष उन्हें अपने ही जीवन जैसा लगता था। 'तुलसीदास का स्मरण' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है, मुझे तुलसीदास का स्मरण करने में विशेष आनन्द आता है। यह जो व्यक्ति हमारे लिए इतना पूज्य है, कोटि-कोटि भारतवासियों के हृदय और मस्तिष्क को बल दे रहा है, वह कोई राजा-महाराजा नहीं था, लक्ष्मी का लाड़ला सपूत नहीं था, शास्त्रार्थ सभा में पंडितों को पराजित करनेवाला कीर्ति जिजीविषु पंडित नहीं था, विद्यापीठों की कठोर रणभूमि के अदृश्य विकट संग्राम में विजयी महारथी नहीं था। बल्कि बहुत ही साधारण गृहस्थ परिवार में उत्पन्न हुआ था। औसत से कहीं नीचे उसकी आर्थिक स्थिति थी। अपनी दीनता बताने के आवेश में कभी-कभी इस महापुरुष ने ऐसी बातें कही हैं जो हृदय को गला देती है—हाय, हाय कैसा भाग्यहीन रहा होगा वह बालक जिसके माँ-बाप ने जनमते ही स्वर्ग का रास्ता लिया—'पिता जग जाय तज्यों।'[4]

जीवन भर इस महान पुरुष को अपनी वह दारुण दुरवस्था नहीं भूली। युवावस्था भी बहुत सुख की नहीं थी। काशी में पंडितों ने उन्हें बड़ा तंग किया—गाली-गलौज, डाँट-फटकार। हमेशा से ही ऐसा होता आया है। बड़े तेज को बर्दास्त नहीं कर सकने से लोग गाली-गलौज पर उतर आते हैं। कहना शुरू किया यह जुलाहा है, यह अघोर पंथी है, यह यह है, वह-वह है। तुलसीदास हैरान। हे विधाता, लोग इतने दारुण क्यों हो जाते हैं? बड़ी मानसिक ग्लानि के समय तुलसीदास जैसा महात्मा ऐसी बात कह सकता है। अपने प्रसिद्ध भजन 'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौगे' में उन्होंने कहा है कि कभी ऐसा होता कि मुझे संत सुभाव मिल जाता और पुरुष वचन 'अति स्त्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगे।' कितनी करुण प्रार्थना है। 'पुरुष' वचनों का प्रहार उन पर हुआ था, चोट भी लगी थी, तिलमिलाकर रह गए थे। उत्तर तो वे क्या देते? इतनी मात्रा में ज़हर पीकर इतना अमृत देनेवाला आदमी चोट का जवाब चोट से कैसे दे सकता था? परन्तु जलन होती थी। वे अपने राम से प्रार्थना करते थे कि नाथ शक्ति दो अग्नि में न जलूँ।[5]

तुलसीदास के संघर्षपूर्ण बचपन की दुख भरी दास्तान है—'कवितावली'। जब व्यक्ति अत्यन्त कष्ट में होता है और अकेलेपन से गुजरता है तब बचपन की एक-एक घटना उसे याद आती रहती है। इसलिए 'कवितावली' नॉस्टेलजिया की रचना प्रतीत होती है। यह सुख की 'नॉस्टेलजिया' से जुड़ी हुई नहीं है बल्कि भारी व्यथा और पीड़ा की 'नॉस्टेलजिया' है। यह वह जीवन यात्रा है जिसमें जीवन के अन्तिम दिनों में कवि को बड़ा गहरा बोध होता है कि वह जन्म से दुख में रहा, सुख का मुँह नहीं देखा। यह एक अद्भुत लेकिन स्वाभाविक स्थिति है कि जीवन के जिस दौर में तुलसीदास को पूर्णता का बोध होना चाहिए था, वे गहरी प्रश्नाकुलता से जूझते हैं। यह प्रश्नाकुलता इतनी जबर्दस्त है कि भक्ति ही नहीं 'उनके आराध्य तक इस प्रश्न से बच नहीं पाते, 'कवितावली' का कवि 'रामचरित्मानस' में इस तरह का पद लिखना सोच भी नहीं सकता था जिसमें वह अपने लिए चिन्तित न होकर राम के अपयश के लिए चिन्तित है—

लोक एक भाँति को तिलोकनाथ लोकबस
आपनों न सोचु, स्वामी सोच ही सुखात हौं।

(कवितावली, टीका—लाला भगवानदीन उत्तरकांड, पद-123)

तुलसीदास ने राम को उपास्य मानकर 'मानस' में आस्था का भव्य भवन निर्मित किया था, किन्तु कष्ट सहते-सहते एक बार तुलसी की आस्था भी डगमगाने लगती है। तुलसीदास ने कदाचित अत्यन्त दुखी और क्षुब्ध होकर लिखा—"कियो न कछु, करिबो न कछु, कहिबो न कछु, मारिबोई रहौ हैं।"

(कवितावली—टीका-लाला भगवानदीन, उत्तरकांड, पद-91)

तुलसीदास को एक-दूसरे स्तर पर भी आत्मसंघर्ष करना पड़ा। 'मानस' के रामराज्य का मुख्य आधार है—वर्णाश्रम व्यवस्था। पूरे रामराज्य के केन्द्र में वर्णाश्रम व्यवस्था अविचल भाव से स्थिर है। सब कुछ ठीक-ठीक और कुशल मंगल रहेगा

जब तक वर्णाश्रम धर्म का पालन सही-सही होता रहेगा। मसलन मानस के रामराज्य में किसी को किसी प्रकार का कष्ट, रोग या भय नहीं सताएगा बशर्ते कि वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत बताए गए धर्मों और वेद के रास्ते पर अक्षरशः चले। रामराज्य की स्थापना को व्यक्त करनेवाला प्रसिद्धतम दोहा इसी भाव को व्यक्त करता है—

बरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग।

(रामचरित्मानस, टीका विजयानन्द—त्रिपाठी, उत्तरकांड, पृ. 46, दोहा 12)

रामराज्य में निवास करनेवाली जनता भौतिक और दैहिक ताप से ही नहीं बल्कि दैविक ताप तक से मुक्त रहेगी, सभी आपस में प्रेम और स्नेह से चलेंगे, केवल उन्हें बताए गए धर्म अर्थात् वर्णाश्रम धर्म तथा वेदों की नीतियों का अनुसरण करना पड़ेगा—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य नहि काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

(उपर्युक्त, पृ. 47, चौ.-1)

लेकिन परिस्थितिवश जिस वर्ग और वर्ण के हितार्थ वे वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनर्स्थापना कर रहे थे, उसी वर्ग ने जाने-अनजाने उनकी घनघोर उपेक्षा और अवहेलना की। उन्हें तरह-तरह से बदनाम किया और कष्ट पहुँचाया। विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है, "लोक और वेद दोनों में ताल-मेल बिठाने के चक्कर में तुलसी इस विडम्बना को ठीक-ठीक नहीं पहचान सके। वैसे जात-पाँत, ऊँच-नीच की धारणा ने उनके साथ कैसा सलूक किया था, यह उनकी कविता में एकाध स्थल पर नहीं, अनेकानेक स्थलों पर देखने को मिलता है।"[5] तुलसीदास की स्थिति 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत की' जब हो गई तब उन्हें वास्तविकता का पता चला। जब वर्णाश्रम धर्म के समर्थक तुलसी के वर्ण पर ही सन्देह किया जाने लगता है, वैष्णव तुलसी को अवधूत कहकर निन्दा की जाती है, निश्छल तुलसी को 'कुसाज' कहनेवाला बड़ा ही दगाबाज बताया जाता है तब उनका वर्णाश्रम धर्म के प्रति मोह कम होने लगता है। पहले उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का जितना ऊँचा उदात्तीकरण किया था, बाद में चलकर वे वर्णाश्रम के प्रति उतने उदार नहीं रह गए। ऐसा नहीं है कि 'रामचरित्मानस' के बाद तुलसी पूर्णतः जाति-पाँति के विरोधी हो गए। लेकिन वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति अहंकार या महिमामंडन की प्रवृत्ति धीरे-धीरे बहुत कम हो गई और कई बार जबर्दस्त विरोध के स्वर भी सुनाई देने लगे।

कवितावली कई मायने में आत्मसंघर्ष की निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति है। 'पूजिए विप्र सकल गुण हीना, सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना' कहनेवाला कवि सम्पूर्ण 'कास्ट-सिस्टम' का विरोध ही नहीं करता है बल्कि उसे घनघोर रूप से चुनौती तक देता है। जब लोग अपनी जात-पाँत की चर्चा करके उनका उपहास करते थे, तब तुलसी यही कहकर जवाब देते थे कि उसकी कोई जाति-पाँति नहीं, वह किसी की जाति-पाँति जानना भी नहीं चाहता है। उसकी जाति को लेकर सवाल उठानेवाले लोग कितने ना-समझ हैं जो यह भी नहीं समझते कि मालिक की जाति ही गुलाम की भी जाति होती है। तुलसी ये सारी बातें केवल कह ही नहीं रहे थे बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर जाति-प्रथा के अंधेपन से उपजी यंत्रणा को भोग भी रहे थे—

"मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहू की जाति-पाँति,
मेरे कोउ काम को, न हौं काहू के काम को।
आति ही मायने उपखानो नहिं बूझे लोग,
साथ ही को गोत गोत ही गुलाम को।"

(कवितावली, टीका—लाला भगवानदीन, पद, 107)

'कवितावली' में तो कभी-कभी जाति-व्यवस्था को लेकर तुलसी का आक्रामक तेवर देखने योग्य है। जिस वर्णाश्रम व्यवस्था को न मानने को लेकर तुलसीदास कबीरी परम्परा के कवियों और लोगों को चुन-चुन कर गाली देते हैं :

"द्विज निन्दक बहु नरक भोग करि जग जनमै बायस सरीर धरि।
सुर श्रुति निन्दक जे अभिमानी रौरव नरक परहिं ते प्रानी।"

(रामचरित्मानस, टीका—विजयानन्द त्रिपाठी, उत्तरकांड, पृ. 230, पद-12)

जिस व्यक्ति को मानस में वर्णाश्रम धर्म टूटने की वेदना इतनी अधिक व्यथित करती है कि :

"सब लोग वियोग बिसोक हुए बरनाश्रम धर्म आचार गए।"

(उपर्युक्त, पृ. 177)

वही व्यक्ति (तुलसीदास) 'कवितावली' में आकर इस व्यवस्था को एक जोरदार झटका देता है और घोषणा करता है कि मुझे जाति बिगड़ने का डर नहीं है। जो व्यक्ति 'मानस' में जाति-व्यवस्था से टस-से-मस नहीं होता है, वही व्यक्ति 'कवितावली' में यहाँ तक कहता है कि मुझे जाति-व्यवस्था से कुछ भी लेना-देना नहीं है। क्योंकि किसी की बेटी से मुझे अपना बेटा ब्याहना नहीं है। तुम्हें जो इच्छा हो कहो—धूत, अवधूत, जुलाहा जो मर्जी हो :

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति

बिगारब न सोउ।
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु कोऊ।
माँगिके खैबो मसीतको सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ।

(कवितावली, टीकाकार–लाला भगवानदीन, उत्तरकांड, पद-106)

इतना बड़ा परिवर्तन शायद ही किसी कवि में हुआ हो। इस परिवर्तन (मोहभंग) की व्यथा या पीड़ा को सहज ही समझा जा सकता है। यही आत्मसंघर्ष और द्वन्द्व कविता की श्रेष्ठता है। इस मोहभंग का कारण यह है कि वे जाति से ब्राह्मण थे लेकिन तत्कालीन ब्राह्मण उन्हें ब्राह्मण मानने तक से इनकार करता था। तुलसीदास गहरी वितृष्णा उस समाज से अनुभव करते हैं, जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्बन 'कवितावली' में हुआ है।

इन सारी चीजों को देखने से लगता है कि तुलसी इस बात के ज्वलंत प्रमाण हैं कि कविता में बोध और संस्कार के बीच कितनी कशमकश हो सकती है। यह कशमकश कवि के आत्मवक्तव्य में सघन रूप से व्यक्त हुआ है। इस दृष्टि में 'कवितावली' तुलसी के व्यक्तित्व और कविताई को समझने के लिए लिए अद्भुत और अनोखी पुस्तक है।

अपने प्रखर युगबोध और गहरी संवेदनशीलता के चलते जब रचनाकार अपने सामयिक यथार्थ से सीधे और तीखे 'कनफ्रंटेशन' की भूमि पर उतर आता है तो उसके बने-बनाए सपनों की दुर्गति हो जाती है। 'उसको अपने समय की कड़वी वास्तविकताओं का दारुण अहसास होता है और बदली हुई दृष्टियों से रूढ़ और अप्रासंगिक हो गए अपने सपने को आगे ले जाने का रास्ता उसे नहीं सूझता। वह अपने को एक विलाप की चपेट में पाता है। फलतः 'कवितावली' तुलसी के विफल संघर्ष अथवा 'फ्रस्टेशन' की बेहद करुण कविता है। 'रामचरितमानस' में रामराज्य के प्रसंग में जो स्वप्नग्रस्तता है, 'कवितावली' में वही कवि के मन के साथ इस स्वप्न के तदाकारित न हो पाने की 'ट्रेजिक' भंगिमा है। कवितावली के सन्दर्भ में हम यह देख सकते हैं कि रामराज्य के स्वप्न में अपनी ही सिरजी समाज-व्यवस्था की बुराइयों से वह त्रस्त हो जाता है।'

तुलसीदास के अपने कल्पित सुख की निरर्थकता उनके गले पड़ जाती है क्योंकि सुख अगर दूसरों के द्वारा जारी निर्देशों के पालन में और किसी को उसकी जाति बताकर उसकी हैसियत का अनवरत अहसास कराए जाने के तिरस्कारजनक और दमघोंटू वातावरण में सम्भव ही नहीं है। तब फिर महाकवि जैसे विक्षुब्ध होकर 'मानव' सत्य की ओर मुड़ते हैं, लेकिन अपने समय की जातिवादी ताकतों से भिड़ने से साहस वे नहीं जुटा पाते। डॉ. रमेश कुंतल मेघ के अनुसार, "कवि राम के महनाम को अन्तर्लोक के एक विकल्प राज्य तथा आनन्द प्रतीक के रूप में दैदीप्यमान करता है, किन्तु चारों ओर भयानक समय (कलिकराल) और अकेला आत्मनिर्वासन उसे भी घेर लेता है। वह आत्मसंघर्ष की अग्नि को पेट की महाग्नि के युगदर्शन तक भी ले आता है। लेकिन वह कृषक संघर्ष वर्ण विद्रोह की स्थिति को छूने से बस चुक ही जाता है। वह तो माँग कर खाने तथा मस्जिद में जाकर सोने तक को तैयार है"[7] :

माँगि कै खैबो, मसीतको सोइबो
लेबोको एकु ना, दैबे को दोऊ।

(कवितावली, टीका–लाला भगवानदीन, उत्तरकांड-106)

कवितावली में वर्णवाद और वेद-पुराण परास्त भले न किए गए हों, पछाड़ खाकर गिरते जरूर हैं। एक समतावादी, न्यायवादी आधुनिक दृष्टि से देखा जाए तो कहना चाहिए कि तुलसी के लिए यह मोहभंग उनकी कम बड़ी उपलब्धि नहीं है। सवाल अभी भी बना ही रह जाता है कि 'कवितावली' में व्यक्त मोहभंग इतना करुण क्यों है? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह मान्यता है कि किसी भी कवि का जो नायक होता है, वह चाहे ऐतिहासिक चरित्र हो या पौराणिक, मगर जैसे ही वह नायक बनेगा, वह कवि या लेखक की अपनी कल्प-सृष्टि हो जाएगा। लेकिन तुलसी के राम केवल कल्प-सृष्टि नहीं हैं। अगर ऐसा न होता तो राम इतने प्रभावशाली न होते। तुलसी के राम असल में विभाव पुरुष हैं। वे एक साथ कई आदर्शों को निभा ले जाते हैं, कई परस्पर विरोधी लगनेवाले भावों को एक साथ वहन करते हैं। जिन आदर्शों, भावों और भावनाओं के राम मूर्त रूप हैं, वे सब बहुत जबर्दस्त ढंग से विचारधारात्मक हैं, एक ऐसी विचारधारा के खाँचे में आबद्ध हैं जो कतई सार्वभौम नहीं कही जा सकती।

गजानन माधव मुक्तिबोध के अनुसार, "तुलसीदास ने अपनी दुर्दमनीय बौद्धिकता के बल पर...जाति विरोधी सुधारवादी वाणी के विरुद्ध प्रत्यक्ष और प्रकट रूप से वर्णाश्रम धर्म के सार्वभौम औचित्य की घोषणा की थी।"[8] कवितावली में वर्णाश्रम धर्म के औचित्य की यही स्वघोषित सार्वभौमिकता कवि की अपनी व्यथा की रोशनी में आकर टूट जाती है। जितने निरंकुश और प्रबल ढंग से 'मानस' में एक पूरी तर्क व्यवस्था के साथ तुलसीदास चीजों को रखते हैं, उसी के कारण 'कवितावली' की कविता इतनी करुण कविता है। बुनियादी तौर पर यह भी उसी मर्यादा का मोहभंग है और एक गहरी

आस्था के सतह पर उतर आने की त्रासदी है।

आलोचक बच्चन सिंह ने अपने एक लेख में तुलसी के मोहभंग को रेखांकित करते हुए लिखा है कि मध्यकालीन धार्मिक व्यवस्था में प्रत्येक समस्या का हल राम या कृष्ण है—'कलिनाम कामतरु राम को।' राम का नाम कामतरु है। वह नाम दरिद्रता, अकाल, दुख, दोष आदि का विनाश करता है। परन्तु क्रमशः यह आस्था कमजोर पड़ने लगती है। उनको लगा कि कहीं कालिकाल भगवत् भक्ति से अधिक शक्तिशाली तो नहीं। यानी भौतिकता आध्यात्मिकता से कहीं बलवान तो नहीं है? उनको इस बात का अत्यधिक क्लेश है कि राम नाम से उनके पापों को भस्म क्यों नहीं किया? शंकर के उपदेश मर रहे हैं। गंगा के किनारे धर्म धारण करना किसी काम का नहीं रह गया। फिर भी वे कहते हैं—'राम नाम के जपे जाय जिय की जरनि' तत्कालीन समाज की दशा को देखकर वे संत्रस्त हो उठते हैं :

"हौं मन में अपनाइए तुलसिहि कृपाकरि
कालि बिलोकि हहरयो हौं।"

फिर भी उन्हें महसूस होने लगा कि राम की ओर से कहीं-न-कहीं ढिलाई जरूर है। राम की ओर से यह ढिलाई 'कवितावली' से पहले 'विनय पत्रिका' में ही दिखने लगती है। 'विनय पत्रिका' में तुलसीदास कहते हैं कि यद्यपि सब प्रकार से हार चुका हूँ, मुझे नरक में जाने का भी कोई भय नहीं। किन्तु मुझ तुलसीदास को खेद है तो बस इस बात का कि आपके नाम ने भी मेरे पापों को न जलाया। आपका नाम मुफ्त में ही बदनाम होगा, यही एक डर है :

"नाहिन नरक परत मो कहँ डर, जदारी हौं अति हारो,
यह बड़ि त्रासदास तुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो।"

(विनय पत्रिका, टीका—वियोगी हरि, पद-94)

'विनय पत्रिका' का कवि तुलसीदास राम के 'करतब' की ओर टकटकी लगाए देखता रहा लेकिन राम ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इसलिए अब तुलसीदास ने राम नाम का पुतला बाँधने का निश्चय कर लिया है क्योंकि अब उससे अधिक उपेक्षा सही नहीं जा रही है :

हौं अबलौं करतुति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधि है, सहि न जात मो पे परिहास एते।

(विनय पत्रिका, टीका—वियोगी हरि, पद-241)

अन्त में तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से 'विनय पत्रिका' में लिखा कि या तो मुझे अच्छी तरह अपनी शरण में रख लीजिए नहीं तो मुझ नीच को मार डालिए। अब मैं आपका निहोरा न करूँगा। बार-बार लकीर खींचकर तुलसी ने यह सच्ची बात कह दी है :

राखिये नीके सुधारि, नीच को डारिये मारि,
दुहूँ ओर की बिचारि अब न निहोरिहौं।
तुलसी कही है साँची रेख बार-बार खाँची
ढील किए नाम-महिमा की नाव बोरिहौं।

(विनय पत्रिका, टीका—वियोगी हरि, पद-258)

जाहिर है कि राम द्वारा न तो दरिद्रता जा रही है और न ही भौतिक एषणाएँ, न अकाल दूर किया जा सकता था और न रोग-शोक।

'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' में कलिकाल और राम भक्ति का द्वन्द्व और अधिक घनीभूत हो गया है। मृत्यु-संत्रास के साथ तो सभी पुरानी आस्थाओं पर प्रश्न-चिह्न लग जाते हैं। 'कवितावली' में कवि यथार्थवादी स्तर पर उतर कर कहता है :

"तुलसी बुझाई एक राम घनस्याम ही तें
आगि बड़वागितें बड़ी है आगि पेटकी।"

(कवितावली, उत्तरकांड टीका—लाला भगवान दीन, पद-96)

लेकिन अपनी आस्था के अनुरूप जो दिन-प्रतिदिन झूठी पड़ती जा रही है, वे इसकी एक मात्र दवा रामभक्ति को ही मानते हैं। फिर भी कलिकाल उन्हें गहरा संत्रास देता है। किसान न खेती कर पाता है न भिखारी को भिक्षा मिलती है, सभी लोग जीविकाविहीन हो गए हैं। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर लोग केवल एक-दूसरे का मुँह ताक रहे हैं :

खेती न किसानको, भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी
जीविकाविहीन लोग सीद्यमान सोचबस
कहैं एक एकन सौं, कहाँ जाई, का करी?

(कवितावली, टीका—लाला भगवानदीन, उत्तरकांड, पद-102)

अन्त में वे पूर्णतः अलगाव की स्थिति में आकर कहते हैं :

भगीरथी-जलुपान करौं आलनाम कै राम के लेत निते हौं।
मोको न लेनो न देनो कछू कलि भूलि न रावरी और चिते हौं।
जानि के जोरू करौं परिनाम, तम्है पछितेहौं पै मैं न मिते हौं।
ब्राह्मण ज्यों अगिल्यो उरगारि, हौं त्यों ही निहारे हिएँ नहिते हौं।

(कवितावली, टीका—लाला भगवानदीन, उत्तरकांड, पद-102)

बच्चन सिंह के शब्दों में, "यहाँ ब्राह्मणपन पुनः उभरता है, किन्तु यह ब्राह्मणपन हततेज हो गया है। यह आत्मविश्वास बहुत कुछ दिखावटी है। तुलसी कलिकाल से यानी तत्कालीन

समाज से अलग होना चाहते हैं। वे डरी हुई मुद्रा में कहते हैं, 'कालि भूलि न रावरी ओर चितैहौं'। ने निश्चित रूप से उसे अधिक बलवान मान लेते हैं और नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं। अन्तिम पंक्ति आत्मरक्षात्मक है, जो उसके अलगांव और मोहभंग को और भी अधिक चटकीला बना देता है।"[9]

'कवितावली' में तुलसी के नितान्त विवश क्रोध को कई स्थानों पर देखा जा सकता है। वे इसी पूरी जाति-व्यवस्था का कुछ भी नहीं विगाड़ सकते थे। वे अधिक-से-अधिक यही कह सकते थे कि आपकी वर्णाश्रम व्यवस्था आप ही को मुबारक हो, मुझे इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। जिस व्यवस्था में गुण की कद्र नहीं है, भक्ति विद्वता की पहचान नहीं, लेकिन इसके विपरीत यह पूछा जाए कि तुम ब्राह्मण हो या नहीं। अगर ब्राह्मण हो तो सम्मान होगा अन्यथा नहीं। मैं नहीं मानता ऐसी (दुर) व्यवस्था। 'मसीत' शब्द निश्चित रूप से वर्णाश्रम व्यवस्था से अलग हो जाने की बेचैनी और छटपटाहट को व्यक्त करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिसने अपनी पूर्व रचना 'मानस' का एक एजेंडा वर्ण व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना रखा था, और ब्राह्मण के प्रति एक खौफ़नाक वातावरण तैयार किया था, जिससे लोग सपने में भी उसका विरोध या अवमानना नहीं कर सके—

इन्द्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला।
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। विप्र द्रोह पावक सो जरई।

(रामचरित मानस, टीका—विजयानन्द त्रिपाठी, उत्तरकांड, पृ. 192, चौ. 7)

वर्ण व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना 'मानस' का एक एजेंडा इस अर्थ में है कि एजेंडा का सीधा सम्बन्ध विचार से होता है और तुलसीदास की विचारधारा पूरी प्रखरता के साथ उत्तरकांड में दिखाई देती है—विशेषकर रामराज्य तथा कलियुग वर्णन में। कहने की आवश्यकता नहीं कि रामराज्य एक आदर्श स्वप्न है जहाँ सभी वर्ण के लोग 'यथोचित' अपने-अपने कर्तव्य का पालन करेंगे और इसीलिए यह आदर्श राज्य है। दूसरी तरफ कलियुग एक ऐसा यथार्थ है जहाँ सभी वर्ण विशेषकर निम्नवर्ण के लोग अपने कर्तव्य से च्युत हो गए हैं और इसीलिए यह कलिकाल है अर्थात् रामराज्य का विपरीतार्थक। दरअसल, निम्नवर्ण का अपने धर्म से च्युत होना ही ब्राह्मण द्रोह है क्योंकि उसका धर्म और कर्म ही है—ब्राह्मणों का पाद-वन्दन तथा सेवा। और अगर वह यह दोनों काम नहीं करता है तो स्वभावतः ब्राह्मणद्रोही कहलाएगा। ऐसी स्थिति में तुलसीदास निम्नवर्णों को और अधिक आतंकित करते हुए कहते हैं कि यह द्रोह कोई साधारण द्रोह नहीं है बल्कि ब्राह्मण द्रोह, देवद्रोह है :

अवगुन सिंधु मन्दमति कामी। वेद विदूषक पर धन स्वामी।
विप्रद्रोह पर द्रोह विसेषा। दंभ कपट जिअ धरे सुबेषा॥

(रामचरितमानस, टीका—विजयानन्द त्रिपाठी, उत्तरकांड, पृ. 76, चौ. 4)

राम के स्नेह और प्रेम से शूद्र तो उसी समय वंचित हो गया था जब तुलसीदास ने लिखा :

तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुति धारी। तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु तें अतिप्रिय बिग्यानी॥

(उपर्युक्त, पृ. 147, चौ. 3)

कहने का आशय यह कि राम की भक्ति प्राप्ति के लिए अतिरिक्त योग्यता हो तो अच्छी बात है लेकिन न्यूनतम योग्यता ब्राह्मण होना अनिवार्य है। तुलसी महान कवि इसी अन्तर्द्वंद्व और आत्मसंघर्ष के कारण हैं। 'कवितावली' का कवि अपने विचार को, अनुभव को तथा जीवन की विसंगतियों को न छिपा रहे हैं और न ही उनसे बचकर निकल रहे हैं बल्कि उसे भी उजागर करते चलते हैं। वर्णाश्रम धर्म को सर्वश्रेष्ठ कहनेवाला कवि जब इस व्यवस्था का इस कदर विरोध करने लगे तो इसके पीछे जो दर्द और पीड़ा है, वह पूरे समाज का दर्द है। समाज का दर्द और पीड़ा जितने सघन रूप में 'कवितावली' में मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है—

"पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँति।
अबला अबल सहज जड़जाती।"

(उपर्युक्त, पृ. 211, चौ. 8)

'रामचरितमानस' में तुलसीदास नारी निन्दक के रूप में उभर कर सामने आए हैं। नारी निन्दक रूप से बरी करने के लिए आलोचकों ने एक-से-एक तर्क और कई बार कुतर्क इकट्ठे किए हैं। मसलन नारी निन्दा वाले संवाद खल पात्र के हैं, क्षेपक हैं, नारी यहाँ माया के रूप में आई है आदि-आदि। लेकिन अब लगभग अधिकांश आलोचक इस बात से सहमत हो चुके हैं कि तुलसी कृत 'मानस' में नारी निन्दा के स्वर पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। स्वयं विश्वनाथ त्रिपाठी ने भी 'लोकवादी तुलसीदास' में लिखा है, "तुलसीदास जितनी नारी निन्दा किसी अन्य सगुण भक्त के यहाँ नहीं मिलेगी।"[10] तुलसी ही नहीं क्रान्तिकारी निर्गुण कवि कबीर तक में नारी निन्दा के स्वर मिलते हैं। कबीर ने तो नारी को 'नरक का कुंड' ही कह दिया—'नारी कुंड नरक का बिरना थामें बाग।' उन्होंने तो नारी संगति पर घनघोर आपत्ति व्यक्त की :

"नारी की झांई परत अंधा होत भुजंग,
कबिरा तिनके कौन गत नित नारी के संग।"

इस प्रकार अत्यल्प अपवाद को छोड़कर लगभग सभी मध्यकालीन कवि नारी-निन्दा से अपने आपको बचा नहीं पाए। तुलसीदास की महानता इस अर्थ में है कि 'रामचरित्मानस' के बाद तुलसीदास का नारी-निन्दा वाला पक्ष क्रमशः कम होने लगा है। इसका अर्थ यह है कि 'मानस' के बाद उन्होंने नारी के अर्थ और महत्त्व को समझकर उसकी आलोचना नहीं की। रचनाकार की प्रमुख विचारधारा किसी-न-किसी प्रकार उनकी सभी रचनाओं में अनुस्यूत रहती है। लेकिन जब कोई रचनाकार अपने किसी महत्त्वपूर्ण विचार को जिसे वह पहले काफी शिद्दत से महसूस करता था, अपनी बाद की रचनाओं में उसे भूल जाता है, या उस विचार को सायास त्याग देता है तो इसका सीधा मतलब यह है कि उसे उस विचारधारा की निरर्थकता का अहसास हो चुका है।

'मानस' का 'उत्तरकांड' यत्र-तत्र नारी उपदेशों से लदा-फदा है। उसमें नारी को अति नैतिक मर्यादाओं की बार-बार दुहाई दी गई है। अधम, नीच, पापी, दुराचारी पति को देवता मानने की अनुशंसा की गई है। लेकिन मानसोपरान्त विशेषकर 'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' में कहीं भी इसकी चर्चा नहीं है। 'मानस' के रामराज्य में शूद्र तथा अन्य कई चीजों के साथ-साथ नारी को भी औकात में रहने की बात की गई है लेकिन 'कवितावली' में ऐसा कुछ नहीं है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि रामराज्य में तुलसी ने नारी के लिए जो सामाजिक मर्यादा और नैतिकता के कठोर और निरर्थक मानदंड रखे थे उनसे उनका मोहभंग निश्चित रूप से बाद की रचनाओं में हुआ। ऐसा नहीं है कि तुलसी ने 'मानस' में सभी प्रकार की नारियों की निन्दा की है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलसी के 'मानस' में व्यक्तिवाचक नारी प्रशंसित है और जातिवाचक नारी निन्दित है।

'रामचरित्मानस' के बाद उन पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता है। इस प्रकार तुलसी 'कवितावली' में आकर नारी निन्दा करने की संतों की एक प्रिय धार्मिक रूढ़ि को भी तोड़ देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस के बाद तुलसी कई रूढ़ियों और अपनी ही बनाई कई मान्यताओं को तोड़ते हैं। डॉ. रमेश कुंतल मेघ के शब्दों में, "मानस रचना के समय उनका आदर्शवादी आवेग चरमोत्कर्ष पर था। 'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' तक आते-आते वे काफी यथार्थवादी हो जाते हैं और देश, कुल, राज, मानव आदि के यथार्थ का प्रौढ़ परिष्कृत अनुभव कर चुके होते हैं। आश्चर्य है कि 'कवितावली' में पहुँचकर उनमें न तो ब्राह्मणों को सर्वोपरि बनाने का मसीहाई जोश है, न नारियों को अधम कहने का विश्वास है और न दरिद्रता तथा पीड़ा को माया कहने का अज्ञान... 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के बाद वर्णाश्रम धर्म के प्रति भी पोंगा-पंथी नहीं रह सके क्योंकि वे स्वयं भी जात-पात के घातक नतीजे झेल चुके थे। 'मानस' के बाद उन्होंने नारी जाति की निन्दा कभी नहीं की और न ही ब्राह्मणों की अलौकिक शक्ति से जनता को संत्रस्त किया।...मानस में रामराज्य के बाद वे जीवन में उपनिर्दिष्ट मोड़ और चौराहे इस कदर आए कि शनैः-शनैः आदर्श के विभ्रम से बाहर निकलते चले गए।"[11]

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो बराबर तुलसी के छात्रों के सामने उठ सकता है, उसका रेखांकन भी अनिवार्य प्रतीत होता है। प्रश्न उठता है कि 'मानस' के उत्तरकांड में यहाँ-से-वहाँ तक रामराज्य का गुणगान किया गया है लेकिन 'कवितावली' के उत्तरकांड (जो आधे से अधिक भाग में है) में प्रसंगवश ही रामराज्य की चर्चा हुई है? क्या यह रामराज्य से तुलसी का मोहभंग नहीं है? 'मानस' का 'उत्तरकांड' जिसको कई क्षेत्रों में 'ज्ञानकांड' की संज्ञा दी जाती है, 'कवितावली' से किस तरह भिन्न है कि उसे इस तरह का कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया जाता है। आश्चर्य है कि कई लोगों को जो चीजें 'मानस' के उत्तरकांड में घनघोर रूप से आपत्तिजनक और असुविधाजनक लगती हैं, उसका तीखा प्रतिवाद 'कवितावली' में अन्यत्र नहीं बल्कि 'उत्तरकांड' में ही दिया गया है। आशय यह कि मानस के 'उत्तरकांड' में वर्णाश्रम को वैध ठहराने की जी-तोड़ कोशिश तुलसी ने की है लेकिन ठीक इसके विपरीत 'कवितावली' के 'उत्तरकांड' में ही विशेष रूप से वर्णाश्रम की इस वैधता को नकारा गया है।

'रामचरित्मानस' में तुलसीदास का कवि रूप निर्दिष्ट वैचारिकता की प्रतिबद्धता के कारण ढक-सा गया है। उसकी जगह उनका सूक्तिकार का रूप ज्यादा उभरकर सामने आया है। कवि की अपेक्षा 'मानस' के तुलसी वेद-पुराण के व्याख्याकार टीकाकार अधिक लगते हैं। 'उत्तरकांड' में तो वे निश्चित रूप से कवि नहीं उपदेशक हो गए हैं। लेकिन 'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' में पूर्णतः कवि के रूप में उभरकर सामने आए हैं। अतिरिक्त नैतिकतावादी, मर्यादावादी तथा आदर्शवादी केंचुल को 'कवितावली' में आकर वे फेंक देते हैं और सीधे-सीधे यथार्थ के रू-ब-रू खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कवितावली' में रामराज्य के आदर्श, नैतिकता और मर्यादा से बहुत हद तक तुलसी का मोहभंग हो जाता है।

'हनुमानबाहुक' तुलसीदास की अन्तिम रचना है। 'बाहुक' मृत्यु पीड़ा से कराहती रचना है। अधिकांश विद्वानों की राय है कि तुलसी का देहावसान बाहुपीड़ से ही हुआ। कलिकाल ने अन्ततः उन्हें डस ही लिया। हनुमान तुलसी के इष्टदेव थे। इसलिए बाहुपीड़ा के शमन के लिए उनकी प्रार्थना प्रारम्भ की :

औषध अनेक जंत्र, मंत्र टोटकादि किए,
बादि भये देवता, मनाए अधिकाति है।
करतार, भरतार, हरतार, कर्म, काल,
को है जगजाल जो न मानत इताति है।
चेरो तेरो तुलसी, 'तू मेरो कह्यो रामदूत,
ढील तेरी, बीर! मोहि परीर तै पिराति हैं।

(कवितावली, हनुमानबाहुक, सं. मताप्रसाद गुप्त, पद-30)

क्या यह राम की ढील स्वयं तुलसी की भक्तिपरक आस्था पर प्रहार नहीं है? "सारा 'बाहुक' आर्तनाद से भरा पड़ा है, करुणा से ओत-प्रोत है। सवैयों को छोड़कर सारा 'बाहुक' कवित्त में लिखा गया है। किन्तु दुख की बात तो यह है कि इस चीख-पुकार को कोई नहीं सुनता।"[12]

"कहीं हनुमान सों, सुजान रामराय सों,
कृपानिधान संकर सों, सावधान सुनिए।
तुमको कहा न होय हा हा! सो बुझैये मोहि,
हौंह रहौ मौन ही बयो सो जानि लुनिए।"

(उपर्युक्त, पद-44)

आलोचक बच्चन सिंह ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "इस मौन में आकर सारी कृपा याचनाएँ अपनी निरर्थकता में चुक जाती हैं। तुलसी इस यातना को अपनी नियति मानकर चुप हो जाते हैं। इतने बड़े भक्त का ऐसा मोहभंग शायद ही कभी हुआ हो। इस मोहभंग के साथ ही तुलसी आधुनिक जीवन-बोध के ही समीप आ जाते हैं। उनकी इतनी लम्बी जीवन-यात्रा मोहभंग की यात्रा है, जो स्वयं उनके विश्वासों और जीवन दोनों की अत्यन्त करुण ट्रेजडी है।"[13]

अन्त में हमारा निवेदन सिर्फ इतना है कि 'मानस' के बाद तुलसी की रचना का चरित्र बहुत कुछ बदल जाता है। कहीं-न-कहीं एक दूसरा मोड़ लेता प्रतीत होता है। 'मानस' में कवि के जो असली मुद्दे हैं, बदल जाते हैं। कवि के एजेंडा में जो सबसे महत्वपूर्ण (वर्णाश्रम, वेद-पुराण तथा नारी) था, वह धीरे-धीरे एजेंडा से खिसकने लगता है और 'हनुमानबाहुक' तक आते-आते निर्मूल हो जाता है। सोच के केन्द्रीय विषय बदल जाते हैं, जिसके फलस्वरूप कहने का अंदाज और उसके औजार बदल जाते हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि 'विनय पत्रिका' में राम तक आने में तुलसी को एक तिहाई पृष्ठ तक इन्तजार करना पड़ा है, 'कवितावली' में राम आए जरूर, पूरी भक्ति भावना के साथ आए लेकिन 'मानस' जैसे आत्मविश्वास और तेजस्वी रूप में नहीं आ सके। कहीं-कहीं तो 'कवितावली' के राम बहुत कमजोर और लाचार से दिखते हैं। और अन्त में 'हनुमानबाहुक' से तो जैसे राम गायब ही हो गए हैं। प्रसंगवश अत्यल्प स्थानों पर राम की मौजूदगी का अहसास होता है। जो कवि सीधे-सीधे राम को सम्बोधित करता था, उसका यह वाया-मीडिया महज संयोग नहीं है। अन्त तक आते-आते स्पष्ट रूप से तुलसीदास रामराज्य को असमंजस में पाते हैं :

"संकट समाज असमंजस में रामराज।"

(कवितावली-हनुमानबाहुक, सं.मताप्रसाद गुप्त, पद-6)

सन्दर्भ

1. श्री रामचरितमानस (उत्तरकांड) टीकाकार-श्री विजयानन्द त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपरा, बनारस
2. रामचरितमानसः पाठः लीलाःचित्रःसंगीत-रमण सिन्हा, राजकमल प्रकाशन
3. हिन्दी रामकाव्य का स्वरूप-प्रेमचन्द महेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 2009, पृ. 110
4. दूसरी परम्परा की खोज-डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन-1983, पृ. 20-21
5. उपर्युक्त, पृ. 22
6. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, तीसरा संस्करण 2007, पृ. 90
7. आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका) जुलाई, सितम्बर-1974, पृ. 28, (मेघ जी के आलेख से)
8. मुक्तिबोध ग्रन्थावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, पृ. 986
9. तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि-सं. केशव प्रसाद सिंह, वासुदेव सिंह, पृ. 47, (बच्चन जी के आलेख से)
10. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 55
11. तुलसी : आधुनिक वातायन से-डॉ. रमेश कुंतल मेघ, ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. 138
12. तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि, सं. डॉ. केशव प्रसाद सिंह, डॉ. वासुदेव सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, पृ. 48
13. उपर्युक्त।

बरवै में बिरवा (अमोला)

अष्टभुजा शुक्ल

त्रिलोचन शास्त्री मूलतः लोक के कवि हैं। त्रिलोचन का 'लोक' सच्चे अर्थों में आचार्य अभिनव गुप्त का लोक है। 'अभिनव भारती' के अनुसार—''लौकिक धर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद् धर्मोऽस्ति। लोको नाम जनपदवासी जनः। जनपदश्च देश एव!'' (अर्थात् नाटक में लौकिक धर्म से इतर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जनपदवासी जन-समुदाय ही लोक है। जनपद ही देश है।) उस जनपद के कवि त्रिलोचन धरती से लेकर दिगंत तक अविचल लोकेषणा सिद्ध करते हुए अपनी काव्यसत्ता को लोकसत्ता से रंच भर दीगर नहीं होने देना चाहते। इसके लिए वे बराबर शब्दों की धातु का खनन करके लोक की बोली-बानी के साथ कविता को एकात्म करने के उद्यम में भदेस माने जाने तक का जोखिम उठाते हैं। नागरेतर लोक ही शास्त्री का लोक है और वह अपने आप ही पारिभाषित आधुनिकता का प्रतिसंसार है। प्रसंगवश, 80-90 के फेर में फँसी हुई हमारी पिछली कविता भी 'लोक' का 'ID' प्रूफ लेकर ही अपनी सत्ता को दर्ज कराने के हेतु हलकान हुई है। हाशिए के वंचित सबाल्टर्न की पूँजी से यह अपनी लीक-छाँड़ि चलने की मुनादी कर चुकी है। परम्परा के सर्वखंडनवाद की सबसे ऊँची छलाँग लगाने की अधीरता में छलाँग इतनी ऊँची मंजिल से लगाने की कोशिश हुई कि कुछ सार्थक किया-कराया भी धरा का धरा रह गया और लोक की सौगन्ध से शुरू हुई काव्य-प्रतिज्ञा सबसे कमजोर कविता के सबसे वाचाल तर्कशास्त्र का उपहासात्मक उदाहरण साबित हुई। दरअसल अनूदित लोक के व्याज से विन्यस्त हिन्दी की यह कविता प्रायः विश्वग्राम (Global Village) के प्रत्ययों में अपना बाजार ढूँढ़ने में बेचैन रही जबकि अपनी सत्ता के अनुमोदन में इसने खुद को प्रगतिशील मानी जाने वाली कविता से छद्म-सम्बन्ध कायम रखना आवश्यक समझा। फलतः कविता की लोकनिष्ठा, लोक-कातरता में परिणत हो गई और लोक का प्रतिरोध, काव्य-प्रतिरोध की शक्ल में उभरकर सामने आया। कविता की सामाजिकता कवि और कविता तक सीमित रह गई। अपूर्व उछाल आया तो लोक की बिक्री में। इसका आशय यह कदापि नहीं कि 'लोक' की बिना पर अल्पकाल में ही अपना इहलोक और परलोक सुधार लेने की कोशिश में लगी हमारी कविता किसी भर्त्सना का पात्र या अनुल्लेखनीय है पर गलत नब्ज पर अँगुली रखने वाले नीम हकीम हर देशकाल में होते रहे हैं, होते रहेंगे। इस भविष्यवाणी का वर्तमान यह है कि हमारे उत्तर आधुनिक काल की कविता अपने प्रयोजनों में एक बार फिर रीतिवादी ललक से भरपूर प्रतीत हो रही है और आचार्य मम्मट के गिनाए सिर्फ दो प्रयोजनों को अपनाती हुई इतिहास का दोहराना चरितार्थ करने में लगी हुई है। वे दोनों प्रयोजन हैं—(1) यशसेऽर्थकृते (2) व्यवहारविदे। इनमें भी पहले प्रयोजन से किसी

संस्कृत महाविद्यालय चितखोर, पो. बढ़ुआ (बनकटी), जि. बस्ती-272123

समझदार काव्य प्रेमी को कम गिला-शिकवा हो सकता है लेकिन नम्बर दो का छा जाना परिदृश्य को काफी धुँधला करता है।

कविद्वय—नागार्जुन और त्रिलोचन न तो लोकान्ध हैं और न ही लोक-विक्रेता बल्कि दोनों लोक-सम्बद्ध और लोक-प्रतिबद्ध हैं। इसी प्रतिबद्धता और सम्बद्धता की कीमत पर कभी-कभी दोनों प्रतिरोध को भी किनारे रख देते हैं पर उसका वाणिज्यिक इस्तेमाल नहीं करते। दोनों लोक की आधुनिकता का साथ देते हुए और आरोपित आधुनिकता को नकारते हुए प्रगतिशील मूल्यों का निरन्तर प्रतिपादन करने वाले कवि हैं। यहाँ किसी तुलनात्मक मूल्यांकन की जरूरत न होते हुए भी नागार्जुन और त्रिलोचन की उभयता को एक-दूसरे के सापेक्ष देखना प्रासंगिक है। नागार्जुन की कारयित्री ऊर्ध्वाधर है तो त्रिलोचन की क्षैतिज। नागार्जुन की हँसी में गूँज है तो त्रिलोचन में खनक। नागार्जुन का व्यंग्य फटृठा-पीट है तो त्रिलोचन का कँटीदार। नागार्जुन में विक्षोभ और प्रखरता है तो त्रिलोचन में गहरी टीस और नुकीला कटाक्ष। पहले की कविता की खूबी ज्यादातर असंयम में है तो दूसरे की ज्यादातर संयम में। पहला करारी चोट करने वाला कवि है जबकि दूसरा करारी चोट सहने वाला।

नागार्जुन में हिन्दी जाति का साहस एवं स्वाभिमान है तो त्रिलोचन में उसकी ऋजुता एवं निरहंकार। एक के प्रतिकार में जनता की सामूहिक चेतना है तो दूसरे की सहनशीलता में तिर्यक् अवज्ञा। प्रतिकार एवं सहनशीलता—दोनों ही हिन्दी जाति, जीवन और कविता के स्वभाव हैं। नागार्जुन प्रकृत्या काव्यानुशासन तोड़ने वाले कवि हैं जबकि त्रिलोचन प्रायः उसकी मर्यादा में रहने वाले। इस लिहाज से एक ही अनुभूति, अभिव्यक्ति की निजता और काव्य शैली अलग प्रकार की प्रतीत होती है तो दूसरे की उससे सर्वथा भिन्न। बल्कि इन दोनों की काव्य-शैलियाँ निजी पृथगर्थता और सामूहिक एकार्थता का ऐसा सम्पूरक निर्मित करती हैं जिनमें हिन्दी कविता का पूर्वकृत एवं नवीकृत आवाजों के अनुवाद अपने-अपने आशयों के साथ झंकृत होते हैं। दोनों की भूमिज संवेदना के उभयनिष्ठ तन्तु जहाँ उन्हें कविता के सामान्य धरातल पर एक साथ खड़ा करते हैं वहीं उनके सरोकार भारतीय जीवन-बोध के घनिष्ठ सम्पर्क में हैं। दोनों के विश्वबोध की प्राथमिक, द्वितीयक या तृतीयक मूल मिट्टी की देसजता और जनपदीयता में गहरे पैठी हुई है जहाँ उनके मूलगोप जीवन के खनिज संचित करते रहते हैं। दोनों की कविता का मर्म और साधारण प्रतिज्ञा जनजीवन के मौलिक अनुताप उल्लास तक ही असमंजस प्रतिरोध संघर्ष और राग-विराग में घटित होती है। ध्यान देने की बात यह भी है कि नागार्जुन मिथिलांचल के हैं तो त्रिलोचन अवध क्षेत्र के। अपनी इन्हीं प्रतिबद्धताओं के चलते एक ने मैथिली में 'पत्रहीन नग्न गाछ' की रचना की तो दूसरे ने अवधी में 'अमोला' की। ऊपर-ऊपर देखने में दोनों ही शीर्षक एक दूसरे के बनाम हैं। नागार्जुन की धरती का प्रथम नागरिक 'गाछ' निष्पत्र नंगा ठठरियाया—जीवन की साँसत, गौरव और दुखबोध का प्रतिनिधि है तो त्रिलोचन का 'अमोला' खटते हुए जीवन की पत्राच्छादित लाली हरियाली का द्योतक। किन्तु दोनों का काव्यात्मक यथार्थ इतना गुँथा हुआ, इतना पारस्परिक और इतना बद्धमूल है कि ये किसी विपर्यय का विलोम के बजाय एक दूसरे के पर्याय होने की अनुभूति कराते हैं। बावजूद इसके तथ्य यह है कि जहाँ 'पत्रहीन नग्न गाछ' का मैथिली और हिन्दी में पर्याप्त समालोचन एवं समादार हुआ है वहीं 'अमोला' क्या अवधी क्या हिन्दी में त्रिलोचन के कविता संग्रहों में जुड़ा एक नामभर होकर रह गया है। इस विलोपन के कुछ मूर्त कारण भी हैं। पहला कारण है अमोला की भाषा। वह अवधी में भी अवधी है इस मृदोद्‌भिद् भाषा में मिट्टी का सोंधापन भी है, उसका कीचड़ कौंदों और सड़ायँध भी। यह भाषा लिपि विषयक कम है, श्रम और कर्म विषयक अधिक। इस कर्मोद्‌भूत भाषा में नारों की जगह पुकारने गोहराने और अनकने की आवाजें हैं। कभी-कभी कर्म-प्रसार और भावप्रसार मिलकर भाषा को ऐसे तर्जित कर देते हैं कि सारे शब्द कोरे प्रतीत होते हैं। संवाद और लोकोक्तियों का अन्तर यहाँ मिट गया है। इस भाषा-कर्म के मर्म तक पहुँचने की न्यूनतम अर्हता है उसकी जन्मभूमि तक पहुँचना। उस जनपद के खेत, खलिहान और मेड़ डाँड़ सीवान तक पहुँचना जो भूखा-दूखा और अधपेट अधनंगा है। यह भाषा ऊपर से दिखने वाले समाज के नीचे दबे उस समाज की भाषा है जिसके सम्मुख विकास और प्रगति के सारे आँकड़े मिथ्या हैं। इसमें जीवन के न्यूनतम लक्षणों और संसाधनों के सहारे जी रहे जनजीवन बोध की धड़कनें हैं। अमोला की यह अवधी न तो तुलसी की है, न जायसी की, न पढ़ीस की। यह यहाँ तक त्रिलोचन की अवधी है जिसमें मानक अवधी के व्याकरण ढूँढ़ने में भी कोई फिसलकर गिर सकता है। यह धूल धूसरित भाषा जनजीवन से ऐसी लिपटी है जिससे झाड़-झूड़कर मुक्त नहीं हुआ जा सकता। इस धूसरित भाषा को कवि ने अपनी साँस-साँस से पकड़ रखा है जो संवेदना के जल से अभिसिंचित् होते ही पोर-पोर हरी हो जाती है। वास्तव में, यह भाषा अपने स्थानीय भूगोल की जलवायु से संभूत है। वहीं इसके खनिज हैं। यह इतनी स्थानिक है कि इसके सच्चे मर्मबोध के लिए किसी अन्य भाषा के अध्ययन जैसी जिज्ञासा और अभिरुचि तथा अनुभूति की अपेक्षा है। लेकिन यह एक बड़े कवि का अपना चयन है—

साँसे पकरे हम भाषा धुरियानी।
पानी पाएँ ई कन कन हरियानि॥ (अमोला)

यहाँ 'कन-कन' की ध्वन्यात्मकता में धूसरता का 'कण-कण' तो है ही, कनकनाकर निकली हुई हरियाली के दुर्वांकुर भी हैं।

अमोला की अनदेखी का प्रमुख कारण है अवधी समाज की सुसुप्त भाषिक चेतना। यद्यपि 'पत्रहीन नग्न गाछ' में भी बोली और विषय-वस्तु की धुर स्थानिकता मौजूद है किन्तु इसके समादर और समालोचन की प्रमुख वजह बिहार प्रान्त की हिन्दी में वहाँ के जनजीवन की बोली बानी और संवेदना–संस्कृत की आत्मीय क्रियाशीलता है। वहाँ की हिन्दी का लहजा अभी तक जनोन्मुखी है। जबकि उत्तर प्रदेश की हिन्दी मानक हिन्दी का इतना प्रतिरूप हो चुकी है कि उसमें अवधी के पुट या रंग गंध संस्कार की दूर-दूर तक कोई भनक नहीं। अतः 'अमोला' का आलवाल देखरेख से वंचित रह गया है तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी का एक उपकरण कवि त्रिलोचन की कठिन सरलता और उससे भी बढ़कर हिन्दी के कोविदों की सुगम उपायों से साहित्य की श्री वृद्धि करना भी है। और चौथी बात है अमोला का आद्यंत 'बरवै छन्द' में होना।

त्रिलोचन, अवध, अवधी और बरवै छन्द का नाभिनाल सम्बन्ध जुड़ता है तुलसी से और हिन्दी में तुलसी को लेकर कई सम्प्रदाय हैं। कुछ लोगों के लेखे तुलसी कवि ही नहीं हैं तो एक वक्त ऐसा भी रहा है जब प्रगतिशील होने की न्यूनतम अर्हता तुलसी के प्रति उगली जाने वाली दुरुक्तियों से तय होती रही है। जो तुलसी-विमूढ़ हैं, वे सबसे भले हैं क्योंकि उनके स्तवन से परे कुछ भी नहीं सुनना चाहते। जो तुलसी-प्रतिमूढ़ हैं वे सुविधानुसार इधर-उधर हो लेते हैं। इससे अलग एक ऐसा भी वास्तविक वर्ग है जो वर्ण-व्यवस्था के इतिहास से इतना दमित और आहत है कि उसके घनघोर समर्थक तुलसी और उनकी कविता के प्रति किसी भी तर्क से आस्तिक नहीं हो सकता। लेकिन पोंगा धर्मालुओं या ढोंगी समाजालुओं की खींचातानी के बीच एक कवि के रूप में तुलसी के मूल्यांकन और उनकी प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता के प्रश्न बार-बार खड़े होते हैं। ऐसी कठिनाई विचारसम्पन्न लोगों के सामने उठ-उठकर आती रही है तो इसलिए कि समय, समाज और विचार की विकासात्मक प्रक्रिया में बदलते हुए जीवन-मूल्यों एवं मानव-सम्बन्धों को पुनर्परिभाषित करना जितना ही आवश्यक होता है उतना ही जटिल भी। इस दृष्टि से तुलसी की तलवार बनकर दूसरों को शिरोच्छेद करने अथवा उनकी ढाल बनकर खुद लहुलूहान होने की चेष्टाएँ व्यर्थ हैं किन्तु कोई भी सजग और दायित्वबोध से अनुप्राणित समाज अपने इतिहास और संस्कृति के व्यवस्थित एवं वस्तुगत अध्ययन से न तो हिचकिचाता है और न ही उसकी उपलब्धियों का बखान करते हुए सम्मोहित या विचलित होता है। वह वर्तमान का बंधक न होकर इतिहास के औचित्यमूलक विकास को स्वीकार करते हुए उसमें अपनी भूमिका और योगदान को प्रमाणित करता है। तुलसी अपनी सामंती रुझान, वर्ण-व्यवस्था की पैरोकारी और स्त्री-विषयक विचारों के नाते हमारे समय में श्रद्धावश इन सीमाओं से बरी नहीं किए जा सकते। और उत्तेजक ढंग से कहना चाहें तो निन्दनीय है। इस सबके बावजूद तुलसी एक बड़े, बहुत बड़े और कदाचित् सबसे बड़े कवि हैं। उनका समाज सिर्फ जातियों का समाज न होकर बहुत व्यापक समाज है जिसमें सिर्फ मनुष्य की लक्ष्मण रेखाएँ या भीष्म प्रतिज्ञाएँ ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानविकी विद्यमान है और उसमें प्राणिमात्र समाया हुआ है। इतने व्यापक समाज को सम्बोधित होने वाले कवि की सीमाएँ भी निर्बन्ध नहीं हो सकतीं। उसे घेरना जितना आसान होता है उसकी व्यापकता को अंगीकार करना उतना ही कठिन और असुविधाजनक। कोई भी बड़ा कवि अपने वर्तमान अर्थात् अपने समय, समाज और संस्कारों से हर हाल में प्रभावित होता है किन्तु उससे जूझता हुआ यथावसर अपनी इन सीमाओं का अतिक्रमण और खंडन भी करता रहता है इसलिए वह अपने वर्तमान का बंधक नहीं हो सकता। वह वर्तमान का आईना तो होता है, आदर्श नहीं। ध्यातव्य है कि वर्तमान और यथार्थ बिम्ब-प्रतिबिम्ब माने जाते हैं किन्तु यथार्थ के दो टुकड़े करने पर दो यथार्थ ही प्राप्त होते हैं जबकि आदर्श दो टूक करने पर दो आदर्श नहीं बल्कि एक यथार्थ और एक आदर्श मिलते हैं। कविता में आदर्श के ही टुकड़े नहीं किए जाते हैं। 'रावण' शब्द की चटक-पटक, आतंक और दबदबे से हम जितने ही आक्रान्त होते हैं, उसकी व्युत्पत्ति 'रूदति रावेति रावणः' है। कितनों को मालूम है कि जार-जार रोने से रावण का नया नामकरण हुआ है। स्पष्ट है कि खुली आँखों से देखने या खुली जुबान से स्वीकार करने की मशक्कत और खतरे से बचने की सबसे आसान युक्तियाँ हो जाती हैं दुरुक्तियाँ। खैर, तुलसी से असहमति हमें मजबूत बनाती है, तुलसी का अस्वीकार कमजोर और स्वीकार समृद्ध। त्रिलोचन ने तुलसी के प्रभाव और ऋण को खुली जुबान और खुले दिल से स्वीकार किया है। वे तुलसी के मुरीद हैं और उनके प्रति जब-तब श्रद्धावनत भी। 'अमोला' का आरम्भिक भी इसका साक्षी है—"दाउद महमद तुलसी कइ हम दास/केहि गिनती मँह गिनती जस बन-घास।" इससे भी दो कदम आगे जाकर उन्होंने तुलसी बाबा से भाषा सीखने की दीक्षा को खुले मुंच से अंगीकार करने का नैतिक साहस प्रकट करके हमारे समय की छद्म परम्परा में एक बड़ा खतरा मोल ले लिया। फलस्वरूप जब

'प्रगतिशील कवियों की नई लिस्ट' जारी हुई तो उसमें त्रिलोचन का नाम नदारद था क्योंकि उनका मेनोफेस्टो ही गड़बड़ था!

जो भी हो नागार्जुन के सन्दर्भ में मिथिलांचल की मिट्टी की जिस ऐंड, वचनवक्रता और कुबोल का पहले उल्लेख हुआ है, उसका आभास कराने के लिए तुलसी का एक बरवै पर्याप्त है—

गरब करहु रघुनन्दन जिन मन माँहि।
देखहु आपन मूरति सिय की छाँहि॥ (बरवै रामायण)

हे राम! अपनी सुन्दरता पर इतना मत इतराओ। अगर बहुत रूप-गर्व हो तो अपनी छवि और चेहरा मोहरा हमारी सीता की परछाई में देख लो तो औकात का पता चल जाएगा। भला जिस मिथिला की स्त्रियों की बोली इतनी टेढ़ी और चुभन भरी हो, उसी जमीन के काव्य-पुरुष नागार्जुन की कविता कितनी मिठास लिये हो सकती है? उस मैथिलियाटिक बोली के सापेक्ष त्रिलोचन अवधी के हैं। वहाँ की तुलना में यहाँ की आबो-हवा और कहन की अदा कुछ अलहदा ही है—

मृतकजियावनि मुसकी देखि तोहारि।
बिसरी सम्पईं चोटि भूलि गइ हारि॥ (अमोला)

मृतकजियावनि—मरणासन्न को भी नवजीवन देने वाली हे संजीवनी बूटी—तुम्हारी मुस्कान देखकर तो सारा आघात ही भूल गया और पराजय भी याद नहीं रही। यह चोट और पराजय मृतकजियावनि की ओर से भी हो सकती है और किसी अन्य की ओर से भी। किन्तु प्राणप्यारी की स्मृतिरेखा ही चोट का निदान बन जाती है। त्रिलोचन दिल पर पत्थर रखकर अटैक को झेलने तक सहिष्णु और सहनशील हैं और आक्रान्ता की मुस्कान पर सिर्फ मुस्कुरा देते हैं। यह अवध क्षेत्र की एक अदा है। दूसरी अदा भी उग्र या आक्रामक तो नहीं फिर भी बड़ों-बड़ों की खोपड़ी को साँसत में डाल देने वाली है—

जे हमकों अँखबिस गनि के भुसुनाईं।
जानि लेइ केउ इहाँ अखएवर नाईं॥

जो हमें देखकर अपशकुन मानते हैं और कुढ़ते हैं उन्हें यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि यहाँ कोई भी 'अक्षयवर' नहीं है। यह है त्रिलोचन की तर्जित मितभाषा। जो बिना शब्दाडंबर के सबको उसकी औकात बता देती है। ध्यातव्य है कि ग्रामीण समाज में कुछ लोगों को अपशकुन की तरह देखा जाता है और अक्सर विघ्न बाधारहित जीवन की आकांक्षा से 'अक्षयवर' नामकरण किया जाता है। यह कवि की अपने जीवन और कविता के प्रति बरती जाने वाली उपेक्षा के प्रतिवाद में बिना तिलमिलाए दी जाने वाली भाषा की कड़वी औषधि है। कविता में ऐसी पुड़िया या तो तुलसी के यहाँ देखने को मिलती है या त्रिलोचन के यहाँ। आशय यह कि—एतनेहुँ पर करिहहिं जे संका/मोहि ते अधिक ते जड़मति रंका। त्रिलोचन की इस वर्जना में सहनशीलता की जो वक्रता है उसे ही सयाने 'अभिधा' समझते हैं। ऐसों की निगाह में अभिधा एक रैखिक, सपाट और अतियथार्थ का ढूह भर होती है। अतः 'अभिधा अभिधा' रटने वालों को यह भी जानना चाहिए कि वह भी एक शब्दशक्ति है और उसी का एक प्रकार 'अभिधामूला व्यंजना' भी है।

'अमोला' के कोई पेजी सवा पेजी 'परिचय' में खुद त्रिलोचन ने कुछ मौजूँ बातें की हैं—"मैंने कविता के बनाव का ही ध्यान रखा है। छन्द आदि कविता के परिधान हैं। कविता पर कुछ कहना फालतू होगा।" ध्यान देने की बात यह है कि 'बनाव' के साथ ही 'सिंगार' शब्द का प्रयोग प्रचलन में है। तो कविता के बनाव को ध्यान में रखने का अर्थ है काव्य-कला और काव्य-सौन्दर्य पर केन्द्रित होना। बरवै के सशक्त अनुशासन में अपरिमित भावसृष्टि के प्रति त्रिलोचन क्लासिक होने की हद तक चौकस हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन बरवैयों की प्रथम पंक्ति यदि आदर्श तो दूसरी यथार्थ अथवा प्रथम यथार्थ तो दूसरी आदर्श का प्रतिनिधान करती है किन्तु यह दिल खोलकर कहा जा सकता है कि इनमें काव्योत्कंठा गजब की है और उसका संगुंफन बेजोड़। ऐसा लगता है कि प्रत्येक बरवै की दोनों पंक्तियाँ किसी मंजूषा की उपरौटा और तरौटा हैं जिन्हें जरा-सा खोलने पर ही कोई महक, बदबू, ऊष्म साँस, उच्छ्वास, ऊर्जा, अनिच्छा, जिज्ञासा अथवा कोई बड़ा जीवन भेद हमारे आसपास समूचे परिवेश में व्याप जाएगा। पहले हम कविता की गिरफ्त में आते हैं फिर उसके आशयों के। जो कविता निश्चित आशयों के जितने ही कड़े अनुशासन की मुख्य प्रतिज्ञा के साथ सम्भव की जाती है उसकी गिरफ्त उतनी ही ढीली होती है चाहे उसमें कितने ही फंदे, हथकंडे, हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ क्यों न ठूस दी जाएँ। सुनिश्चित आशयों वाली आज की कविता के 'गागर में सागर' कितना भरा गया है इसका ठीक-ठीक पैमाना तो हमें नहीं मालूम लेकिन त्रिलोचन के इन बरवैयों में कमंडल में नदी जरूर समाई हुई है।

छन्द आदि कविता के परिधान हैं—कहने के पीछे त्रिलोचन की असली मंशा क्या है? फिर वे समूचे अमोला को बरवैमय कर देने को क्यों ठाने हुए हैं? क्या अमोला जैसे बाल्यकाल के बिरवे की कदकाठी और बरवै छन्द के रूपाकार में वे कोई सादृश्य विधान ढूँढ़ रहे हैं? ऐसा हो तो भी त्रिलोचन यह बखूबी जानते हैं और हर सचेत साहित्यिक की इतनी समृद्धि और दूरी को तय करके यहाँ तक पहुँची हिन्दी कविता केवल तुक या छन्दों की चूर-गाँठ बैठा देने भर से ही सम्भव नहीं हुई है। लेकिन इसके

आगे का सत्य यह है कि गद्याग्रह की आत्यंतिकता ने हिन्दी कविता के पाठकों-श्रोताओं की जनसंख्या का कठोर नियोजन करके उसे लगभग निर्वंश करने का नया शास्त्र विकसित कर लिया है। प्रश्न छन्द की वापसी या उसके बहिष्कार का नहीं बल्कि उसकी आवश्यकता या अनावश्यकता है। हिन्दी में छन्दोभंग की आवश्यकता तभी पड़ी थी जब छन्दाग्रह अनावश्यक हो गया और आज सम्भवतः छन्द (या जिसे बीच-बीच में लय, तुक वगैरह भी कहा गया) की आवश्यकता इसलिए आ पड़ी है क्योंकि मुक्तछन्द अत्यन्त सुकर, गरिष्ठ और लगभग अनावश्यक हो चला है। मुक्तछन्द में और प्रयोग किए जाने के नाम पर बीच में बिना ओरदावन वाली गद्य की बहुत-सी चारपाइयाँ भी बीनी गईं। वास्तव में छन्द की आवश्यकता का अर्थ छन्दों की नुमाइश लगाकर तमाशा दिखाना नहीं। ऐसे तमाशे पहले बहुत दिखाए गए हैं। यदि आज भी देखने हों तो संस्कृत में 'नारी' छन्द को देख सकते हैं जिसमें केवल एक 'मगण' की दरकार है। जिसका लक्षण और उदाहरण है—मो नारी। आगे जाकर रीतिवादी कवि केशवदास के यहाँ ऐसे छन्द प्रयोगों की भरमार है तो भारतेन्दु के समकालीन और अवधी लोकजीवन के कंठहार महाकवि रंगपाल ने—'बरसत घन-घन सरसत वन वन'—जैसे निर्मात्रक छन्दों की कई बानगियाँ पेश की हैं। छन्द के लिए छन्द की जरूरत कविता में बिलकुल नहीं है। छन्द का नाता कविता की पठनीयता, सम्प्रेषणीयता, पाठक-श्रोता की सापेक्षता और उसे निरन्तर सूख रहे सोते से है। यदि कवि-कर्म समाज सापेक्ष कर्म है तो उसे व्यापक जन समाज के प्रति जवाबदेह होना ही चाहिए। अन्यथा अपने हाथों अपनी पीठ ठोंकने की कोशिशें हर देशकाल में पाई जाती रही हैं और उनका वाचाल बचाव शास्त्र भी उपलब्ध है। आखिर यह त्रिलोचन जैसे सिद्ध कवि के अलावा कौन है जिसने 'सानेट' जैसे पाश्चात्य कविता के फार्म को हिन्दी में साधकर उस शिखर तक पहुँचाया जहाँ सानेट और त्रिलोचन एक-दूसरे के पर्याय माने गए? सच्चाई यह है कि गद्यान्वय वाली कविता का मूढ़ विरोध गीतमाला के वे अकिंचन और सुकुमारमति करते हैं जिन्हें गद्य की शक्ति और दुनियाभर की कविता के विराट फलक का सम्यक् बोध नहीं। वे छन्दों के समर्थन में उसी बेजा उत्साह से कूद पड़ते हैं जिस सूझबूझ के साथ समझदार समझे जाने वाले उसके अविचल प्रत्याख्यान में। ऐसे समझदार लोग छन्द पर किसी पुनर्विचार की जगह उसके सर्वथा निषेध में ही हिन्दी कविता और जीवन की सच्ची मुक्ति के स्वप्न देखते हैं क्योंकि हमारी प्रवर्द्धमान कविता के प्राक्तन और बड़े कवि निराला एवं मुक्तिबोध हैं। 'छन्दों की छोटी राह' छोड़कर कंटकाकीर्ण पथ से आने का आह्वान करने और गद्य को 'जीवन संग्राम की भाषा' से नवाजने वाले निराला एवं 'अभिव्यक्ति के सारे खतरे' उठा लेने की प्रेरणा देने वाले मुक्तिबोध का अपने अभिभावक और कवच की तरह इस्तेमाल करना अपनी असमर्थताओं को वैध साबित करने की कोशिशें हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि निराला ने 'छन्द की छोटी राह' छोड़कर छन्दों की बड़ी राह पकड़ी और कमोवेश मुक्तिबोध ने भी यही किया। छन्द के उस प्रदीर्घ पथ के जीवन संघर्ष और आत्मसंघर्ष को ठस गद्याग्रह और शब्द संघर्ष से विस्थापित कर देने की कूट युक्तियों से न तो गद्य को जीवन संग्राम की भाषा बनाया जा सकता है और न ही शब्दाडंबर खड़ा कर देने मात्र से अभिव्यक्ति के खतरे उठाए जा सकते हैं। हाँ, इसी की आड़ में गद्य को शब्द संग्राम तक और अभिव्यक्ति के खतरों को अभिव्यक्ति की आसानियों तक महदूद जरूर किया जा सकता है। इन दोनों सुविधाओं ने आज के कवि के लिए सहज सम्भाव्य कविता के द्वार धड़ाधड़ खोल दिए हैं जहाँ न कोई सामाजिक प्रतिबद्धता बचती हुई दिखाई दे रही है और न ही कोई निजता। यह प्रवृत्ति काव्य की विश्वनागरिकता में जल्द-से- जल्द दाखिल हो जाने की चंचल अभीप्सा से उपजी हुई है। मुक्तछन्द और विश्वबोध इस धारा के ऋणावेश और धनावेश हैं। गद्य को जीवन संग्राम की भाषा कह देने वाले निराला का सगोत्रीय और अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने का संकल्प लेने वाले मुक्तिबोध का उत्तराधिकारी बनना क्या वास्तव में इतना ही आसान है?

जीवन को अकल्पनीय साँसत में डालकर कविता के वास्ते हर बूँद निचोड़ देने वाले निराला तो सर्वथा निराले ही रहे किन्तु थोड़ा बहुत मुक्तिबोध का ढब अपनाने में लगे परवर्ती उन-गामियों ने जितना अत्पीकरण और यादृच्छिक अपचालन किया उतना अनभल तो उनसे बेखबर लोगों ने भी नहीं। अपने अन्तःकरण के संक्षिप्त आयतन में सम्पूर्ण सचराचर जगत का दुख और उलझन समा लेने का दावा करने वालों ने देश के पहले ही दुनिया देख ली। कदाचित् हिन्दी कविता की इतनी संकुचित मानसिकता पहले कभी नहीं थी जिसमें जनबोध, जीवनबोध, समाजबोध, आत्मबोध, भाषाबोध, परम्पराबोध या राष्ट्रबोध के पहले नो प्रॉब्लम जैसा चामत्कारिक विश्वबोध पैदा हो जाए; जिसमें अपने देश और समाज के पर्वतों, नदियों, जंगलों, कवियों के नाम भले न याद रहें किन्तु परदेश के अंडों, घासों, लिपिकों या पानी की टंकियों से ही हम अक्षरारम्भ करने पर आमादा हो जाएँ। हमें उसी मुक्तिबोध की यह काव्य चिन्ता भी याद नहीं रही— "देशहित-पिता को घर से निकाल दिया/जन मन की करुणा-सी माँ को हकाल दिया।" यदि निराला एवं मुक्तिबोध में लय, तुक, छन्द आदि के सर्वथा निषेध नहीं हैं तो इसके पीछे शायद भारतीय

कविता परम्परा की बद्धमूल जनपदीय चेतना की भूरि-भूरि खाक धूल और जातीय जीवन का राष्ट्रबोध है। अनूदित मौलिकता के कारोबार से अलग इन दोनों बड़े कवियों का व्यक्त भूगोल और इतिहास है। छिन्नमूलता का विश्वबोध अमरबेल है तो कविता का सर्वतोभद्र गद्याग्रह अभिव्यक्ति के सारे खतरे तोपने-ढाँकने की टाटी। अपने अनेक आग्रहों के साथ कवि त्रिलोचन भी ऐसे सर्वतोभद्र गद्याग्रह से असहमत हैं और उन गद्यवादियों की खिल्ली उड़ाने में भी नहीं चूकते—"गद्य वद्य कुछ लिखा करो, कविता में क्या है?" त्रिलोचन के अपने आग्रह हैं लोकजीवन के अनाघ्रात अनुभव, धुर स्थानिकता, उस स्थानिकता की यही बोली-भाषा अवधी और बरवै छन्द। इन आग्रहों का समवेत है उनका तुलसी-प्रेम। तुलसी पर संक्षिप्त विचार करते हुए प्रबुद्धचेता मुक्तिबोध काफी आक्रामक हैं। उनकी मान्यता है—"तुलसी ने हमारे रूढ़िवादियों के हाथ मजबूत किए हैं।" तो क्या यह मान लिया जाए कि तुलसी के अनुग्रहीत त्रिलोचन ने बरवै छन्द में अमोला की रचना करके हमारे प्रगतिशीलों के पाँव कमजोर कर दिए हैं? सर्वविदित है कि त्रिलोचन के पाँव—चाहे अभिधा में हों या कविता में—बहुत ही मजबूत हैं। वे वेकौड़ी जमीन पर भी चलना चाहते हैं और अपनी जमीन एवं जनपद से उनका परिचय बहुत ही घनिष्ठ, आत्मीय और विरल है।

जहाँ तक विश्वबोध का सवाल है तो मोटा-मोटी इसके दो अनुषंग हैं। पहला प्रचलित संसार में चल रही सोचा-समझी और लिखा-पढ़ी की देखा-देखी सतह पर दिखने वाला गतानुगतिक विश्वबोध जिसे सूचना प्रौद्योगिकी ने और भी सतही बना दिया है। अनुभवशून्यता और छिन्नमूलता के इस विश्वबोध में रेडीमेड संवेदना, अनुकूलित भाषा ओर निरापद शैली का धुआँधार है। यह समय के साथ संगत कर ले जाने वाला सुविधाजनक और सहमतिप्रधान विश्वबोध है जिसमें बहुत कुछ यक-साँ है। दूसरा ठीक उसी समय में इस प्रवासी नागरिकता का प्रतिसंसार है। दुनिया के विभिन्न समाजों में स्थानीय स्तरों पर अपनी-अपनी मौलिकता के साथ अनुभव किए जाने वाले मनुष्य के सुख-दुख, विक्षोभ, उल्लास, संघर्ष को यहाँ-वहाँ के ढरों, शैलियों और भाषाओं में व्यक्त किया जाने वाला समेकित विश्वबोध। यह अपने-अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के वैविध्य के साथ क्रियमाण है और बहती हुई बयार की ओर पीठ कर देने वाला विश्वबोध नहीं है। इसका प्रतिकार न तो कुंठाजनित या दम्भोद्दीप्त है और न ही सहनशीलता याचनाशील। पहला विश्वबोध सभ्यताभिरंजित है दूसरा संस्कृतिमूलक। 'अमोला' के रचयिता त्रिलोचन इस दूसरे विश्वबोध के पहले कवि हैं। इसमें अवधी जन समाज की सम्पूर्ण भाषा शैली और राग-विराग प्रकट हुए हैं; इस समाज के आत्मीय सन्निकर्ष में पहुँचे हुए अध्येता, पाठक और श्रोता ही यह अनुभव कर सकते हैं कि प्रगतिशील चेतना से सम्पन्न यह रचना किन-किन काव्यात्मक स्तरों पर एक उल्लेखनीय क्लासिक कृति के लक्षणों से विन्यस्त है। छन्दों की छोटी राह पकड़कर 'पएँड़ा पएँड़ा' की पगडंडी निर्मित करने वाले त्रिलोचन बरवै छन्द में अभिव्यक्ति का यह खतरा उठाते हैं जो कविता के सुगम राजमार्ग से बिलकुल ही अलग है। कोई चाहे तो इन बरवैयों के दोनों चरणों में जनसामान्य के दोनों पैरों की प्रतीति कर सकता है। अमोला का यह बिरवा बरवै में है। इसका छन्द हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'देवदारू' का जीवन छन्द है। अमोला की मूल (जड़, सोरि) यत्नपूर्वक पाताल तक अपने हाथों रोपी गई है।

सोरि पताले पठवइ जे जोकतार।
करइ लखइ अपनी आँखी उद्धार॥

कविता की यह युक्ति 'व्यवहारविदे' वाली उस युक्ति से बहुत भिन्न है जो व्यावहारिक चतुराई के चलते मित्र-गिरोहों, सत्ता केन्द्रों और रिश्तों के गोत्र तक सक्रिय रहती है—

रुचि जेकरे भइ तेकर ततछन होत।
कविता कतहुँ लखेसि कव नाता गोत॥

इसी साधारण प्रतिज्ञा के साथ त्रिलोचन अमोला के कवि कर्म में प्रवृत्त होते हैं। उनकी यह असाधारण-साधारणता उस पौराणिक ऋषि तपोनिष्ठ जड़भरत की भाँति ही विनम्र, सहनशील, श्रम-कर्म-निष्ठ, आत्माराम में विभोर, कवित्व में लीन और मानापमान से रहित है जो राजा रहूगण की पालकी में एक कहार घट जाने पर पकड़ लिए गए और उसमें जुत जाने पर भी खुद को ऋषि बताना उचित नहीं समझा। त्रिलोचन ऐसे ही कवि हैं जो आत्मचिन्तन और काव्यचिन्तन के शिखर पर पहुँचकर भी स्वयं को 'कवि मनीषी' नहीं मानते। वे यहाँ तक मानते हैं कि मेरे हाथ में कुछ भी नहीं है। मैं तो किसी काम लायक नहीं। मैं क्या कर सकता हूँ? यही तो जीवनभर सिर झुकाकर सोचता रहा हूँ—

धइ गए, पलकी ढोएन, घटे कहार।
भरत न कहेन, रिखि हई हम, एक बार॥
काउ करब हम केथा मैं बाटइ हाथ।
इहइ त सोचत अही नवाए माथ॥

ऐसा आत्मचिन्तन, जो कि जन-जन का चिन्तन है, दूर की कौड़ी वाले किसी भी विश्वबोध को अपनी ठेठ मुद्रा से ठक्क कर सकता है। यह है 'अमोला' की भूमिगत गुठली। इसके मूलांकुर, प्रांकुर, पर्व और सघन पल्लवों की हरिताभ लालिमा की छवि-प्रतिच्छवि हम आगे देखेंगे जिसमें शब्द की सत्ता, अर्थपारात्व, कथ्यघनत्व, प्रकृति के सहज और अनूठे बिम्ब एवं

उनसे ग्राम्य-जीवन का तादात्म्य, कृषक एवं लोकजीवन की दुर्लभ झाँकी, प्रेम की वंकिम व्यंजना, वर्चस्व और साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध; जिजीविषा, जीवन-दर्शन और प्रगतिशीलता के विश्वसनीय साक्ष्य चरण दर चरण दिखाई देते हैं। इन चरणों में विन्यस्त त्रिलोचन की एकान्तिक काव्य साधना कर एकाग्र होना ही अमोला के हर सुधी पाठक की अभिलाषा है।

अमोला अवधी लोकजीवन का मुक्तकों में महाआख्यान है। यह दृश्यमान समाज के नीचे दवे उस वास्तविक समाज की भाषा बोली का अभिलेख है जिसकी इकहरी नागरिकता के पास कोई प्रव्रजन प्रमाण-पत्र नहीं। उसके जीवन के संसाधन और उपकरण अनायास प्रकृत एवं आदिम हैं। साँसत भरी इस मौलिकता को नैसर्गिक कहकर झुठलाया भी जा सकता है। यह समाज अपनी संस्थापन की पीड़ा से एक ओर कराह रहा है तो दूसरी ओर विस्थापन के बनावटी दर्द को मुँह भी बिरा रहा है। इसमें अपनी भाषा में अपने समाज की कविता है। बल्कि इस कविता का वास्तविक मूल्य और सौन्दर्य इसी भाषा में ही निहित है। जैसाकि. पहले ही लक्ष्य किया गया है यह सुल्तानपुरी तुलसी की अवधी से भी भिन्न अवधी की नानी है। इसके मर्म का साक्षात् करना मृदा की मातृमूलकता का साक्षात् करना है। इसके भाषा वर्ताव में कहीं-कहीं लोकोक्तियाँ ही कविता का वाना धारण कर लेती हैं तो कभी-कभी कवि त्रिलोचन की प्रतिमा ही कविता को अनमोल सूक्तियों में ढाल देती है। जहाँ अभिधा भी व्यंजना की वक्रता से सम्पन्न हो वहाँ सादगी का सौन्दर्यशास्त्र अनूठा होता है। जीवन के गूढ़ से गूढ़ मर्म को भी किस अवरेव के विना व्यंजित कर देना सामान्य कथन और कविता को यहाँ परस्पर पर्याय वना देता है। मनुष्य जीवन की सार्थकता और उसका हेतु अधिक से अधिक क्या और कितना है? 'अयं निजः परैवेती' की सीमाओं से ऊपर उठकर क्रमशः परायेपन को कम करते जाना अपनाए को विकसित करते जाने से भी इतर क्या मनुष्य का कोई कर्तव्य और अर्हता है? त्रिलोचन इसे यों कहते हैं–

घटइ जाइ परावापन कइ भाउ।
मनई होइ के अवर करे केउ काउ ॥

यह काम कविता से हो या किसी पार्टनर की पॉलिटिक्स से, मनुष्यता का लक्षण और लक्ष्य तो यही है। कविता के द्वारा इससे भी बड़े-बड़े कामों को अंजाम देने वालों की दावेदारी कम-से-कम अब खोखली सावित हो चुकी है।

तुलसी के संक्षिप्त बरवै रामायण के केन्द्र में जहाँ सीता और राम की जुगलजोड़ी है वहीं त्रिलोचन के अमोला की वृहद योजना में आस्था के केन्द्र अर्द्धनारीश्वर शिव और पार्वती हैं। शिव के प्रति अनेक छन्दों में आस्तिकता के पीछे कवि का काशीवास भी हो सकता है। पर त्रिलोचन अपनी इस आस्था को कदापि छिपाते नहीं बल्कि गंगा मइया के दृढ़ भरोसे के साथ महादेव के वेलपत्र, वैल, बघछाला, धतूर, त्रिशूल और श्मशान आदि के विग्रहों का स्मरण करते हैं। वास्तव में पार्वती और शिव का यह युगल इसी मृत्युलोक में अपने-अपने सुख-दुःख आनन्द के लिए नाचते हुए इसी लोक भूमि के स्त्री और पुरुष ही हैं। यद्यपि मनीषियों ने विचारपूर्वक इस संसार को नश्वर और निस्सार वताया है फिर भी इसके आकर्षण और सम्मोहन ने पता नहीं किस सूत्र से कसकर सबको बाँध लिया है? यहाँ तक कि प्रत्येक शरीर-धर्मा देह के प्रति ही आकृष्ट होता है, स्पर्श करता है, प्रमुदित होता है और सहर्ष देह को अपना लेता है। यहाँ भी त्रिलोचन जीवन को उसकी वास्तविकता सत्ता और अभीप्सा में ही देखते हैं, किसी वैराग्य भाव से नहीं–

एहि मरथरि मैं पारवती नटराज।
नटत अहैं अपने सुख अपने साज ॥
संते कहि गए कतहुँ न सत्त न सार।
कइसे वान्हि लिहेसि सबकौं संसार ॥
तन-धारि तन देखइ नगिचे जाइ।
परसइ सरसइ अपनावइ हरखाइ ॥

जिस पार्वती नटराज के मिथुन को त्रिलोचन यहाँ उद्धृत करते हैं, वही कालिदास के यहाँ 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' है। यह अकारण नहीं कि इस रचना में कवि ने रचना के साथ-साथ शब्द और अर्थ एवं इनके सायुज्य तथा प्रकृति को जगह-जगह पारिभाषित किया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि अमोला में त्रिलोचन शब्द एवं अर्थ की सत्ता के प्रति वहुत ही सजग हैं और अपनी शब्दसाधना के प्रति वहुत ही आश्वस्त। जब आज के शब्द-व्यापार में शब्दार्थ की प्रतिपत्ति के लिए बहुत कम जगह बची है तब विना भावार्थ वोध के ही शब्द सिद्धान्त खूब बघारे जाते हैं। ऐसे शब्द वीरों से बात करने में भी कवि कतराता है। उसकी मान्यता है कि भाष्य दर भाष्य करने से सिर्फ अक्ल की घानी में शब्दों को पेरा जाता है किन्तु अभिप्रेत अर्थ लुप्त हो जाता है–

भाउ न धइ गइ तब केउ केस वतिआइ।
सब्द सब्द धइ धइ के हुमचत जाइ ॥
अर्थावत् अर्थावत् अर्थ हेराइ।
सामुझि की घानी माँ सब्द पेराइ ॥

इस सन्दर्भ में महादेव के मिथक में कवि की आस्तिकता की जो चर्चा की गई उसका सीधा सम्बन्ध जनजीवन की आस्तिकता से है। वास्तव में किसी कवि के विश्वास की परख लोकविश्वास की कसौटी पर भी की जानी चाहिए, न कि निरा

प्रचलित काव्य प्रणाली के आधार पर। लेकिन त्रिलोचन की इस आस्तिकता में न तो किसी प्रकार की धर्मभीरूता है और न ही साम्प्रदायिक कुटिलता। उनकी लोकविश्वास की ऋजुता में जहाँ एक सहज अस्ति है वहीं एक सच्चे कवि की प्रतिरोधी नास्ति भी। ऐसी सजग प्रतिबद्धता ही मन्दिरों में बन्धक बने हुए भगवान को देखकर उन्हीं के कल्याण (मुक्ति) होने की उपहासात्मक टिप्पणी करने से भी नहीं चूकती और ईश्वर के सान्निध्य में निरन्तर बने रहने के कारण मनुष्य (भक्तों) के उस दुःसाहस को भी चीन्ह लेती है जो ईश्वर का ही न्याय करने पर उतारू हो गया है। यहाँ तक कि धर्म सम्प्रदाय के नाम पर हो रहे मार-काट और रक्तपात से आहत कवि का हृदय मनुष्यता के हार जाने की आशंका से चीत्कार उठता है। जो धर्म के नाम पर लोगों को और भी कोई जगह नहीं, इहलोक तो इहलोक है—

लखे मंडिले मौं बन्हुआ भगवान।
हम कहि परे तोहार होइ कल्यान॥
धरम के नाँएँ ओगरइ मारामारि।
का होए मनईधारा कइ हारि॥
घर फूँकइँ बधिके धर्मइ के नाउँ।
एनकाँ बदे नाँईं बा सर्गे ठाउँ॥

जीवन और समाज की ऐसी ही आस्तिकता एवं नास्तिकता की कशमकश के बीच त्रिलोचन का मन संशय में है। लेकिन उसे अपना आश्रय मिलते ही वह द्विधामुक्त हो जाता है। उसके सारे भ्रम दूर हो जाते हैं और मार्ग अवगत एवं सुस्पष्ट हो जाता है—

केकर पूजा करी परा मन सोच।
तोहँका जइसे लखे छूटि गा दोच॥
अओगतान मारग अउ भरम हेरान।
तोहँका चीन्हें आपन लाग परान॥

त्रिलोचन के इस मन का आश्रय वह मध्यम पुरुष आखिर है कौन? क्या वह अमोला है? अगर है तो क्या अमोला आम का वही छोटा पौधा है जिसे कहीं और ले जाकर रोपते हैं? अथवा अमोला कोई प्रतीक या अन्योक्ति है? ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई रहस्य है जिसे कवि खोलना नहीं चाहता। किन्तु स्फुट मुक्तकों में विन्यस्त होने के बावजूद इसके तूल-कलाम की आरम्भिक उठान को देखते हुए अनुमान होता है कि इस संग्रह का सम्बोध्य कवि की अपनी प्रिया (पत्नी) है। समाज में कोई अविवाहित युवती जब तक अपने मायके की भूमि पर रहती है तब तक और उसके बाद जब उसका विवाह हो जाता है तब ससुराल आने पर जैसे वह अमोले की ही भाँति एक जगह से समूल खोदकर दूसरी भूमि में आरोपित कर दी जाती है। सम्भवतः कवि की नई-नई आई हुई जीवनसंगिनी ही वह अमोला है जिसके अंकुरित यौवन को देख और पाकर वह रोमांचित है। उसके विकसित होते सौन्दर्य और प्रेम से अभिभूत कवि उठते-बैठते, सोते-जागते आत्मविस्मृत होकर प्रिया की मधुर स्मृतियों में खोया-खोया सा रहता है। प्रियतमा के प्रत्येक पदनिक्षेप से, ज्यों-ज्यों उसके तलुवे भूमि से ऊपर उठते हैं, त्यों-त्यों कवि का जिउ उसी पदरज में लोट-लोटकर विभोर होता रहता है। नवोढ़ा का नया सम्मोहन उसे वलयित किए रहता है। एक-दूसरे के तन-मन के प्राथमिक परिचय के भावाश्लेष से ही प्रत्येक मिथुन के मध्य प्रेम का जन्म होता है। यही समाज का दाम्पत्य अनुराग है। तोहइँ (तुमको), तोहँसे (तुमसे), तोहरेइ (तुम्हारा ही), तोहार (तुम्हारे), तोहरिनि (तुम्हारी ही), तोहँका (तुम्हें) जैसे सगलग अवधी के सम्बोधन प्रथमदृष्ट्या ऐसी ही आत्मीयता के आभास देने वाले हैं।

कोई स्पष्ट संकेत न होने के कारण दूसरी अटकल यह भी लगाई जा सकती है कि कवि की यह आसक्ति स्वयं रचना या कविता के प्रति है और उसी को सम्बोधित भी। अनेक रूपों और छवियों में झिलमिलाती हुई कविता के आकर्षण में कवि उसका कैदी हो गया है। उस छांदस् कविता की तुलना पहले भी स्त्री से की गई है और दोनों के ही पदनिक्षेप मनोहारी माने जाते रहे हैं—

किं वा कवितया राजन किं वा वनितया तया।
पदनिक्षेप मात्रेण मनो नापहृतं यया।

स्त्री को विधाता की अनुपम रचना कहा जाता है। यहाँ स्त्री और रचना की बहुस्तरीय छवियाँ उकेरी गई हैं। इन पर कवि मुग्ध है। इनके ओझल या इनसे अलग होते की उसका मन आवाँपात हो जाता है, भूख-प्यास तक भूल जाती है। उसका मन उदास हो जाता है। लेकिन उसकी गहरी निराशा में सँभालने वाला अवलम्ब है उसके हृदय के कोने में छिपा हुआ प्रेम—

तोहँसे बिछुरे जिउ होइ जाइ उदास।
अउँतिआइ मन बिसरइ भूखि पिआस॥
गहिरि निआसा मैं एतनइ असधार।
कओनेउ कोने हिरदे लुका पियार॥

अन्तर्मन में न्यस्त इसी प्यार का पथ्य लेकर कवि उसी रचना की खोज में भटकता हुआ निकल पड़ता है। उसे और उसका चमत्कार देखकर आत्मविस्मृत हो जाता है। जीवन की तमाम नश्वरताओं के बीच उसका रचनात्मक विश्वास अडिग रहता है। आज जब रचनाकार को देखने के बाद ही उसकी रचना याद आती है तब त्रिलोचन उस रचना को परिपक्व और निखरी हुई रचना मानते हैं जिसे देखते ही रचनाकार का अस्तित्व विस्मृत

हो जाए–

रचना देखत बिसरइ रचनाकार।
तब रचना कइ रूप होइ उजिआर॥

कविता की इसी प्रतिज्ञा को लेकर चलते हुए त्रिलोचन यायावर की भाँति एक-एक मुँह से निकली एक-एक बोली की संपदा जुटाते डगर-डगर उस समाज की उसकी उसी भाषा में पहुँचते हैं जो जीवन व्यवहार और कर्म व्यवहार की भाषा है। संकुचित-से दिखाई देने वाले समाज के जीवन विस्तार में प्रवेश करके वह उदरपूर्ति के लिए जूझते और हाथ से लेकर मुँह तक सीमित श्रमशील जनता, किसान, खेत-खलिहान, प्रकृति, पशु-पक्षी आदि के कर्म स्वभाव की ऐसी मार्मिक खतौनी तैयार करते हैं जो तथाकथित सभ्य समाज की नाक भौं सिकोड़ देने वाली है। उस समाज का साध्य अभी तक पेट है। लेकिन समाजशास्त्र में वर्णित मानव समाज और पशु समाज के अन्तर को और विडम्बनामूलक बनाते हुए इस समाज का स्वाभिमान अब भी अपनी सींगें उठा देने में संकोच नहीं करता। यहाँ हर कोई पेट के ही संसाधन जुटाने में हलकान है। अविराम चलते हुए पाँव, खटते हुए हाथ और सिर पर उठे हुए बोझ ही इस जीवन यात्रा के संसूचक हैं–

एसि पेटागि सँचारी देखान मुँहसोझ।
गोड़ गोड़ाही, कर करनी, सिर बोझ॥

लेकिन इसी समाज में जिनकी आर्थिक स्थिति इस जीवन-स्तर से थोड़ी भी ऊँची है वे स्वयं को बड़ा समझने के मद में चूर हैं। अपने-अपने तख्तों पर बैठकर खुद को शासक मानने वाले वे निम्नश्रेणी के लोगों के प्रति बकबकाते रहते हैं–

बड़े बइठि आसन से का फइहाइँ।
जब छोटे ओर खइँ नड अपनी दाइँ॥

इन समाजविरोधी तत्त्वों की बराबर और समानान्तर पहचान करते रहने की प्रगतिशील चेतना कवि के रग-रग में मौजूद है। निर्बल और सबल के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की मुठभेड़ यहाँ पग-पग पर दिखाई देती है। यहाँ निम्नवर्ग के श्रम और जाँगर की बदौलत जहाँ 'बाबू साहब ठाकुर साहब' की सामन्ती लपेट है वहीं न्याय-अन्याय की घटतौल परिभाषाएँ भी। इस समाज में जबर्दस्त लोग दुर्बलों पर घड़ियाल की तरह झपट्टे मारते हैं तो दूसरी ओर अपने से दस लोगों से लोग बचा-बचाकर चलते हैं–

अबरा पइ अइसे झपटइ बरिआर।
जइसे तीरे लखि सिकार घरिआर॥
निबरे कँ पेड़बधि के मारा जाइ।
जड़रइते से झगरा टारा जाइ॥

यहाँ बिकती हुई न्यायपालिका भी है और न्याय को खरीद लेने वाले धनी मानी लोग भी–

पइसा पेलि दिहे मुँह मुँह धनदास।
बोलेन डिगिरी आए हमरेह पास॥

एक समय सजग कवि की चौकन्नी निगाह समाज की इन बीमारियों की शल्यक्रिया करती चलती रहती है तो दूसरी ओर विश्वफलक में घटने वाली प्राकृतिक प्रकोप की घटनाएँ भी उसे निरन्तर उद्वेलित करती रहती हैं। पेरू का महाविनाशकारी भूकम्प भी त्रिलोचन के संवेदनात्मक ज्ञान का अहम हिस्सा है–

पेरि दिहेसि पेरू कँ हाहाकार।
एस भुइडोल कठिन कइग खएकार॥

त्रिलोचन की प्रगतिशीलता न तो शाब्दिक है न पुस्तकों और सिद्धान्तों की मोहताज। बल्कि अति अधीत कवि होते हुए भी वे कहीं इसकी स्थूल भनक नहीं लगने देते। सहज जीवनबोध से रस और गहन परम्परा से काव्य संस्कार अर्जित करके जिस सूक्ष्म विवेक के साथ वे अभिव्यक्ति के मैदान में उतरते हैं उस पर कोई भी चालू प्रतिक्रिया बालबोध के अलावा और कुछ नहीं। नए-नए और आकर्षक कलेवरों में अपने प्रलोभन में फँसाती बाजारू शक्तियों का जैसा काव्यात्मक निरूपण त्रिलोचन ने छोटे-से बरवै में किया है वह अनोखा है। इससे भी आगे कवि की कल्पना वहाँ तक जाती है जहाँ जीवन के हवा, पानी जैसी मूलभूत संसाधनों को भी बाजार में उतार दिया गया है। पानी के साथ लोगों का भी पानी बिक चुका है, सिर्फ हवा के साथ हवा निकलना बाकी है और वह भी यदि इतनी अतिमात्रा में न होती तो पैक करके बेची जा चुकी होती क्योंकि दुनिया अब सिर्फ धन्धेबाज रह गई है–

बहुरूपा रचि रचि रूपन कर जाल।
हमकाँ पकरिउ जइसे मछरी ताल॥
छानि-बान्हि के बेची जाती बयारि।
जउ एतनी एहि तरे न होति सयारि॥

युगबोध और उसके संत्रास की ऐसी संवेदना-सम्पन्न बानगी देखते हुए हम त्रिलोचन के कवित्व के उस मैदान की ओर लौटते हैं जहाँ उनकी ऋजु स्थानिकता को कवि का आग्रह और सीमा मानकर उनका अल्पीकरण करने की चेष्टाएँ की जाती रही हैं जबकि वही असली कवि की भावभूमि है। वह क्षेत्रज संवेदना ही कवि की मौलिक एवं आत्मीय संवेदना है। घूम-फिर कर त्रिलोचन वहीं आकर रमते हैं। वही खेतिहर जीवन-विश्वास, वही पशु-पक्षी, वही पेड़ पालो, वही ऋतुजा और वक्रता, वही श्रमिक वर्ग और उन्हीं की शब्दावली में उन्हीं की पहचान। त्रिलोचन के यहाँ कवि समाज का कोई विशिष्ट पद नहीं बल्कि नागरिक की सामान्य सदस्यता है। उनका किसान बड़े-बड़े फार्मों वाला

फार्मर्स नहीं बल्कि सीमान्त और लघु सीमान्त किसान है जो खुद अपना ही मजदूर भी है। यहाँ किसान एवं मजदूर अद्वय हैं। उनकी खेती और जीवन का रकबा एक जैसा सीमित है लेकिन इसी संकुचित रकबे में प्रायः हर ऋतुचक्र की फसल है। खेती घर में नहीं होती और न ही बादल बाँधकर। इसलिए खेतिहर को आठों पहर मौसम के रंग कुरंग का साक्षात् और सामना करना पड़ता है। उसका सारा मिजाज मौसम के मिजाज से संगत करता है लेकिन कोई मौसम उसके लिए रोमान नहीं बल्कि खुरदुरा और कठोर सच है। उसका तपना, ठिठुरना या भींगना कोई आकस्मिक संयोग नहीं बल्कि दैनन्दिन है। उसकी त्वचा वर्षाकाल, शीतकाल और ग्रीष्मकाल की भुक्तभोगी है–

भींजत बसकाले जड़ात जड़काल।
अउ घमात जेठे खेतिहर कइ खाल॥

इसी दुखदग्ध जीवन के बीच-बीच में ऋतु परिवर्तन भी होता है और बसन्त की आहट भी मिलती है। इस जीवन में प्रकृति ही आलम्बन भी है और उद्दीपन भी। यहाँ न बसन्त चोरी चोरी आता है और न बसन्त का प्रभाव। जो कुछ है जगजाहिर है और डंकापीट। बसन्त के आने की सूचना पवन वनस्पतियों को दरेरकर देता है और पेड़ हैं कि खुद को सँभाल नहीं पाते–

बेझि के कहेसि पवन बसंत रितु आइ।
पीपर चिलबिल महुआ गए नङ्‌गाइ॥

यहाँ 'नङ्‌गाइ' की व्यंजना बेजोड़ है। इसका एक मतलब निष्पत्र और नंगा हो जाना तो है ही, हठपूर्वक मचलना भी है। इसी प्रकार त्रिलोचन ने जनजीवन के असाध्य दुखों के बीच सुख के छिटुवा बीज जगह-जगह बो दिए हैं। प्रकृति और खेती के बीच जी रहे ग्राम्य समाज में एक ओर सूखे से सूख रहे धान के मुआरा (वे हरे पौधे जिनका कलेजा सूख जाने से बालियाँ नहीं निकलतीं या निकलती हैं तो थोथी और निष्फल) काट लिए जाते हैं जो पशुओं के चारे के काम तो आते हैं पर मनुष्यों के मुँह के कौर दूभर हो जाते हैं तो दूसरी ओर जहाँ धान की फसल अच्छी लग जाती है और वसुन्धरा शस्य श्यामला हो जाती है तो उसकी सुगन्ध से समूचा सिवान महक उठता है–

धान मुआरा हरिअर काटा जाईं।
मनई मुँह दोवईं अउ गोरू खाईं॥
महँकइ लागइ रेँड़त रेँड़त धान।
बासि उठइ सगरउ सेवान मएदान।

किसान का सीधा सम्बन्ध है प्रकृति से। किन्तु प्रकृति के साथ उसका यह नाता सहअस्तित्व का है न कि अन्धाधुन्ध दोहन का। जहाँ जंगल के माफिया समूची वन्य सम्पदा के विनाश पर उतारू हैं वहीं किसान इधर-उधर से कोई 'अमोला' लाकर रोपने के लिए तत्पर रहता है। धरती को हरा-भरा देखने से ही उसे परम सन्तोष का अनुभव होता है। प्रकृति की इस हरियाली का दारोमदार बहुत कुछ बादलों पर निर्भर है। इसीलिए 'अमोला' में बादल, उसके रूप, रंग की अनेक छटाओं का वर्णन वाल्मीकि और कालिदास के प्रकृति चित्रण की बार-बार याद दिलाता है तो कहीं-कहीं उसका मानवीकरण लोकजीवन की आत्मीय और अद्भुत सौन्दर्यानुभूति का साक्षी है। अपने किसी प्रिय का सन्ताप देखकर उसे दूर करने के लिए जैसे कोई भाग-दौड़ और उपचार के लिए व्यग्र हो जाता है वैसे ही बादल संतप्त धरती को देखकर सब कुछ कर डालने के लिए बेचैन हो जाते हैं–

घेरईं हेरईं गरजईं बरसईं जाईं।
बादर भुईं कर ताप ताकि अफनाईं॥

ऐसे सजीव बिम्बों की माला में यदि हम बादल की जगह वानर-समाज को रखकर देखें तो सम्भवतः अनुभूति की त्वरा और बढ़ जाएगी। बादलों के जितने न्यारे दृश्यों का संयोजन त्रिलोचन ने प्रकृति के साथ मानवीकृत किया है वह सौन्दर्यबोध के बहुत बारीक निरीक्षण के बिना सम्भव ही नहीं। यहाँ बिम्ब साक्षात् आकर खड़े हो जाते हैं। तब कविता हमारी भले न हो, हम कविता के जरूर हो जाते हैं। चाहे कमकन बाँधकर आसमान में विचरने वाले बादलों की मैत्री वाली वह जुगलजोड़ी हो जो हवा के रुख से बिछुड़कर अलग-अलग दिशाओं में विलोपित हो जाती हो या हरियाली पर गिरती हुई वे नन्ही-नन्ही बूँदें जो चुनियाकर परिधान पहनती हुई धरती की सुन्दर कल्पना में रूपंकर हो जाती हैं–

जोरि मिताई दुइ बादर मँड़राईं।
बिलगावइ हवा दुइ दिसा समाईं॥
लहलहाइ हरिअरी दइउ बुनिआइ।
बरखाँ भुईं पहिरन पहिरइ चुनिआइ॥

वर्षा ऋतु की अनेकविध छवियाँ लोकजीवन के मांगलिक अनुष्ठानों में भी रूपायित हो जाती हैं। जहाँ उआरि उआरि कर 'परछने' की स्त्रियोचित परम्परा प्रकृति ही सम्पादित करती है। झूमते हुए मेघ, बहती हुई हवा से बार-बार झुकती उठती बँसवारी समूचे क्रिया व्यापार को आनेत्र कर देने वाली है–

बहइ बतास, मेघ, झूमईं, बँसवारि।
जइसे परछन करइ उआरि उआरि॥

प्रकृति के ऐसे रम्य दृश्यों के आलेखन के साथ कवि की प्राणिमात्र व्यापी दृष्टि पशु-पक्षियों की जीवन लीला और वस्तुविनियोग को भी उसी सूक्ष्मता के साथ उत्कीर्ण करती रहती है जिसमें उनके कर्मरत स्वभाव एवं प्रगाढ़ प्रेम की झाँकी मिलती है। कठफोड़वा जैसा पक्षी अपनी प्रकृति के कारण चोंच से

तोड़-तोड़कर पेड़ों में कोटर बनाता है। लेकिन वह कोटर भी अकारथ नहीं। कालान्तर में सुग्गा-सुग्गी का मिथुन उसे ही अपना आवास बना लेता है। पारितन्त्र के इस सहज सन्तुलन में निहित जीवन का राग-विराग भी कवि की पैनी संवेदना की पकड़ में है। आदमी की मोटा-मोटी कवायदों तक महदूद और लगभग प्रकृतिविहीन आज की कविता के सापेक्ष त्रिलोचन की काव्य चेतना उसे अमित वस्तु प्रसार तक सम्पन्न करने वाली है–

कठफोड़वा खोंढ़रा जउ दिहेसि बनाइ।
खोंता बनएन सुग्गा सुग्गी आइ ॥

यहाँ 'खोंढ़रा' और 'खोंता' जैसे शब्द एकवाची लगते हुए भी अर्थ-व्यंजना के प्रबल जोड़ीदार हैं। 'खोंढ़रा' व्यर्थ का गड्ढा है जैसे किसी बीच में सड़े हुए दाँत का क्षरण जबकि 'खोंता' घोंसले की अर्थ प्रतीति कराने वाला है। त्रिलोचन अक्सर व्यर्थता में अर्थ की खोज कर लेने वाले विलक्षण कवि हैं। आज की कविता और कवि जहाँ सार्वजनिक और सर्वात्म की सैद्धान्तिकी से व्यक्ति और आत्म का निषेध करती है वहीं त्रिलोचन को निजात्म के उद्घाटन में कोई अपराधबोध नहीं बल्कि उनके यहाँ कवि की अपनी सत्ता उसी अनुपात में एक कारुणिक विनयपत्रिका बनकर सामने आती है जिसमें कि सर्वात्म की संवेदना। कवि की इस विनपत्रिका में अपनी दारुण रामकहानी तो जगह-जगह प्रगट होती है किन्तु दैन्य लेशमात्र नहीं। दुखद जीवन के उन्नत भाल का जैसा स्वाभिमान त्रिलोचन के यहाँ दिखाई देता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अतः 'अमोला' में विन्यस्त त्रिलोचन की निजताओं का सार संक्षेप देखना भी अत्यावश्यक है जिसके लिए कवि बार-बार आमन्त्रित करता है। कवि के जीवन का उद्देश्य है चलते जाना। चलते रहने के पगचिह्नों से ही 'पएँड़ा' या पगडंडी बनती है। फिर भी वे लकीर के फकीर नहीं बल्कि लीक छोड़कर चलने वालों में से हैं। उनकी यह चाहना प्रायः उन्हें अन्वेषी बनाती है और अक्षत भावभूमि की ओर पर्युत्सुक करती है। शुष्क-सी दिखने वाली ऐसी भूमि पर भी कवि जीवन का अनन्त विस्तार देख लेता है क्योंकि जीवन का अर्थ ही है जिज्ञासा, अनुभूति और कल्पना–

जउ लइ जाइ बेकाँड़ी भुइँ पइ चाह।
झूरेउ झूरे जिनगी होइ अथाह ॥

अथाह जिन्दगी की इस जययात्रा से अनुभवसम्पन्न त्रिलोचन की विनयशीलता भी अनन्य है। वे अपने चरैवेति की तुलना नए-नए प्रशिक्षित नधे हुए उस घोड़े से करते हैं जो जुतने पर कुछ ज्यादा ही धावक बनता है लेकिन उसका चलना सिर्फ रगड़-रगड़कर तलवों को घिसने से किंचित् अधिक नहीं। त्रिलोचन के काव्य का एक मूल्य स्वयं का अवमूल्यन करना भी है–

काउ चलथई रगरत बाटी गोड़।
चाल देखाए जाइ निकारा घोड़ ॥

वे अपने लिखने, पढ़ने, चलने, घूमने और कविकर्म को गैसीय डकार (बाई) कहने में भी नहीं हिचकिचाते जो उभरने के बाद समय के साथ-साथ परिशमित हो जाती है। वास्तव में उनकी यह विनम्रता सन्त कवियों से अर्जित वह स्वाभाविक विनम्रता है जो मानव जीवन की निःसार परिणति में घटित होती है। ऊपर से यह संसार इतना स्वार्थी है कि आदमी का पड़ा हुआ शव बाद में ढोया जाता है, उसके पहले ही उसका अंतरधन और जेब की तलाशी ली जाती है–

मरा परा ते पाछे ढोवा जाइ।
पहिले थइली थइला टोवा जाइ ॥

इसीलिए त्रिलोचन जीवन के प्रति मोहग्रस्त नहीं होते बल्कि सदैव अकिंचन की भाँति संसार की स्वार्थलिप्त गतिविधियों को देखते रहते हैं। यही कारण है कि उनका कवि एक शिशु के कौतुक से भरा रहता है। इस बाल-सुलभ के चलते ही वे बेपरवाह और फाकेमस्त जीवन बिताते हैं। जिसे नागार्जुन ने 'ठगे जाने की प्रायोगिक सिधाई' कहा है, वह त्रिलोचन के जीवन में भरपूर है। इसी के चलते वे व्यक्तिगत जीवन में अनन्त भौतिक दुखों को न्यौता देते हैं। लेकिन कवि की जिज्ञासा (जिजीविषा) है कि उनसे टूटने के बजाय वह उन्हें ही पथ्य बना लेता है। आते हुए दुखों को झोली में भरते जाना और भूख लगने पर उनका चबेना की तरह इस्तेमाल करना त्रिलोचन जैसे फक्कड़ कवि के ही बूते की बात है। फिर भी न तो वे अपने दुखों को छौंक बघारकर विज्ञापन करने में विश्वास करते हैं और न ही उनसे पीड़ित होकर किसी के सम्मुख याचना में हाथ पसारते हैं। यही सीख उन्होंने अपने कठिन जीवनानुभव से अर्जित की है। आत्मोपहास के साथ-साथ आत्माभिमान की रक्षा ही त्रिलोचन के कविकर्म का मूलमंत्र है–

झोलिआवा दुख जेतना आवा जात।
मूँठी मूँठी ओकाँ चला चबात ॥
खेलत-खात अबहिं ले आए सीखि।
हाथ न पसरा का केउ डारे भीखि ॥
हमरे भित्तर लड़िका एक अकेल।
अबहिउँ खेला किहा करइ बेमेल ॥

त्रिलोचन शब्द क्रीड़ा के धुरंधर हैं। अपने वक्तव्यों में वे जितना भी विषयान्तर करते रहे हों किन्तु कविता के विषय में उनका अभिकेन्द्रण अद्वितीय है। यहाँ वे तनिक भी इधर-उधर नहीं होते। वे विषय में पूर्वकल्पित भावों को घुमा-फिराकर उनका निवेश नहीं करते बल्कि वस्तु को ही ठोंक बजाकर उसी से काव्यानुवाद निष्पन्न करने में माहिर हैं। उनका यह खेल उस

कौतुकी वृत्ति से गवर्न होता है जो लोक, शास्त्र और परम्परा की त्रयी का अवलेह है। उक्तिभंगी उनके काव्य का प्रिय पक्ष है। शब्दाडम्बर में अति सामान्य अभिव्यक्ति से उन्हें सख्त चिढ़ है। जो बड़ी शान से शेखी बघारते हुए दइवी (दैवी आपदा) की भाँति शोहरत से आते हैं और धुआँधार बोले जाते हैं, ऐसे अर्थगर्भहीन लोगों के सामान्य कथन से त्रिलोचन का जी जल जाता है। ऐसे त्रिलोचन की कविता को एकरैखिक अभिधा कहने वालों की बुद्धि पर रखे पत्थर को बड़ा-से-बड़ा किरान भी नहीं हटा सकता।

दइवी एक बोला दइवी एस आइ।
कथइ सधारन सुनि के जिउ जरि जाइ॥

त्रिलोचन सामान्य जीवन के असामान्य कथन के कवि हैं। वे उस अवधी समाज के जनसामान्य की कविता उसी की बोली-बानी में कहना चाहते हैं और कहते हैं जिसके राग-विराग की गाथा अनन्त है। इसी से उनकी अभिव्यक्ति का लहजा कभी लयात्मक तो कभी बतकही के सामान्य धरातल तक संवादात्मक दिखाई देता है। ऐसे विपुलबोधी समाज को सम्बोधित करने वाला वह लेखक कैसा जिसका आख्यान कम पड़ जाता हो और चुक जाता हो? इधर आख्यान चुका कि उधर विवेक समाप्त। त्रिलोचन को साक्षात् जानने वाले जानते हैं कि वे असमाप्त आख्यान के कितने धुरंधर रहे और उनकी शब्द-गाथा कितनी अस्तोकमयी रही–

बात कहत जेकर अखिआन थोराइ।
ओकइ सामुझि दुसरी ओर ओराइ॥

वस्तुतः त्रिलोचन की जीवन-गाथा जितनी ही अनन्त है, उनका काव्य पर्यवेक्षण उतना ही बारीक। यह उतना बारीक और शब्दातीत है जितना कि बैठे हुए पंछी के उड़ते ही बहुत पतली डाल हिलने-काँपने लगती है किन्तु किस आन्तरिक बेचैनी से, इसका अनुमान लगाना सहज या सबके वश की बात नहीं–

चिरई उड़तइ डउढी हालइ लाग।
कवन बेकलई ओकाँ चालइ लाग॥

यहाँ चिड़िया के उड़ते ही वृन्त की व्याकुलता का सम्बन्ध आत्मा और शरीर के अद्वैतवादी वेदान्त से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि आत्मा के शरीर छोड़ देने से तो शरीर निष्पन्द पड़ जाता है। यहाँ मामला ठीक उलटा है। यदि वृन्त शरीर है तो चिड़िया के उड़ जाने से वह व्याकुल होकर आन्दोलित हो रहा है। अतः यह उस भौतिक सत्यापन की मनोदशा है जहाँ न चिरई चिरई रह जाती है, न डउढी डउढी, न आप आप। रह जाता है तो केवल ज्ञानात्मक संवेदन। यह पंछी जिस डाल पर बैठा है वह 'अमोला' की ही हो सकती है और इसे कवि ने जिस बेकाँड़ी भुँइ (अक्षत भूमि) पर रोपा है, वहाँ और उसकी मृदा की मातृमूलकता तक पहुँचे बिना त्रिलोचन की काव्य प्रतिभा का यथोचित मूल्यांकन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह अमोला लोक जीवन की उर्वरा से क्रमशः विकसित होता हुआ फलागम के विभिन्न सोपानों को व्यंजित करने वाला है। पहले इसमें सरसों के दानों जैसे नन्हे फल दिखाई देते हैं। फिर देखते ही देखते टिकोरों में बदल जाते हैं, फिर सफेद और कोमल बीज की बिजुली पड़ती है और यही मसृण बीज प्रौढ़ होकर जलिया जाते हैं।

भइ सरसई निहरतइ मँड टिकोरान।
अमवाँ बिजुरिआन झूले जरिआन॥

कोई चाहे तो इन आम्रपालियों से जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, सौन्दर्य की अनेक छवियों, कविता की विकासात्मक प्रक्रियाओं और न जाने किससे-किससे तुलना कर सकता है। किन्तु जो अनूदित और अमौलिक भाषा (कुभाखा) में ही लिखकर वास्तविक के बजाय आभासी समाज की रचना करना चाहते हैं ऐसे निर्लज्ज वाचालों को देखकर तो लज्जा खुद लज्जित हो जाती है। उनके लेखे 'अमोला' सूख जाए तो भी कविता का पर्यावरण हरा-भरा ही रहेगा।

लिखइँ कुभारवा बँहसइँ रचब समाज।
लाजि लजाइ एन्हइ केधुआ कइ लाज॥

कवि केदारनाथ सिंह : गोली दगे न हाथापाई, अपनी है यह अजब लड़ाई...

रवि श्रीवास्तव

केदारनाथ सिंह 'तीसरा सप्तक' के कवि हैं। सप्तक परम्परा के कवि रूप में शुरुआत करने वाले केदार जी का प्रस्थान विन्दु रोमैंटिक भावबोध वाले गीतकार का रहा है। अपनी विशिष्ट काव्यशैली एवं चित्रात्मक काव्यभाषा–बिम्बों के कारण वह रूपवादियों के बीच भी समादृत रहे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि 'कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब विधान पर। बिम्ब विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त।' (तीसरा सप्तक, कवि वक्तव्य) कालान्तर में वह अपने परिवर्द्धित एवं समृद्ध यथार्थवादी दृष्टि के परिणामस्वरूप नागार्जुन, केदार एवं त्रिलोचन की प्रगतिशील काव्यधारा से जुड़े। अपने प्रतिमान को थोड़ा लचीला बनाते हुए उन्होंने लिखा कि काव्य बिम्ब को रूप के अर्थ में ही नहीं ऐतिहासिक अर्थ में भी मूर्त होना चाहिए। "मूर्तिमत्ता जहाँ बिम्ब की सबसे बड़ी शक्ति है, वहीं वह उसकी सबसे बड़ी सीमा भी है। सीमा इस अर्थ में कि अक्सर मूर्तिमत्ता के कारण ही किसी स्थूल शब्द चित्र को भी काव्यबिम्ब की संज्ञा दे दी जाती है। किसी अप्रस्तुत या शब्द चित्र के बिम्ब के स्तर तक पहुँचने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि वह भौतिक अर्थ में ही मूर्त हो। एक सार्थक और श्रेष्ठ बिम्ब की कसौटी यह ऐतिहासिक मूर्तिमत्ता ही हो सकती है।" (आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब प्रधान, प्राक्कथन से) नई कविता रूपवादी-बिम्बवादी कवियों से केदार जी का अन्तर स्पष्ट है।

1943 में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के बाद हिन्दी कविता में एक नए युग की शुरुआत मानी जाती है। यह नई कविता-प्रयोगवाद के जन्म का काल है। नई कविता छायावाद के रुमान एवं भावुकता के विरुद्ध बौद्धिकता का आग्रह लेकर आई थी। 'तार सप्तक' के कवि गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा है, "छायावादी रूपाकार और संवेदना-दृष्टि अनुपयुक्त और अपर्याप्त हो चुकी थी। युग-यथार्थ के समक्ष उसकी कल्पना-प्रधानता और भावुक रूमानवाद एक व्यंग्य प्रतीत होता था। तत्कालीन नए कवि के सामने सार्थक अभिव्यक्ति की बहुत बड़ी समस्या थी। परिवर्तित भावबोध के अनुरूप न कोई उपकरण थे और न कोई संकेत, न दिशाओं का कोई आभास ही था, सभी भस्मीभूत हो चुके थे, यहाँ तक कि काव्यगत संगीत तत्त्व और तुकान्त तक रूढ़ बन गए थे। नए रचनाकार अपनी सामर्थ्य और दृष्टि के अनुसार इस स्थिति से बाहर आने का यत्न कर रहे थे।" (नई कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ, पृ. 6) 'ये उपमान मैले हो गए हैं। देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच।' इसलिए राहों का अन्वेषण जरूरी हो गया था। ध्यातव्य है कि 'तार सप्तक' के प्रकाशन के समय भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

के चरम उभार का दौर भी था। उधर औपनिवेशिक शासन से जनता की मुक्ति लक्षित थी, इधर छायावाद और प्रगतिवाद की रूढ़ियों से कविता की मुक्ति लक्ष्य था।

1951 में 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ। 'तीसरा सप्तक' 1959 में आया। नई कविता की अज्ञेय-साही-भारती के आधुनिकतावादी काव्यधारा के समानान्तर हिन्दी नई कविता की एक और धारा थी जिसके प्रतिनिधि कवि केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन थे। ये कवि सप्तक-मंडल से बाहर थे। उनकी संवेदना के तार भारतीय ग्रामीण जीवन के अनुभवों से जुड़े हुए थे। अज्ञेय, भारती और साही मूलतः नागर कवि हैं, यद्यपि उनके खासकर अज्ञेय जी के प्रायः सभी काव्य संकलनों में 'नगरी की बेचैन बुदकती गड्ड-मड्ड अकुलाहट' से उबकर ठेठ ग्रामीण प्रसंगों पर लिखी कुछ कविताएँ अवश्य मिलती हैं, किन्तु हैं वे 'कलगी बाजरे सी' ही। इस तरह हिन्दी कविता के विकास की जो दो धाराएँ बनीं, केदारनाथ सिंह की काव्यानुभूति का सम्बन्ध दूसरी धारा से था।

नई कविता की बौद्धिकता भी एक प्रवंचना ही सिद्ध हुई। प्रभाकर माचवे ने यह नोट किया है कि 'तार सप्तक' की तीखी बौद्धिकता से हटकर 'दूसरा सप्तक' ने रागात्मकता का अहसास जरूर कराया लेकिन उस पर 'छायावादी रूमानियत का गाढ़ा रंग' है। 'तीसरा सप्तक' इस मामले में और आगे है। (हिन्दी साहित्य के पच्चीस वर्ष, नामवर सिंह) केदारनाथ सिंह ने लिखा है, " 'यथार्थ-दर्शन केवल कुंठा उत्पन्न करता है' के प्रतिरोध में नई कविता की जो धारा वही वह भी रोमेंटिक ही थी। एक ऐसे समय में जबकि साहित्य को रोमेंटिक भावुकता से छुटकारा दिलाने के लिए बिलकुल दूसरे प्रकार के नारों की आवश्यकता थी। 'तार सप्तक' के कुछ वक्तव्यों और विशेषतः संपादक के वक्तव्य ने उन प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास किया, जो जाने-अनजाने रोमेंटिक सन्दर्भों को ही प्रतिध्वनित करते थे। इस प्रकार 'तार सप्तक' अपने समय के अग्रिम दस्ते का घोषणा-पत्र न होकर एक नए प्रकार के सौन्दर्य-शास्त्र का उद्घोषक बन गया। 'अन्वेषक' और 'प्रगति' की जिस धारणा को लेकर कवि चले थे, उसके ऐतिहासिक कारणों और दिशा का उन्हें ठीक-ठाक पता नहीं था। कोशिश की गई होती तो उसके वस्तुगत स्रोत का भी पता लगा लिया गया होता और उस बाह्य दबाव का भी, जिसके चलते 'प्रयोग' एक अनिवार्यता बन गया था। परन्तु यथार्थ-दर्शन से उत्पन्न होने वाली कुंठा में जाने की किसी ने जरूरत ही नहीं समझी।" (मेरे समय के शब्द, पृ. 31-32)

अगर उस 'कुंठा' के मूल में जाने की कोशिश होती तो यह तथ्य अनदेखा नहीं हो सकता था कि 'तार सप्तक' के रूप में नवीन परिवर्तनों से विक्षुब्ध संवेदना और नई सौन्दर्यदृष्टि का ऐसा प्रवक्ता मिला, जिसके भीतर नए सन्दर्भों से संपृक्त होने की रागात्मक क्षमता तो थी, पर इसके भीतर से उभरने वाले प्रश्नों का साक्षात्कार करने का 'ऐतिहासिक साहस' नहीं था। (आलोचना, ज. मा. 1974, पृ. 34) अगर केदार जी के खुद के निष्कर्षों पर उन्हें कसें तो जिस हद तक शुद्ध कविता की खोज और नई कविता की भद्रजनोचित रुचियों और हितों के अनुकूल आत्मनिष्ठ सौन्दर्यवादी रुझान से उनकी कविताएँ मुक्त हैं उस हद तक वे उस ऐतिहासिक साहस का भी परिचय देती हैं जो कलाशुचिता और कला के इतिहास और परिवेश के दरम्यां भेद में पक्षधर की भूमिका भी निभाती हैं। उसी से केदार जी की कविता का एक जनपक्षधर रूप बनता है। उसका तेवर त्रिलोचन-केदारनाथ अग्रवाल एवं नागार्जुन जैसा मुखर एवं स्पष्ट नहीं है, लेकिन तब 'दूसरा सप्तक' के कुछ कवियों मसलन भवानी प्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुर सिंह, हरिनारायण व्यास की कविताओं में भी प्रयोगवादी बौद्धिक हठधर्मिता तथा प्रगतिवादी सामाजिकता के बीच चुनाव को लेकर कोई दुविधा नहीं है। यद्यपि 'दूसरा सप्तक' के दो अन्य कवियों रघुवीर सहाय और शकुन्त माथुर का प्रयोगवाद से सम्बन्ध राजनीतिक नरमपंथियों जैसा रहा है, किन्तु वहाँ भी नवकलावाद और नवरहस्यवाद काव्यक्षेत्र से बाहर हैं। उनका सम्बन्ध जनवाद, प्रगतिशीलता और यथार्थवाद से है।

साही, सर्वेश्वर और केदारनाथ सिंह 'तीसरा सप्तक' के कवि हैं। ये सभी कवि एक सहकार प्रयास के अंग हैं। वह सहकार प्रयास है, काव्य-सृजन की नई अन्तर्वस्तु एवं रूप-विधान की खोज। सम्भवः 'राहों के अन्वेषी' से यही अभिप्राय हैं। गिरिजाकुमार माथुर ने भारती और रघुवीर सहाय को अज्ञेय जी की काव्य-मान्यताओं से प्रभावित होने का उल्लेख किया है। सर्वेश्वर और साही की कविताओं में अनास्था और कुंठा का भी उन्होंने उल्लेख किया है। (उपरोक्त) भारती का 'अन्धायुग' 53-54 की रचना है, जबकि पूरा देश आजादी के उत्सव और नेहरू के समाजवादी-निर्माण के वायदे की गिरफ्त में था। यह 'अन्धायुग' का अन्धापन ही है जो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के वायदों और उसके राष्ट्रीय प्रभाव के आकलन को अनदेखा कर एक ऐसी अनास्थावादी विचारधारा को भारतीय समाज के वास्तविक जीवन पर आरोपित करता है जिसका कोई सुचिंत्य वस्तुगत आधार नहीं है। रामविलास शर्मा ने इस अनास्था और कुंठा का मूल कारण माना अस्तित्ववाद का प्रभाव। अस्तित्ववाद चरम व्यक्तिवाद की विचारधारा है। आस्तिक हो या नास्तिक।

केदारनाथ सिंह की कविताओं पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ऐसा कोई प्रभाव नहीं है। नई कवितावादियों के बीच उन्होंने निर्मम निर्वैयक्तिकता हासिल की है। उनकी कविताओं में अन्तर्मुखी दार्शनिकता, व्यक्ति-विद्रोह, अहं का विस्फोट, निराशा और अवसाद को कोई जगह नहीं है। वहाँ वर्ग-संघर्ष की वर्जना भी नहीं है। केदार जी की कविताओं में कुछ गुण ऐसे हैं जो उनके निहायत निजी हैं। दृश्य-बिम्बों को बहुत ही सूक्ष्म, कोमल तारों से गूँथ देने की विलक्षण क्षमता, दैनंदिन जीवन से उठाए प्रतीकों में अनायास अप्रत्याशित लक्षणा और ग्रामीण वातावरण की मीठी ताजगी उनकी कविता की विशेषता है और जैसा कि स्वाभाविक ही है जीवन की जटिलता और निराशा के स्थान पर भविष्य को एक मानवोचित स्वरूप देने की व्यग्रता वहाँ दिखाई देती है। उससे भी आगे बढ़कर उनकी कविता में जो चीज सबसे अधिक आकृष्ट करती है, वह है अंग्रेज कवि कीट्स जैसी सघन ऐन्द्रियता। दूसरे शब्दों में, शब्द-रस-गन्ध-स्पर्श और स्वाद की गहरी ऐन्द्रिय पहचान। जो चीज अपने समकालीनों के बीच सृजन से लेकर आस्वाद तक केदार जी की कविताओं को अलग पहचान देती है, वह है इस गहरी ऐन्द्रियता की भावप्रवण चित्रमयी व्यंजना, सूक्ष्म पर्यवेक्षण की क्षमता, रूपासक्ति के साथ मानववादी दृष्टि की अन्तर्घुलनशीलता। नई कविता के बौद्धिक प्रयोगशील कवियों को रचना की कम, रचना-प्रक्रिया की चिन्ता अधिक थी। 'जीवन की सारी समस्याएँ सिमटकर कवि अथवा कलाकार की सृजन-प्रक्रिया की समस्याएँ बन गई थीं।' अपने एक साक्षात्कार में केदार जी ने कहा, 'अन्धे कुएँ की तरह है रचना-प्रक्रिया, जिसमें झाँका जा सकता है, लेकिन जिसकी थाह नहीं मिलती।' (मेरे साक्षात्कार, पृ. 68)

केदार जी का पहला काव्य-संकलन 1960 में प्रकाशित हुआ 'अभी बिलकुल अभी।' 'जमीन पक रही है' का प्रकाशन 1980 में हुआ। बीस वर्षों की एक लम्बी चुप्पी के बाद। इस चुप्पी के अर्थसंकेतों को पकड़ना चाहिए। इन बीस वर्षों में अकविता, गोली दागो पोस्टर, वाम कविता, जनवादी कविता, भूखी-नंगी पीढ़ी की कविता जैसे कई काव्यान्दोलन चले। इतिहास, परम्परा और स्मृति को लेकर बड़े-बड़े विवाद हुए। साहित्यिक आन्दोलनों के उग्र वैचारिक तनाव के आवेगपूर्ण माहौल से एकदम असंपृक्त केदार जी लगभग मौन रहे। अगर पिछली सदी के साठ से अस्सी के बीच के साहित्यिक विवादों को ध्यान में रखें तो 1980 में 'जमीन पक रही है' सचमुच एक 'केथारसिस' है।

उसका प्रकाशन उन समस्त साहित्यिक विवादों का रेचन प्रतीत होगा जिसके बारे में अशोक वाजपेयी ने लिखा, "ऊपर-ऊपर से तो यह लगता रहा कि वह सारे बाहरी तनावों और दबावों से प्रतिकृत हो रहा है पर साहित्य अधिकाधिक उनके नितान्त निजी नाटक का लेखा-जोखा होता गया। अनुभूति की प्रामाणिकता के चक्कर में उसकी सार्थकता की बात धुँधली पड़ती गई। मानवीय सम्बन्धों की प्रामाणिक एवं सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई पर उन्हें किसी बृहत सन्दर्भ से जोड़ने की कोशिश नहीं। बावजूद तमाम वक्तव्यों के जिसमें समूची मानवीय नियति के प्रति नए लेखक की चिन्ता बार-बार घटाटोपी ढंग से व्यक्त हुई है, मानवीय सम्बन्ध की नियति को कोई व्यापक अर्थ देने का, उसे देश की सामाजिक-राजनीतिक नियति से जोड़कर किसी सार्थक और अनिवार्य ढंग से देखने का प्रयत्न बहुत कम हुआ। नए लेखकों ने चीजों के बीच जो सम्बन्ध खोजे उनमें अद्वितीय का आग्रह बढ़ता गया। लेखक अपनी अद्वितीय दुनिया बनाने में इतना व्यस्त हो गया कि उस दुनिया को सार्थक और व्यापक बनाने से कतराने लगा। उसने साक्षात्कार की अपनी मूल प्रतिज्ञा को भुला दिया। उसका लेखन साक्षात्कार का नहीं, सुरक्षा का हो गया। जिस रूमानी संकीर्णता से वह मुक्ति चाह रहा था उसी में वह गिरफ्तार हो गया। उसकी मानवीय वस्तु बहुत क्षीण होती चली गई। बल्कि यह कहना गलत न होगा कि कुछ को छोड़कर अधिकांश नए लेखकों का साहित्य मानवीय अनुपस्थिति का साहित्य हो गया। सम्बन्ध ठोस न रहकर 'एब्स्ट्रैक्ट' होते गए। इन रूढ़ियों से विद्रोह का मतलब साहित्य को फिर तत्कालीन वास्तविकता से सीधे और जोखिम भरे साक्षात्कार की ओर मोड़ना होता; धुँधली, प्रसंगहीन, अतिवादी मुद्राओं से कटकर उसे फिर से समृद्ध, सार्थक और मानवीय कर्म के रूप में प्रतिष्ठित करना होता। पर उग्र और आक्रामक साहित्य का अधिकांश ऐसा कुछ नहीं करता। वह वैयक्तिकता के एकाधिपत्य और अद्वितीयता के सम्प्रदाय का अतिरंजित संस्करण है। यह आकस्मिक नहीं है कि सारे शोरगुल और "एंटी रोमेंटिक होने के दावे के बावजूद अकवि हों या अकथाकार, उनकी रचनाओं का मूल स्वर रूमानी अतिरंजना का है।" (फिलहाल, पृ. 49-50) इस मोहग्रस्त आत्ममुग्धता और संकीर्ण वैयक्तिकता के गर्दोगुबार को उतारने में समय लगता है। अगर केदारजी उसकी प्रतीक्षा करें तो उसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है।

बोलने का मौका आया इमर्जेंसी के बाद। 26 जून, 1975 को आपातकाल की घोषणा हुई। साथ ही पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र के कुछ अनिवार्य भ्रमों का भी अन्त हो गया। आपातकाल-उत्तर आपातकाल हिन्दी कविता में आए तात्त्विक परिवर्तन को भी इंगित करता है। संसदीय जनतंत्र की कोरी निषेधवादी उग्र आलोचना अपर्याप्त साबित हुई। अब ठंडे दिमाग

से व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसके तर्क को समझने की बारी थी। उत्तर आपातकालीन कवियों के लिए व्यवस्था कोई तरल या अमूर्त संरचना नहीं थी जिसे फूँक से उड़ाया जा सके। अधिनायकवादी-फासीवादी प्रवृत्तियों का जन्म पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र के गर्भ से ही होता है। यह परिदृश्य स्पष्ट होने लगा था। श्रीकान्त वर्मा का 'मगध', रघुवीर सहाय का 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' तथा केदारनाथ सिंह का 'जमीन पक रही है' संकलन कवि की इसी समझदार निष्ठा एवं रचनात्मक विवेक के साक्ष्य हैं। 'यहाँ से देखो' 1983 में प्रकाशित हुआ और 'अकाल में सारस' 1988 में। 'उत्तर कबीर' 1995 में आया और 'टॉल्स्टाय और साइकिल' 2005 में। इन सभी कृतियों में निहित केदार जी की रचना-दृष्टि एक है, अर्थात् भारत के राष्ट्रीय जीवन में अभिव्यक्त सामाजिक- सांस्कृतिक संकट की पहचान और उससे टकराने का नैतिक साहस :

ठंड से नहीं मरते शब्द
वे मर जाते हैं साहस की कमी से।

(अकाल में सारस, पृ. 102)

आज बुद्धिजीवियों के एजेंडे पर सबसे बड़ा प्रश्न यही है। केदारजी की कविता है, 'दो मिनट का मौन'। उन्होंने लिखा :

भाइयों और बहनों/यह दिन डूब रहा है
इस डूबते हुए दिन पर/दो मिनट का मौन...
गिरे हुए छिलके पर/टूटी हुई घास पर
हर योजना पर/हर विकास पर/दो मिनट का मौन
इस महान शताब्दी पर/महान शताब्दी के/महान इरादों पर
महान शब्दों और महान वादों पर/ दो मिनट का मौन...
इस महान विशेषण पर/दो मिनट का मौन

(यहाँ से देखो, पृ. 15)

दो मिनट का मौन प्रायः श्रद्धांजलि के समय रखा जाता है। समाजवाद, बालिग मताधिकार, पंचशील, पंचवर्षीय योजनाएँ, दलित और स्त्री-उत्पीड़न से मुक्ति, जनतंत्र धर्मनिरपेक्षता के हमारे दावों के बावजूद भुखमरी, अशिक्षा, बेरोजगारी, आत्महत्या करते हुए किसान, विदेशों से आयातित प्रति सांस्कृतिक विचारधाराएँ, भारतीय अर्थतन्त्र पर विदेशी पूँजी का बढ़ता हुआ दबाव दोनों साथ-साथ चले हैं; स्वाधीन भारत में। 'मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'। नेतृत्वशाली राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग और उनके एकमात्र प्रतिभावान बौद्धिक उत्तराधिकारियों के लिए आर्थिक विकास ही राष्ट्रीय विकास का मानक बन गया है। इस विकास से आम जन बाहर है। शायद महानता की यही कसौटी हो—'मेरा भारत महान' इसलिए उस पर दो मिनट का मौन! बुद्धिजीवी किस गिरे हुए छिलके से कम है? अगर सरलीकरण को हटा दें तब भी मुक्तिबोध की इस पंक्ति में काफी सच्चाई है, 'बुद्धिजीवी वर्ग है क्रीत दास'। विकास की जिस योजना से आम जनता बाहर हो वह मृतवत है। श्रद्धांजलि योग्य। यहाँ व्यंजित अर्थ-सौन्दर्य देखने योग्य है। यही कविता का मर्म है। यों तो हिन्दी में बुद्धिजीवियों और नेताओं के दुहरे चरित्र पर लिखी गई कविताओं की कमी नहीं है, वे मारक भी हैं और तंज भी किन्तु फिलहाल मुझे श्रीकान्त वर्मा की 'मगध' कविता की एक पंक्ति याद आ रही है, 'हस्तिनापुर में सुनने का रिवाज नहीं'। क्या यह हस्तिनापुर दिल्ली नहीं है? जो जितने ही बड़े हैं वे जनता से उतने ही कटे हुए हैं, पूरी जेड प्लस सुरक्षा के बीच। ऐसे में रघुवीर सहाय की 'आप की हँसी' को याद करना प्रासंगिक होगा। निर्धन जनता का शोषण, लोकतन्त्र का अन्तिम क्षण, सब के सब हैं भ्रष्टाचारी, चारों ओर बड़ी लाचारी पर लगा ठहाका कितना दहलाने वाला विद्रूप है, यह सहज कल्पनीय है। किन्तु जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है कि यहाँ आवेशजनित आक्रोश का स्थान संयम ने ले लिया है। इन कविताओं की निरन्तरता में केदारजी की निम्न पंक्तियों को पढ़ना चाहिए :

पर सच तो यह है कि यहाँ/या कहीं भी फर्क नहीं पड़ता
तुमने जहाँ लिखा है प्यार/वहाँ लिख दो सड़क
फर्क नहीं पड़ता/मेरे युग का मुहावरा है/फर्क नहीं पड़ता

(जमीन...पृ. 46)

क्या कवि यहाँ निस्संग चुप्पी का पक्ष ले रहा है अथवा यथास्थिति को स्वीकार करने की नीति का अनुसरण कर रहा है? हकीकत तो यह है कि हमारे सामाजिक जीवन में घटने वाली कोई भी बड़ी से बड़ी घटना रोजमर्रा के व्यवहार की तरह आदत-सी बन गई है। अब वे हममें कोई हलचल पैदा नहीं करतीं, हमारे स्नायुतंत्र पर उनका असर एक खबर-भर जैसा होता है। एक बार पढ़ने के बाद एकदम बेस्वाद और बासी। फर्क नहीं पड़ता, आज के बाजारवाद का जाना-पहचाना जुमला है, गोया ये नहीं तो वो। किन्तु बाजार का तर्क मानवीय रिश्तों का शगल नहीं हो सकता। इसलिए पूरी कविता के विन्यास में ऊपर-ऊपर से निर्वैयक्तिक तटस्थता का अहसास कराने वाली एक पंक्ति 'फर्क नहीं पड़ता' अपने आन्तरिक विडम्बनात्मक बोध के कारण मानव-नियति के सामने एक विराट प्रश्न बनकर खड़ी होती है और अन्ततः 'फर्क पड़ता है' के कमिटमेंट में बदल जाती है। यह कमिटमेंट ऐसा फलसफा है जिसने तारीख के हर मौज़ूँ मौके पर खाक के हाथों को हिना बख्शी है और अँधेरे को रोशनी दी है :

उठो कि कहीं कुछ गलत हो गया है
उठो कि इस दुनिया का सारा कपड़ा/फिर से बुनना होगा।

उठो मेरे टूटे हुए धागो/और मेरे उलझे हुए धागो उठो
उठो/कि बुनने का समय हो रहा है

(यहाँ से देखो, पृ. 51)

यह किसी आस्थावादी कवि की नैतिक दृष्टि नहीं है, न किसी क्रान्तिकारी का आह्वान-गीत—'मार्च पास्ट सॉंग' और न किसी सुविधापरस्त मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की सोच जो यह समझता है कि इतिहास का वर्तमान ही अन्तिम एवं फाइनल है, दुनिया बदल नहीं सकती इसलिए कम से कम अपने घर के पर्दे और चादरें बदल देनी चाहिए। आज की दुनिया में ऐसे बुद्धिजीवियों, कलावन्तों-कलाधरों की कहाँ कमी है जो कला की एकान्त साधना से सन्नद्ध है, हर तरह की छूत से कला की पवित्रता की रक्षा से प्रतिबद्ध हैं। 'यहाँ से देखो' की पहली कविता है, 'कविता क्या है'—

मैंने जब भी सोचा/मुझे रामचन्द्र शुक्ल की मूँछें याद आई
मूँछों में दबी बारीक-सी हँसी/हँसी के पीछे कविता का राज
कविता के राज पर/हँसती हुई मूँछें!

कलावाद का पौधा बिना जड़ के ही हरा-भरा रहता है लेकिन है वह पतनशील प्रवृत्ति ही। इस राज को आचार्य शुक्ल ने पहचाना था। साहित्य में कीमियागिरी, नक्काशी अथवा अतिशय कलात्मकता पर जोर पतनशील समाज का लक्षण है। अन्तर्वस्तु का दायरा जितना सिकुड़ता है, रूप उतना ही लुभावना एवं आकर्षक होता है। समाज जैसे-जैसे ह्रासोन्मुख होता है, कविता जड़ाऊ हार बनने लगती है। तो यह प्रवृत्ति सत्ता के पक्ष में खड़ी होती है। यह यथास्थिति के लिए सबसे मुफीद अवसर होता है। मूँछों में दबी बारीक हँसी चीरने जैसी ही क्योंकि वह पीछे के रहस्य को अच्छी तरह समझती है। रूपसाधना या रूपासक्ति की राजनीति के मर्म की इतनी साफ, स्पष्ट और बेबाक पहचान हिन्दी कविता में दुर्लभ है, और वह इसलिए कि

मेरी कठिनाई यह है/कि मैं चीजों को जानता हूँ।
जानना/चीजों के खिलाफ/आदमी की मांस-पेशियों का
लगातार हमला है

(जमीन...पृ. 22)

'जमीन पक रही है' का अर्थ ही है, नवांकुरण। समाज को बदलने के लिए उसे समझना जरूरी है। आज पहले की तुलना में झूठ बोलने के कहीं अधिक समुन्नत एवं परिष्कृत साधन मौजूद हैं। संचार-क्रान्ति ने उसे बड़ा आसान बना दिया है। जनमाध्यमों के मायालोक में पूँजी के प्रतिभावान उत्तराधिकारी एवं संस्कृति के प्रशिक्षित तस्कर इतिहास को सिर के बल खड़ा करने की तरकीबें सुझाते हैं। लेकिन हैं वे डरे हुए लोग ही : मैं घोषित करता हूँ/कि जो सच है/वह सच नहीं है

जो जानता है/उस तक खबर अभी पहुँची ही नहीं
जो हुक्म देता है/वह डरा हुआ है/जो फैसला देता है
उसे पता नहीं/वह गिरफ्तार है

(यहाँ से देखो, पृ. 84-85)

यह केदार जी की कविताओं में लेखकीय प्रतिबद्धता का सर्वथा भिन्न रूप है नवांकुरित। शायद यही जमीन पक रही है, हो। यानी कवि की रचना-दृष्टि एवं रचनात्मक परिप्रेक्ष्य दोनों का परिपक्विकरण। वहाँ न भैरवी आक्रोश है, न असन्तोष का विप्लवीकरण। वहाँ एक सुचिंत्य एवं शान्त मस्तिष्क का निर्वेद है। एक खास दूरी 'सेफ डिस्टेंस' से यथार्थ को देखने वाली आँखें, किसी अलाव की राख के नीचे दबी हुई आग की तरह—कुरेदे जाने और भभकने से पहले ऊपर से बुझा हुआ-सा। 'गोली दगे न हाथापाई, अपनी है यह अजब लड़ाई।' (अकाल में...पृ. 51)

केदारजी के पास एक प्रश्नाकुल मस्तिष्क है जो बार-बार सवाल पूछता है। सवाल पूछने के पीछे निश्चय ही एक फिलासफी है। यह पाठक में सामाजिक बोध को जगाए रखने के लिए जरूरी है। एक सर्जक के रूप में केदारजी स्वयं अपने को प्रश्नों से घिरा पाते हैं। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा, "कविता में सवाल पूछने की एक लम्बी परम्परा रही है। मेरी इधर की कविताओं में यह प्रवृत्ति बढ़ी है। एक ऐसा समाज जिसमें प्रश्न ही प्रश्न हों और उत्तर लगभग गायब हो तो इस प्रकार की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। मेरी कविताओं में जो प्रश्न उभरते हैं उन्हें आज के व्यापक सन्दर्भों से जोड़कर देखना चाहिए।" (मेरे साक्षात्कार, पृ. 134) निश्चय ही। इसके पीछे जो फिलासफी है उसे भी समझना चाहिए। अगर सभ्यताएँ प्रश्नातीत समय-विनियोग का निरापद साम्राज्य होतीं, अगर मानवता के सुयोग्य एवं श्रेष्ठ पुत्रों ने इतिहास को विचलित कर देने वाले असुविधापूर्ण प्रश्न न पूछे होते तो इस दुनिया में न तो सुकरात होते, न गैलेलियो; न आर्कमेडिज होते न आर्यभट्ट; न शेक्सपीयर और मार्क्स होते, न कबीर और मीरा। सवालों के बिना यह दुनिया कितनी बौनी होती, सहज कल्पनीय है। सभ्यता के विकास के लिए कुछ जरूरी प्रश्न अनिवार्य हैं। इसलिए केदार जी कविता में जब प्रश्न पूछते हैं तो उनका एक निश्चित विचारधारात्मक प्रयोजन है। 'उत्तर कबीर' में उन्होंने लिखा :

पूछो/क्योंकि पूछने से पृथ्वी पर/बनने लगता है समय
पूछो कि पूछने वालों की सूची में/नहीं है तुम्हारा नाम
फिर भी पूछो/चाहे खुद से पूछो
पूछो कि पूछने से भाषाएँ/जिन्दा रहती हैं।

(पृ. 85)

इससे पहले 'यहाँ से देखो' में उन्होंने लिखा :

पूछो/चाहे जितनी बार पूछना पड़े
चाहे पूछने में जितनी तकलीफ हो/मगर पूछो

(पृ. 46)

प्रश्न पूछने के खतरे हैं। वह सीधा शासक को चुनौती है, वर्चस्वशाली वर्ग को। और इसकी कीमत चुकाई गई है। क्या ईसा ने उसका मूल्य सूली चढ़कर नहीं चुकाया था? क्या सवालों के कारण ही सुकरात को विष का प्याला नहीं पीना पड़ा था? क्या गिरलार्दो द ब्रूनो को चर्च और धर्म के खिलाफ बोलने के अपराध में जिन्दा नहीं जलाया गया था? क्या गांधी ने तीन गोलियाँ खाकर उसकी कीमत नहीं चुकाई? क्या कबीर आजन्म सामाजिक उपेक्षा और अलगाव में जीने के लिए अभिशप्त नहीं हुए? क्या मीरा को पारिवारिक और सामाजिक प्रताड़ना नहीं सहनी पड़ी थी? मानवता का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। इतिहास और स्मृति कैसे एक-दूसरे की मदद से किसी रचनाकार का हाथ पकड़कर सच्चाई बयाँ करती हैं, उसका प्रमाण केदारजी की निम्न पंक्तियाँ हैं :

इंतजार मत करो। जो कहना है कहो कह डालो
क्योंकि हो सकता है फिर कहने का/कोई अर्थ न रह जाए
सोचो/जहाँ खड़े हो वहीं से सोचो
चाहे राख से ही शुरू करो
मगर सोचो (यहाँ से...पृ. 45)

आज हमने सोचना बन्द कर दिया है। सोचने का काम विज्ञापन एजेंसियों के हवाले है। अगर केदारजी कविता में प्रश्न करते हैं तो इसलिए कि प्रचार-माध्यमों के द्वारा हमारे मस्तिष्क का अनुकूलन इस ढंग से किया जाता है कि हम अब स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेने के आदी ही नहीं रह गए हैं। हम कैसे बोलें, कैसे सोचें, क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या पहनें, हमारी आदतें और अभिरुचियाँ क्या हों—इन सब पर हमारा जोर नहीं रह गया है? इतने बड़े पैमाने पर हमारी पहचान का ऐसा अपहरण पहले कभी नहीं हुआ, वह भी उस स्थिति में जब स्वाधीनता का अर्थ उपभोक्ता सामग्रियों के चयन की स्वतन्त्रता तक सीमित रह गया हो। तो यह धर्म है, ठंडे दिमाग से व्यवस्था के तर्क को समझने और समझकर बदलने का। एक पूरी फिलासफी उभरकर आती है केदारजी की कविताओं से। वही उनकी रचना-प्रक्रिया का सच है। कविताओं से उभरी हुई, वैयक्तिक दम्भ और दावों से दूर।

प्रश्न पूछना अनिवार्य है तो इसलिए भी कि संशय और दुविधा हमारे समय का सच है। बुढ़ाते पूँजीवाद के सांस्कृतिक तर्क को फ्रेडरिक जेम्सन ने उद्घाटित किया है। वह तर्क है, झूठ के महापलों के बीच सत्य के एक पल की पहचान। यह आज के उपभोक्तावादी समाज के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। स्वयं केदारजी स्वीकार करते हैं, "संशय शब्द सबसे बड़ा सच है हमारे समाज का। सन्देह और बहुत आँख मूँदकर सब कुछ को मान लेने वाला दौर तो गुजर चुका है। हमारे यहाँ का जो दौर है, वह अनिश्चयों, सन्देहों से ग्रस्त है। तो बहुत निश्चियपूर्वक 'यह ऐसा है' यह शायद राजनेता कह सकता है, कवि नहीं कह सकता। एक संवेदनशील व्यक्ति नहीं कह सकता। पाठक को झकझोरो और ऐसा करो कि वो समझने के लिए मजबूर हो।" (उत्तर केदार, पृ. 273) कहने की जरूरत नहीं कि सवाल पूछने के पीछे पाठक में वह सामाजिक विवेक जगाना है जो उसे अपने समय को समझने के लिए उकसा सके। प्रश्नों का यह क्रम अनवरत चलता है। वह सोद्देश्य है। 'शाइनिंग इंडिया', 'फील गुड' या 'मेरा भारत महान' जैसे विचारों के पुनीत दाता सोकर उठने पर सचमुच कोई नया समाज पाते हैं? भ्रम! झूठ!! और छल!! इन नारों में कितना सत्य है और कितना सत्य का झाग; उसे ही प्रश्नित करती हैं निम्न पंक्तियाँ :

जो सोता है रात में/क्या बिस्तर से वही उठता है
सुबह-सुबह
आँख मलते हुए?

(उत्तर कबीर... पृ. 132)

उठे न उठे। वर्तमान दुनिया की सच्चाई को लेकर बड़े-बड़े समाज वैज्ञानिक भी आज आँख मलते हैं। सन्देह और संशय वहाँ भी हैं। नामवर जी ने लिखा है कि "ऐसे समय में जब अनेक चिरस्थापित आस्थाएँ ध्वस्त हो रही हों, सन्देह स्वाभाविक है और यह भी सच है, अन्ध आस्था की अपेक्षा कभी-कभी सच्चा सन्देह अधिक सर्जनात्मक होता है।" (उत्तर केदार, पृ. 246) सर्जनात्मक इस मायने में कि केदारजी प्रश्न करते हैं, संशय व्यक्त करते हैं और सन्देह भी, किन्तु स्वयं सन्देहवाद के शिकार नहीं हैं। सन्देहवाद एक ऐसी विचारधारा है जो एक कर्म की प्रतिक्रिया में किए गए दूसरे कर्म को भी उतना ही सन्देहास्पद मानती है जितना पहले कर्म को। यह एक तरह का वैचारिक अराजकतावाद है जो सोच को किसी मुकाम पर पहुँचने ही नहीं देता। केदारजी संशयवादी नहीं हैं। उनके तईं उठने या जागने का अर्थ है देश-दुनिया की जैविक सच्चाई को उसके समस्त मूर्त अनुषंगों के साथ जानना। लेकिन फिलहाल जो सूरत-ए-हाल है, उसमें तीसरी दुनिया ही नहीं, विश्वमात्र के प्रायः हर हिस्से से मुक्ति-आन्दोलनों, जन-आन्दोलनों का अभाव अब एक निरापद शून्य का विस्तार कर चुका है। इसलिए यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है :

कौन बचा है/कौन नहीं/जो बचा है वह भी/ठीक अपनी
जगह पर

और ठीक अपने समय में/कितना बचा है
कहाँ है हिसाब?

(उत्तर कबीर, पृ. 137)

मलयालम के कवि-विचारक के सच्चिदानन्द ने लिखा है कि तानाशाही और सर्वसत्तावादी ताकतों ने व्यवस्था विरोधी लेखकों, बुद्धिजीवियों, कलाकारों और संस्कृतिकर्मियों को जब-तब देश निकाला, जेल या सज़ा-ए-मौत देती रही है मगर बाजारवादी व्यवस्था तो उन्हें सोखकर पूरी तरह अपने भीतर पचा लेती है और उनके विचारों के हाथ-पाँव तब तक काटती छाँटती रहती है जब तक कि वे व्यवस्था के पक्ष में न खड़े हो जाएँ या फिर स्वेच्छा से बाजार में स्वयं को बेचने के लिए घुटने न टेक दें। (ताना-बाना से) उल्लेखनीय है कि पिछली सदी के पाँचवें-छठे दशक में अमेरिकी कवि-लेखक-विचारक स्टीफेन स्पेंडर को भी कहाँ पता था कि जिस पत्रिका 'एनकाउंटर' का वह सम्पादन कर रहे थे वह अमेरिका की सबसे बदनाम संस्था कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम के आर्थिक सहयोग से निकलती थी। उसके संचालन की डोर अमेरिकी खुफिया एजेंसी सी.आई.ए. के हाथ में थी। विचारों की गजदंती मीनारों पर बैठे बुद्धिजीवियों का धरती से सम्पर्क टूटने का सबसे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है, जबकि स्पेंडर तो मार्क्सवादी थे। केदारजी ने लिखा, 'पृथ्वी से बन्द है/आकाश की बातचीत।' यह एक बड़ा प्रश्न है, बड़ी चुनौती है जो केदारजी की कविताओं से उभरती है। लेकिन सिर्फ प्रश्न पूछना ही पर्याप्त नहीं है। उत्तर देने का साहस भी होना चाहिए :

अगर बोलना है/तो एक दिन उतारने होंगे/सारे के सारे छिलके
और अन्दर झाँककर देखना ही होगा/कि आखिर रिश्ता क्या है
'नमक' ध्वनि/ और नमक के स्वाद में?/

(उत्तर कबीर...पृ. 139)

'नमक' नाम की चीज स्वाद में तब बदलेगी जब खाने के लिए अनाज मुहैया हो। भूख और स्वाद के बीच एक फाँक है। जो एक भूख है वही दूसरे के लिए स्वाद है। दूसरे शब्दों में, बहुसंख्यकों की भूख की शर्त पर धनाढ्यों की जिह्वा का स्वाद भी पलता है। अगर इन पंक्तियों के संवेदनात्मक स्रोतों की छानबीन करें तो उसकी अर्थध्वनि दैनंदिन जीवन के तनावों की ओर जाती है जो आम व्यक्ति से कवि के लगाव के बिना सम्भव नहीं है।

'यहाँ से देखो' काव्य-संकलन के आवरण पर कवि-आलोचक विष्णु खरे का छोटा-सा वक्तव्य है। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं : "केदारनाथ सिंह की कविताओं का संसार करीब-करीब पूरा भारतीय संसार लगता है—वह इस अर्थ में कि उन्हें उन तमाम स्रोतों का पता है जहाँ से जीवन मिलता है—भले ही आज की सर्वव्यापी मानव-विरोधी मुहिम में वह जीवन कुछ कम हो चला हो और कभी-कभी उसके लुप्त हो जाने का भी खतरा हो...उनका कवि इन जीवनद्रोही शक्तियों का मुकाबला निर्भीक तथा गहरी आस्था से ही करता है..." इस आस्था का सम्बन्ध अपने समय, समाज, परिवेश और जीवन संघर्ष से है जिनके बीच उनकी कविता की जड़ें फैलती हैं :

खींचो/अगर खींच सकते हो/खींचो जैसे नाव से रस्से खींचे जाते हैं
खींचो उस सूत को जो तुम्हारे हाथ में है
वर्ना तुम्हें पता भी नहीं चलेगा/और तुम खिंचते चले जाओगे
उस अदृश्य हाथ की तरफ/ जिसमें हो सकता है सूत का
दूसरा छोर हो (उत्तर...135-136)

इस अदृश्य हाथ को कभी एडम स्मिथ ने 'बाजार का अदृश्य हाथ' कहा था। आज पूरी दुनिया बाजारवाद की गिरफ्त में है। उसमें सम्मोहन भी है ओर आतंक भी। यह सम्मोहन और आतंक केदारनाथ सिंह के उस मायावी बाघ की तरह है जो हमें आकर्षित भी करता है और आतंकित भी। अगर आकर्षण और आतंक से बाहर निकलकर जीवन-डोर के दूसरे सिरे को न खींचा गया तो उसकी स्वाभाविक परिणति बाजारवादी व्यवस्था के अन्तर्मुक्तिकरण में होगी जहाँ हर रिश्ता वस्तु में बदलता हुआ माल है, माल में बदलता हुआ इन्सान और उसकी इन्सानियत। आज से पहले मनुष्य का इतना आत्मकेन्द्रित और संवेदनशून्य चेहरा पहले कभी दिखाई नहीं पड़ा। रोजालग्जेमबर्ग ने बहुत पहले अपनी पुस्तक 'रिविजनिज्म ऑर रेवोल्यूशन' में लिखा था कि अगर समय रहते पूँजीवाद की विदाई नहीं हुई तो वह अराजकता लाएगा। 'दिग्विजय का अश्व' कविता में केदारजी ने मध्यकालीन बर्बर शहंशाहों द्वारा घोड़ा छोड़कर पूरी दुनिया को जीत लेने की उन्मादी प्रवृत्ति के संकेत से आज के निरन्तर फैलते उपभोक्तावादी जीवन शैली पर लगाम लगाने की अपील की है :

कोई उसे रोके/उसे बाँधे, /झुटपुटे में फिर वह कहीं बिला जाएगा!
चक्रवर्ती कहाँ है वह/कौन है हममें?
दिग्विजय का अश्व यों ही चला जाएगा?

(अभी...पृ. 40)

दरअसल जिसे रचनाकार की रचना-दृष्टि कहते हैं, वह

उसका जीवन विवेक ही होता है। किसी संघटना या समाज के यथार्थ को समझने का अर्थ है उसके अन्तर्विरोधों को समझना। यह जीवन-विवेक ही उसे अन्तर्विरोधों को समझने की दृष्टि देता है। सच्चे सवाल भी वहीं से जन्म लेते हैं, अन्यथा–

तो क्या है/अपने नरक की आँखों में/आँखें डालकर
अपलक-अटूट खड़े रहने के अलावा?

(उत्तर... पृ. 141)

केदारजी की बहुआयामी सृजनशीलता उनके शब्दों के अर्थगांभीर्य, मानवीय जीवन के छोटे-बड़े अनुषंगों एवं उसकी जिजीविषा, संघर्ष के कई रूपों में अभिव्यक्त हुई। व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को उन्होंने सूक्ष्म सांकेतिक रूप से व्यक्त किया है, लोककथा में अन्तर्निहित लोक अभिप्रायों के द्वारा। इस मायने में 'लोककथा' कविता अपनी व्यंजना में विलक्षण कविता है। इस कविता में राजतंत्र पर तो व्यंग्य है ही, मृत्यु के भव्य उत्सवीकरण के पाखंड का भी उद्घाटन है जहाँ शव के प्रति सम्मान प्रकट होता है लेकिन जीवित की कोई चिन्ता नहीं होती। मंत्री, पुरोहित, हाथी, घोड़ा, राजा के सम्मानचिह्न हैं। बढ़ई, धोबी, नाई, कुम्हार, राजा की वास्तविक प्रजा हैं। ये सभी दुःखी हैं और दुःखों में साझीदार भी। किन्तु राजा के मरने का दुःख किसी को नहीं है, क्योंकि इन सबके दुःखों का कारण राजा ही है।

केदारजी की कविताओं की कलात्मक विशिष्टता यह है कि सामाजिक अन्तर्विरोधों को खोलने के लिए वे जिस टेक्नीक का सहारा लेते हैं, वह यथार्थवाद की नहीं है, बल्कि यथार्थ के विडम्बनात्मक बोध की पहचान पर लिखी गई हैं। दूसरे शब्दों में, वहाँ विरोधाभासी व्यवहार को साधने की कला दिखाई देती है। उसमें जीवन या जीवन के इस या उस अनुभव का चित्रण नहीं है। वहाँ उस अनुभव के विडम्बनात्मक बोध को साधने की कला का दर्शन होता है। उनकी कविताएँ अमूमन अपने प्रकट अर्थ से अलग हटकर किसी अन्य विषम यथार्थ के तनाव, विरोधाभास एवं व्यंग्य की ओर इशारा करती हैं। उसे वास्तविकता या यथार्थवाद के जाने-पहचाने नियमों या परिचित मानदंडों से नहीं नापा जा सकता। अभिव्यक्त और सूचित अर्थों की अभ्यान्तरित एकता, उसकी विरोधाभासी प्रकृति के बीच सन्तुलन और सामंजस्य बनाए रखते हुए कलात्मक प्रस्तुति देने में केदारजी ने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। कविता का गद्यीकरण 'पाराफ्रेजिंग' उसकी हत्या करता है। महत्त्वपूर्ण है उस व्यंग्य और विद्रूप की पकड़। यानी कहे से अनकहे का विडम्बनात्मक बोध। इस टेक्नीक का प्रयोग केदारजी ने बहुत सफलता से किया है। उनकी कविताओं में जो संयम है, आत्म और शब्द स्फीति का जो अभाव है, जिसे मैंने ऊपर से ठंडी और अन्दर से तापपूर्ण कहा है, उसका रहस्य भी यही है।

ऊपर मैंने 'दो मिनट का मौन' कविता के सन्दर्भ में व्यंजित अर्थ को उसका मर्म कहा है। किसी शास्त्रीय अर्थ में नहीं। जहाँ शास्त्र की सीमाएँ खत्म होती हैं, केदारजी की कविताएँ वहीं से शुरू होती हैं। स्वयं केदारजी मानते हैं कि 'शास्त्र में लाठी जैसा आतंक होता है।' इस आतंक में कविता कैसे सम्भव है? अगर 'यह अग्निकिरीटी मस्तक' कुछ असुविधापूर्ण प्रश्नों को लेकर लिखी गई तो मस्तिष्क के खंडित होने के भय और अभिशाप के शास्त्रीय मर्यादाओं के बावजूद। ये प्रश्न जितना समाज के बुद्धिजीवियों से है, उतना ही कवि का स्वयं से भी है। जिसे सभ्यता कहते हैं, आज उसका आदर्श वाक्य है, सोचो दुनिया के लिए करो अपने लिए–'थिंक ग्लोबली एक्ट लोकली।' एक ओर थोड़े से अपनी बौद्धिकता से परेशान खाए-पीए और अघाए लोग हैं, दूसरी ओर असंख्य निरक्षर और भूखा जनसमुदाय है जिसे फां फेनां ने ठीक ही पृथ्वी का अभिशाप 'रेचड्र्स ऑफ द अर्थ' कहा था। दुनिया की आबादी का इतना साफ विभाजन भी पहले कभी नहीं हुआ था। इन्सान का दिमाग एक आग है अगर वह दूसरों के लिए भी सोचता है। वह डायनासोर है जो अपने ही भार से मर भी सकता है। कविता इसी विडम्बना एवं विरोधाभास को उद्घाटित करती है :

सब चेहरों पर सन्नाटा/हर दिल में गड़ता काँटा
हर घर में गीला आटा/यह क्यों होता है?
जीने की जो कोशिश है/जीने में क्या जो विष है
साँसों में भी कशिश है/इसका क्या करिए?

(यहाँ से...पृ. 54)

सीधे-से लगने वाले, इन प्रश्नों के उत्तर उतने ही उलझनपूर्ण और जटिल हैं। अगर उसके अर्थ-संकेतों को न पकड़ें तो कविता एक कवि का आत्मबयान प्रतीत होगा। ये प्रश्न मनुष्य को मनुष्यत्व से अलगाने वाली उत्पीड़नकारी व्यवस्था से है और उसके संरक्षक सुयोग्य बौद्धिक उत्तराधिकारियों से भी जो वर्ग-समाज के अधीन अन्ततः समूची मानवता के विध्वंस को चुपचाप देखते हैं। ये प्रश्न उस लोमप्रसूत सभ्यता से है जिसे आज भूमंडलीकरण का आसान नाम देकर मानवता की अधिकांश आबादी को उसके भाग्य की अन्धी ताकतों के रहमोकरम पर छोड़ दिया जाता है। एक भ्रष्ट एवं आत्मकेन्द्रित सभ्यता का गुणधर्म 'अपने लिए सोचो और करो' ही हो सकता है :

कुछ लोग खेत बोते हैं/ कुछ चट्टानें ढोते हैं
कुछ लोग सिर्फ होते हैं/इसका क्या मतलब? (उप.)

ये प्रश्न किसी अमूर्त दार्शनिक चिन्तन के परिणाम नहीं हैं। कुछ लोग सिर्फ होते हैं, में गहरी विडम्बना है; उसकी

निष्क्रियता और निरर्थकता का बोध। खाओ-पीओ और मौज करो की एक विशिष्ट जीवनशैली का अद्भुत दर्शन। इसलिए ये प्रश्न वस्तुगत यथार्थ के धरातल से उपजे हैं और उन प्रत्यक्ष परिस्थितियों पर आधारित हैं जो मानवजाति के अपरिहार्य शोषण, अभावग्रस्तता और वर्ग सभ्यता के दायरे से बाहर निकलकर मनुष्योचित इतिहास के दायरे में प्रवेश करने की महत्तर चिन्ता से जुड़े हुए हैं। उसकी मारक क्षमता भाषिक और आन्तरिक कथ्य संरचना दोनों ही स्तरों पर पैनी है।

हर इन्सान के जीवन का कोई-न-कोई फलसफा होता है, दर्शन होता है। चाहे वह उसके प्रति सचेत हो न या न हो। चाहे वह कितना ही अस्पष्ट, धुँधला और उलझा हुआ क्यों न हो। जो सिर्फ होते हैं वे बंजर भी होते हैं। बहुत पहले सार्त्र ने कहा था, होने का अर्थ ही है करना। 'टु बी मीन्स टू डू।' 'करने' से अभिप्राय स्वतन्त्रता की रक्षा करना है, क्योंकि मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है, 'मैन इज कंडेम्ड टू बी फ्री।' किन्तु आज जो इतिहास का अन्त, सामाजिक क्रान्तियों की स्थायी विदाई, समाजवाद के पतन के साथ पूँजीवाद के विश्वविजयी जयघोष और उसकी स्थायी गुलामी को लेकर जो सिद्धान्त गढ़े जा रहे हैं, विमर्श खड़े किए जा रहे हैं, वे भी उतने ही सन्देहास्पद हैं जितना उनके पैरोकारों द्वारा पक्ष में दी गई दलीलें। ये हमें कुछ समय के लिए आरामदेह खुशफहमी की दुनिया में ले जा सकते हैं लेकिन व्यवहार की दुनिया से जन्मे वास्तविक द्वन्द्व और तनावों से मुक्ति नहीं दिला सकते। वैसे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या बाजारवादी उसूलों की स्वीकृति और खुले अर्थतंत्र वाला उपभोक्तावादी समाज ही समाजवाद की प्राथमिक असफलता का एकमात्र विकल्प होगा? क्या हमें नई सोच और नए सौन्दर्यबोध की जरूरत नहीं है जो आज की दुनिया में व्यक्ति और समाज के बिगड़े रिश्ते को फिर से जोड़ सके और बाजार और व्यापार की निर्वैयक्तिक संवेदनशून्य भाषा से लोहा ले सके जिसने पुराने सभी कलान्दोलनों, श्रेष्ठ रेनेसाई मूल्यों के साथ मनुष्य की अपनी सत्ता, निजता और स्वतन्त्रता को भी ध्वस्त कर डाला है। इसलिए आत्मग्रस्तता से बाहर निकलने के लिए भी सही सवाल को सही परिप्रेक्ष्य से उठाना जरूरी है :

मेरा पथराया कन्धा/जो है सदियों से अन्धा/जो खोज चुका हर धन्धा
क्यों चुप रहता है?/ यह अग्नि किरीटी मस्तक/जो है मेरे कन्धों पर
यह जिन्दा भारी पत्थर/ इसका क्या होगा? (उप.)

पथराए कन्धे पर अग्निकिरीटी मस्तक! यानी निर्जीव शरीर में सचेतन मस्तिष्क! कितना बड़ा विरोधाभास है। ज्ञान भी एक बोझ ही है—पथराया हुआ बुद्धि-पिंड अगर उसमें प्रश्न पूछने का साहस नहीं है। बिलकुल निरर्थक एक भारी पत्थर की तरह। यह सौन्दर्यानुभूति नई कविता के सौन्दर्यवाद और फैशनेबुल साहित्यान्दोलनों के सौन्दर्यबोध से सर्वथा भिन्न है। कवि केदारनाथ सिंह के काव्य-विकास को समझने के लिए उनके दो दशकों की चुप्पी सचमुच बहुत मायने रखती है। परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है कि 'केदारनाथ सिंह एक लम्बे अन्तराल के बाद जिस साधारण के सच तक पहुँचे थे, वह महज सरलता के कारण महत्त्वपूर्ण हुआ मुहावरा न था। इस सरलता के पीछे भी अनुभव की तह थी।' (कविता का उत्तर जीवन, पृ. 160-61) आज वह अनुभव और परिपक्व हुआ है।

प्रारम्भिक कविता और परवर्ती विकास

सुधीर रंजन सिंह

श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक हिन्दी कविता के प्रथम परम्परा-निर्माताओं (ट्रेंड सेटर्स) में से आते हैं। परम्परा-निर्माता आवश्यक नहीं कि बहुत बड़े और निरापद रूप से अनुकरणीय कवि हों। उनका महत्त्व उस वातावरण के निर्माण में है, जिसके कारण रचनात्मकता को गति मिलती है। न केवल श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त, उस समय के कई और नाम हैं—हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (दूसरा उपनाम 'त्रिशूल'), नाथूराम शंकर शर्मा, राय देवीप्रसाद पूर्ण—जिनके महत्त्व को ऐतिहासिक आवश्यकता के अधीन समझने की ज़रूरत है। ये आधुनिक हिन्दी कविता के परम्परा-निर्माता हैं। इनकी कविता की ध्वनि हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों में सुनी जा सकती है।

वस्तुतः कुछ आवाज़ें ऐसी होती हैं, जो बाद की आवाज़ों और उनकी प्रतिध्वनियों से दब जाती हैं। लेकिन जब हम इतिहास को उसके समूचेपन में जाँचने की कोशिश करते हैं तो आश्चर्यजनक रूप से वे आवाज़ें हमें प्रकम्पित करने लगती हैं, जिन्हें हमने मृतप्राय समझ लिया था। उल्लेखित कवियों की कविताएँ इस बात की पुष्टि के उदाहरण बनने योग्य हैं। वे हमें विचार के लिए अवसर देती हैं कि पीछे जो कुछ दब गया है, वर्तमान उससे वास्तव में खाली नहीं है।

काव्य-रचना से पहले आधुनिक हिन्दी में गद्य का विकास हुआ। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में विकास-क्रम के अनुसार गद्य का प्रकरण पहले है। बाद के अधिकांश इतिहास-ग्रन्थों में कविता का प्रकरण पहले है। इतिहास-विवेक में यह परिवर्तन क्यों आया? इसके पीछे, निश्चित ही, गद्य साहित्य की तुलना में कविता का उत्तरोत्तर मजबूत होना है। सिलसिला यह है कि खड़ीबोली कविता के लिए थोड़ी ज़मीन भारतेन्दु युग में तैयार हुई; श्रीधर पाठक ने उसे जरूरी सृजनात्मक आधार प्रदान किया; मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध आदि के रूप में उसके मजबूत पाए द्विवेदी युग में बने।

आज जब आधुनिक हिन्दी कविता की बात की जाती है तो लोगों की निगाह छायावाद से पीछे कम जाती है। यह अधूरे अकादमिक अभ्यास के कारण है। इससे भिन्न तथ्य यह है कि हमारी रचनात्मक ऊर्जा को उत्प्रेरित करने वाले न जाने कितने बिम्ब, भाषा-लय और छन्द सक्रिय रहते हैं, जो श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त आदि से चलकर आए हैं। दूसरे शब्दों में, ये कवि खड़ीबोली कविता के प्रथम प्रस्थान हैं, जिनकी स्मृतियाँ बाद के कविता-युगों में ध्वनित होती हैं। जहाँ ध्वनित नहीं होतीं या कम ध्वनित होती हैं, वहाँ भी ये अभाव की तरह खटकते हैं।

65 सुभाष विहार, पिपलानी, भोपाल 462 022

अपने प्रथम उत्थान में हिन्दी कविता को दोहरी जिम्मेदारी उठानी पड़ी है। खड़ीबोली को अपनाकर एक नई काव्य-भाषा के निर्माण के लिए उठ खड़ा होना, और पीछे से चली आ रही ब्रजभाषा काव्य-परम्परा के निर्वाह की भी कोशिश करना। जब ज़्यादातर कवि ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली के द्वन्द्व में पड़े थे, श्रीधर पाठक दोनों बोलियों में समान रूप से रचना कर रहे थे। इस तरह, वे खड़ीबोली के पहले महत्त्वपूर्ण कवियों में से एक हैं तो ब्रजभाषा और खड़ीबोली को समान महत्त्व देने की दृष्टि से भी सबसे ऊपर हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें सच्चे स्वच्छन्दतावाद (ट्रू रोमांटिसिज़्म) का प्रवर्तक कहा है, वह अपनी जगह सही है; लेकिन सच्चे अर्थों में वे हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास के कवि हैं।

श्रीधर पाठक खड़ीबोली कविता के प्रवर्तक हैं और ब्रजभाषा के भी श्रेष्ठ कवि हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने माना है कि "खड़ीबोली की कविताओं की अपेक्षा पाठक जी की ब्रजभाषा की कविताएँ ही अधिक सरस, हृदयग्राहिणी और उनकी मधुर स्मृति को चिरकाल तक बनाए रखने वाली हैं।"[1] सच्चे स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक श्रीधर पाठक और ब्रजभाषा के भी श्रेष्ठ कवि श्रीधर पाठक–इन दोनों बातों में अन्तर्विरोध नहीं है। ब्रजभाषा में भी उन्होंने ऐसे-ऐसे चित्र खींचे हैं जिनका परिभाषित स्वच्छन्दतावाद से स्वाभाविक सम्बन्ध बनता है। स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने 'वर्षा-वर्णन' (कालिदास की 'ऋतुसंहार' पर आधारित) का जो सवैया उद्धृत किया है, उसे पढ़ते हुए निराला की 'बादल राग' की शुरुआती पंक्तियों की याद ताज़ा हो जाती है–

बारि फुहार भरे बदरा
सोइ सोहत कुंजर हैं मतवारे
बीजुरी-ज्योति-धुजा फहरैं
घन-गर्जन-शब्द सोई हैं नगारे
रोर कौ घोर कौ और न छोर
नरेसन की-सी छटा छवि धारे
कामिनी के मन कौ प्रिय पावस
आयो प्रिये नव मोहनी डारे।

(श्रीधर पाठक ग्रन्थावली-4, पृ. 224)

पन्त की 'बादल' कविता का उदाहरण लें। 'वर्षा-वर्णन' में 'घन-गर्जन-शब्द सोई हैं नगारे' और 'कामिनी के मन को प्रिय-पावस' है तो 'बादल' में 'धूम धुँआरे काजर कारे' और 'कामरूप घनश्याम अमर' है। एक पंक्ति में ध्वनि-साम्य है तो दूसरी में भाव-साम्य। शब्द, ध्वनि, लय और भावों के साम्य में अतीत और वर्तमान की सन्निधि छुपी होती है।

कालिदास कैसे रीतिकाल के छन्द से गुज़रते हुए श्रीधर पाठक फिर पन्त और निराला तक पहुँचते हैं–परम्परा की इस घुमावदार यात्रा का नाम ही काव्य-कला है।

'वर्षा-वर्णन' (1903) से पहले लिखी एक कविता है 'घन-विनय' (1899)। 'बादल राग' के छठवें राग से औचित्य-सम्बन्ध तो है ही, जब हम कविता का पाठ करते हैं तो आन्तरिक रिद्म में भी समानता प्रकट होने लगती है। काव्यशास्त्र और आलोचना के सूत्रों से समझने के बजाय सामूहिक अनुभव के नियम से दो अलग-अलग कविताओं का पाठ करें तो एक रचना में दूसरी की झलक ज़्यादा आसानी से देखने को मिल सकती है। 'घन-विनय' में 'दिनदिन दीन-दुखित-जन-दुख-दारुन दुगनात' जैसी पंक्ति जब पढ़ने को मिलती है तो 'बादल राग' की 'अस्थिर सुख पर दुख की छाया–जग के दग्ध हृदय पर' जैसी पंक्ति भी मस्तिष्क में उमड़ने लगती है। उसी तरह, इन दोनों उदाहरणों को मिलाकर देखें–

हे प्रानद आनद घन,
हे जग-जीवन-सार
हे सजीव जीवन घन
हे त्रिभुवन-आधार

(घन-विनय)

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार!

(बादल राग-6)

कविता यदि कवि के सर्जनात्मक मानस का अनुभव हुआ करती है तो उस 'अनुभव' का विगत के कवियों के अनुभव से किसी अंश में तारतम्य होता है। यह बात बिम्ब, लय आदि की दृष्टि से किसी-किसी उदाहरण में इतनी सुस्पष्ट दिखाई पड़ती है कि एक ही कविता के दो पाठ पढ़ने का अनुभव होता है। पन्त की प्रसिद्ध कविता है 'उच्छवास', जिससे नामवर सिंह ने छायावाद का प्रारम्भ माना है[2], उसमें वर्णित यह पर्वतीय दृश्य बहुत प्रसिद्ध रहा है :

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश!
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार;

— जिनके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल!!

(पल्लव, पृ. 55-56)

नामवर सिंह की 'छायावाद' पुस्तक के एक अध्याय का शीर्षक ही है 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति—वेश'। उसमें कहा गया है, "पन्त ने हिन्दी कविता में पहली बार कुछ ऐसे पर्वतीय दृश्यों का चित्रण किया, जो कवियों तथा पाठकों के लिए सर्वथा नए थे।"[3] उपर्युक्त पंक्तियों को यदि श्रीधर पाठक की 'कश्मीर सुषमा' की इन पंक्तियों से मिलाकर पढ़ें तो 'नए' के बजाय विगत से 'तारतम्य' की बात ज़्यादा ठीक मालूम पड़ती है :

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठी निज रूप संवारति
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति
बिम्ब-अम्बु-सर मुकरन महं मुख-बिम्ब निहारति
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति।

(श्रीधरपाठक रचनावली-2/135)

पन्त के अगले साहित्यिक विकास पर नज़र डालें। छायावाद के बाद उनका अगला बड़ा पड़ाव है 'ग्राम्या' (1940)। जिस वर्ष 'ग्राम्या' के इस कवि का जन्म (20 मई, 1900) हुआ था, श्रीधर पाठक ने उसी वर्ष 'गुनवन्त हेमन्त' (9 जनवरी, 1900) कविता लिखी थी। पन्त की कविताओं के सुसम्पादक दूधनाथ सिंह ने लिखा है, 'ग्राम्या' की कविताएँ पन्तजी के सारे प्रयासों में अप्रतिम हैं। उनकी सहजता, अनुभवगत सक्षमता और यथार्थ का गहरा, सर्व-सुलभ और यथातथ्य चित्रण सहसा चकित कर देते हैं।"[4] इस कथन के समर्थन में 'ग्रामश्री' की कुछ पंक्तियाँ पेश हैं :

रोमांचित-सी लगती वसुधा
आई जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली!
उड़ती भीनी तैलाक्त गंध
फूली सरसों पीली-पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली!

(ग्राम्या, पृ. 35)

इन्हें 'गुनवन्त हेमन्त' की इन पंक्तियों से मिलाकर देखें :

नव-गेहूँ-जव-खेत, हरित छवि सोहनी
सरसों सरस सुहात, दरस-मन-मोहनी,
सुघर सौंफ, सुन्दर-कसूम-क्यारी घनी
उलहि रहीं रमनीक, नीक-सोभा-सनी
मूरी, मटर, मलूक, फूल कोमल कली
सरस साग सुठि स्वाद, मृदुल मीठी फली।

(श्रीधर पाठक ग्रन्थावली-2/205)

'सर्व-सुलभ और यथातथ्य चित्रण' के ये दोनों उदाहरण क्या यह सोचने के लिए विवश नहीं करते कि पन्त ने जिस ब्रजभाषा की 'पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ'[5] देखी थीं, उसी की देन को उनके जन्मकाल में श्रीधर पाठक कैसे नए यथार्थ के अनुरूप कर रहे थे, और इस कदर कि छायावाद से विचलन के बाद 'ग्राम्या' के कवि के वह काम आई!

श्रीधर पाठक ने, ब्रजभाषा के समर्थ कवि होने के बावजूद, खड़ीबोली में पद्य-रचना को वर्तमान के वास्तविक मिजाज को समझते हुए ज़रूरी माना था। उनकी ब्रजभाषा में लिखी कविता भी वैसी नहीं थी, जैसी उस समय रत्नाकर आदि विशुद्ध ब्रजभाषा के कवि लिख रहे थे। दूसरी बात, ब्रजभाषा ने इनकी खड़ीबोली कविता को खड़ा करने में मदद पहुँचाई थी, लेकिन वह खुद भी खड़ीबोली की यथातथ्यात्मकता, विवरणपरकता आदि गुणों के प्रभाव में देखी गई। इस रूप में, यह केवल भाषा-प्रयोग की बात नहीं थी, उसके पीछे उस समय का 'मानस' काम कर रहा था, जो आधुनिकता की माँग के अनुरूप तैयार हुआ था। जाहिर बात है कि यदि खड़ीबोली काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत नहीं होती तो उसका दायित्व ब्रजभाषा को ही निभाना पड़ता। लेकिन पूर्व-आधुनिक भाषा के रूप में ब्रजभाषा साहित्यिक जीवन पाने में अक्षम थी। इसीलिए विशुद्ध ब्रजभाषा कवि के रूप में रत्नाकर आदि ज़रूर बड़े थे, लेकिन ब्रजभाषा में भी आधुनिक दिखाई पड़े श्रीधर पाठक।

श्रीधर पाठक ने अपने प्रारम्भिक रचना-काल में ही आयरिश स्वच्छन्दतावादी कवि गोल्डस्मिथ की तीन कविताओं के अनुवाद किए थे। 'एकान्तवासी योगी' के नाम से 'हरमिट' का अनुवाद खड़ीबोली में है। 'उजड़ गाम' नाम से 'डेज़र्टेड विलेज़' का अनुवाद ब्रजभाषा में है। तीसरी कविता 'ट्रेवलर' के अनुवाद के रूप में 'श्रान्त पथिक' है। यह खड़ीबोली में है।

श्रीधर पाठक को कम समय में प्रसिद्धि मिल गई थी तो उसके पीछे गोल्ड स्मिथ की कविताओं के अनुवाद हैं। उसी के कारण हिन्दी-प्रेमी प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान फेडरिक पिन्काट उनके प्रशंसक बने। उन्होंने 'उजड़ गाम' की समीक्षा भी की, जो इंग्लैंड की पत्रिकाओं में छपी। श्रीधर पाठक से उनका नियमित पत्राचार होता था। महावीरप्रसाद द्विवेदी को भी गोल्ड स्मिथ का अनुवाद बहुत पसन्द था। रामचन्द्र शुक्ल ने

'एकान्तवासी योगी' के सन्दर्भ में अत्यन्त युक्तियुक्त टिप्पणी की है : "सीधी-सादी खड़ीबोली में अनुवाद करने के लिए ऐसी प्रेम कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों के गीतों की मार्मिकता के मेल में हों, पंडितों की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।"[6]

'एकान्तवासी योगी' शास्त्रीय प्रणाली से निकलकर 'अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र' के निर्माण का प्रयास है। रामचन्द्र शुक्ल की पदावली के ही सहारे कहें तो सर्वप्रथम इसी के द्वारा "काव्यक्षेत्र में... स्वाभाविक स्वच्छन्दता (रोमैंटिसिज़्म) का आभास पं. श्रीधर पाठ्क ने दिया था...।"[7] दूसरे शब्दों में, इसके द्वारा उन्होंने कविता का नया आदर्श सामने रखा था। 'श्रान्त पथिक' एक कदम और आगे की साबित हुई। इसके अनुकरण की प्रवृत्ति ज़्यादा देखी गई। 20वीं शताब्दी के पहले-दूसरे दशक में पथिक पर कविता लिखने का फैशन चल पड़ा। जयशंकर प्रसाद ने 'प्रेम पथिक' की रचना की, रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' लिखी। सियारामशरण गुप्त ने तो चौथे दशक में आकर अपने संग्रह का नाम 'पाथेय' रखा, जिसकी 'यात्री' और 'परदेशी' जैसी कविताओं में श्रीधर पाठ्क ध्वनित होते हैं।

श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के अनुवाद के द्वारा जो आदर्श सामने रखा वह दूसरों के लिए अनुकरणीय तो साबित हुआ ही, उनके भी बाद तक के लेखन में गोल्डस्मिथीय समझ काम कर रही थी। यहाँ 'समझ' को परिपाटी चलाने के अर्थ में समझने की भूल हम न करें। श्रीधर पाठक इस अर्थ में महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में आए कवियों से भिन्न हैं। 'समझ' से हमारा आशय अव्यक्त सम्बन्ध से है। कोई रचना पृथक अनुभव से लिखी जाने के बावजूद समानताओं की एक श्रेणी मे बद्ध दिखाई पड़ती है।

श्रीधर पाठक की एक प्रसिद्ध कविता है 'सांध्य–अटन' (1918)। रामचन्द्र शुक्ल को यह कविता बहुत पसन्द थी। इसके अतुकान्त प्रयोग को उन्होंने बहुत सफल माना था।[8] उसी क्रम में दूसरी कविता है 'अटवि-अटन' (1918)। दोनों कविताएँ अतुकान्त और लगभग मुक्त छन्द में हैं। छन्द-प्रयोग से अलग देखें तो कुछ ऐसे सूत्र हैं जो इन्हें 'श्रान्त पथिक' की निरन्तरता में देखने के लिए बाध्य करते हैं। 'अटन' का अर्थ ही है भ्रमण। इनमें 'श्रान्त पथिक' के समान देश-देश का भ्रमण भले न हो, लेकिन प्रकृति-जगत् के कारुणिक दृश्य के कारण उसी के समान मर्मस्पर्शी है। कुछ ऐसे सूत्र हैं, ऐसी समानताएँ हैं या घटक-तत्त्व हैं, जो इन्हें गोल्डस्मिथ से जोड़ देते हैं। तुलना-विचार से हम यह नहीं कह रहे हैं। कवि की समझ की निरन्तरता की दृष्टि से यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है।

'समझ' कोई स्थिर सत्ता नहीं है। काव्य-कृतियों के सन्दर्भ में यह अकेले किसी व्यक्ति को इंगित करे, यह आवश्यक नहीं। यह अपने ढंग की अनेक कृतियों और उनकी शृंखला में सक्रिय रहती है। पीछे हमने प्रसाद की 'प्रेमपथिक' की चर्चा की है। वह पहले ब्रजभाषा में लिखी गई थी। 1909 में इन्दु में छपी थी। 1915 में प्रसाद ने इसका खड़ीबोली में रूपान्तरण किया। यह प्रसाद की छायावादी कविता नहीं है, लेकिन श्रीधर पाठक के स्वच्छन्दतावाद की परम्परा में ज़रूर है। रामचन्द्र शुक्ल ने इसका उल्लेख करते हुए, यह आकस्मिक नहीं, श्रीधर पाठक को याद किया है।[9]

'श्रान्त पथिक' एक आत्मकथात्मक कविता है। 'प्रेमपथिक' भी आत्मकथा का आभास देती है। आत्मकथात्मकता स्वच्छन्दतावाद की बुनियादी विशेषता है। एक अच्छी आत्मकथा जीवन-यात्रा के साथ-साथ उसका कलात्मक-दार्शनिक रूपान्तरण होती है। वह निष्कर्षतः आत्मदर्शन है। कई देशों की यात्रा के बाद 'श्रान्त पथिक' के पथिक की दृष्टि जब मातृभूमि इंग्लैंड पर पड़ती है तो उसमें स्वाभाविक नॉस्टिलिजिया पैदा होता है, और वह दर्शन में बदल जाता है—कि सुख का केन्द्र स्थान मन है।

डाले है निज दृष्टि दूर इंग्लैंड जहाँ जगमग राजै
मेरे संग सहानुभूति का स्वर उसके उर में बाजै
निपट निरर्थक हुआ मेरा सब श्रान्त यत्न और अनुसन्धान
उस सुख के पाने को जिसका केवल मन में है केन्द्र स्थान

(श्रीधर पाठक ग्रन्थावली-2/117)

कितना सधा हुआ काव्यान्तरण है, मूल देखिए—

Casts la long look where England's glories shine
And bids his bosom sympathize with mine
Vain, very vain, my weary search to find
That bliss which only centres in the mind.

'प्रेमपथिक' का फलक 'श्रान्त पथिक' जितना विस्तृत नहीं है। यह बाल-प्रेमियों के बिछोह और मिलन की कथा है। दीर्घ बिछोही जीवन-यात्रा के बाद मिलन! देह-सौन्दर्य नहीं बचा। विकल्प है अन्तर्मन में प्रकृति के विपुल सौन्दर्य से साक्षात्कार।

...आन्तरिक स्वर्ग में रमण करो निष्काम
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में...
विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।

(प्रसाद ग्रन्थावली-1/101)

'आन्तरिक स्वर्ग में रमण' अर्थात् सुख का 'केवल मन में है केन्द्र स्थान'।

'प्रेमपथिक' किसी अंश में 'श्रान्त पथिक' की परम्परा की कविता है। दूसरी ओर देखें, खुद प्रसाद की 'आँसू' और 'कामायनी' जैसी प्रौढ़ छायावादी कृतियों में 'प्रेमपथिक' की काव्य-चेतना का उच्चतर कलात्मक-दार्शनिक विकास होता गया है। विनोदशंकर व्यास को पढ़कर मालूम हुआ कि प्रसाद 'आँसू' को 'कामायनी' में शामिल करना चाहते थे।"[10] ऐसा नहीं किया, फिर भी 'कामायनी' में 'आँसू' का उत्ताप देखा जा सकता है। विनोदशंकर व्यास ने भी माना है कि 'आँसू', 'कामायनी' महाकाव्य का अंकुर है।""[11] इसमें जोड़ा जाना चाहिए कि इन दोनों की पिछली कड़ी 'प्रेमपथिक' है।

'कामायनी' समाप्त होती है इन पंक्तियों से :

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था।

(प्रसाद ग्रन्थावली-1/704)

'प्रेमपथिक' में प्रसाद पहले ही कह चुके थे :

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिके रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।

(प्रसाद ग्रन्थावली-1/96)

चौथे दशक के मध्य तक छायावाद का विकास हुआ। छायावादी अभिव्यंजनाओं की क्रमिक प्रौढ़ता सबसे अधिक जयशंकर प्रसाद में देखी गई। दिलचस्प बात यह भी है कि उनकी जिस कृति 'प्रेमपथिक' को छायावादी नहीं माना जाता, उसकी मनोचेतना से प्रसाद कभी मुक्त नहीं हुए। वस्तुतः प्रसाद स्मृतियों के कवि हैं। स्मृति में काल की सत्ता नहीं होती। यह एक ऐसा पक्ष है, जो प्रसाद के पूरे काव्य-अनुभव पर छाया हुआ है।

प्रसाद, निराला और पन्त बड़े कवि हैं। श्रीधर पाठक उनके समान बड़े कवि नहीं थे। लेकिन उनका ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में है कि वे आधुनिक हिन्दी के बड़े कवियों के पीछे किसी अंश में खड़े दिखाई पड़ते हैं। द्विवेदी युग और छायावाद के बहुत बाद की कविता में भी कहीं-कहीं उनका स्वर देखा जा सकता है। उनकी एक छोटी-सी कविता है 'मनूजी' (1918) :

मनूजी तुमने यह क्या किया?
किसी को पौन, किसी को पूरा, किसी को आधा दिया
सरस प्रीति के थल में बोया बिस-अनीति का बिया
लुब्ध पाप का, क्षुब्ध शाप का स्यापा सिर पर लिया
मनूजी तुमने यह क्या किया?

और अधिक क्या कहें बाप जी, कहते दुखता हिया
जटिल जाति का, अटल पात का, जाल है किसका सिया?
मनूजी तुमने यह क्या किया?

(श्रीधर पाठक ग्रन्थावली-2/445)

यदि न बताएँ तो मजे में इसे नागार्जुन की कविता माना जा सकता है। अन्तर्वस्तु से भी यह प्रगतिवाद की कविता ठहरती है।

हिन्दी कविता में जिसे राष्ट्रीय धारा कहा जाता है, उसका सूत्रपात भी श्रीधर पाठक ने किया। 1883-84 में ही उन्होंने कई देशप्रेम की कविताएँ लिखी थीं, जिनमें से एक है 'हिन्द वन्दना'—'जय देश हिन्द, देशेश, हिन्द/ जय सुषमा-सुख-निःशेष हिन्द'। 'जय देश हिन्द' में से 'देश' हटा दिया जाए तो देश का कौमी सलाम बन जाता है—'जय हिन्द'। एक कविता है 'प्यारा हिन्दुस्तान' (1918), जिसमें कहा गया है—'हमारा प्यारा हिन्दुस्तान, जगत से न्यारा हिन्दुस्तान।' इसे 'तराना-ए-हिन्द' से मिलाकर देखा जा सकता है।

'भारत गीत', जो श्रीधर पाठक का सर्वश्रेष्ठ संग्रह माना जाता है, देश-वन्दना की कविताओं से भरा पड़ा है। कुछ के छन्दों में ध्वनि-स्वरूप का गठन इतना विलक्षण है कि वह नागार्जुन जैसे कवियों के हाथ पड़कर सहज व्यंग्य-विचार में रूपान्तरित हो सकता है।

देशप्रेम की अनेकानेक अभिव्यंजनाएँ हैं श्रीधर पाठक के यहाँ—शुद्ध सांस्कृतिक शैली से लेकर लोक-शैली तक। 'बलि-बलि जाऊँ' शीर्षक से मजदूरनियों के लिए तीन गीत हैं, जिनमें लोक-चेतना और राष्ट्र-चेतना एकमेक हो गई हैं :

भोली-भाली बतियाँ, सावली सुरतियाँ
काली-काली जुल्फों वाली मोहनी मुरतिया
मेरे नगरवा का, मेरे डगरवा का
मेरे अँगनवा का, क्वारा कन्हैया
मैं बलि-बलि जाऊँ
भारत पै सैंया मैं बलि-बलि जाऊँ

(श्रीधर पाठक ग्रन्थावली-2/519)

साँवली सुरतिया, मोहनी मुरतिया
लागी पिरितिया, दिन और रतिया
बाँका रंगीला-सा, छैल छबीला-सा

फिरे अलबेला-सा दिल के दरगवा
मैं बलि-बलि जाऊँ
प्यारे लँगरवा पै बलि-बलि जाऊँ
भारत पियरवा पै बलि-बलि जाऊँ

(उपर्युक्त पृ. 520)

बौद्धिक जागरण से भिन्न यह लोक-चेतना से आविष्ट देश-प्रेम है। तबीयत से प्रेम करने का देसी अंदाज़!

हिन्दी में निराला को बहुमुखी प्रतिभा का सबसे बड़ा कवि कहा जाता है। निराला से पहले के कवियों में श्रीधर पाठक हैं, जिनके लिए यह बात कही जा सकती है। काव्य-विषय और अभिव्यक्ति-प्रणाली की विविधता के कारण बाद के कवियों में भी (निराला की तरह बहुत मुखर न सही) उनकी झलक देखी जा सकती है। इस तरह श्रीधर पाठक आधुनिक हिन्दी काव्य-यात्रा के श्रान्त पथिक हैं।

2

श्रीधर पाठक आधुनिक हिन्दी के प्रथम बड़े कवि और खड़ीबोली में काव्य-रचना के प्रेरणा-पुरुष हैं। उनकी 'एकान्तवासी योगी' की सफलता से प्रभावित होकर जिन कवियों ने खड़ीबोली को अपनाना शुरू किया, उनमें मैथिलीशरण गुप्त सर्वप्रमुख हैं।

रामचन्द्र शुक्ल ने श्रीधर पाठक परवर्तित 'टू रोमांटिसिज्म' के अनुगामी के रूप में मैथिलीशरण गुप्त का उल्लेख किया है। 'टू रोमांटिसिज़्म' से उनका आशय था अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली ('काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देना और उसे अन्तर्भाव-व्यंजक बनाने' के रूप में) का धीरे-धीरे स्वतंत्र ढर्रे पर विकास।[12] छायावादी कवियों ने यह काम एक झटके में किया था। ढर्रा भी स्वतंत्र नहीं होने का उस पर आरोप था।

वस्तुतः मैथिलीशरण गुप्त का सबसे गहरा सम्बन्ध, बल्कि एक प्रकार से एकनिष्ठ सम्बन्ध महावीर प्रसाद द्विवेदी–निर्धारित साहित्यिक मूल्यों से रहा है। भाषा, काव्य-विषय और इतिहास-सम्बन्धी समझ आदि अनेक दृष्टियों से अपने काव्य-व्यवहार में वे महावीरप्रसाद द्विवेदी से जुड़े हुए थे। खुद महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने युग के दूसरे कवियों से उन्हें अधिक महत्त्व दिया था।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने मैथिलीशरण गुप्त को प्रथम कृति कवि कहा है।[13] श्रीधर पाठक खड़ीबोली में काव्य-रचना के प्रथम बड़े प्रेरणा पुरुष हैं तो मैथिलीशरण प्रथम कृति कवि। कृति कवि यानी, नन्ददुलारे वाजपेयी के ही अनुसार, काव्य-साधना का कवि काव्य साधना यानी "जो हिन्दी की मरुभूमि में अन्तःसलिला की भाँति बहती, शुष्क जीवन को प्रसन्न बनाती है।"[14] इस काम को करने के लिए मैथिलीशरण गुप्त को छियालीस काव्य-ग्रन्थ लिखने पड़े जिनमें से पच्चीस तो प्रबन्ध कविता हैं। शेष इक्कीस में से पाँच नाट्य कविता, आठ मुक्तक कविताओं के संग्रह, पाँच प्रगीतात्मक कविताओं के संग्रह और तीन जातीय उद्बोधन की कविताएँ हैं। इनके अतिरिक्त छह पद्यानुवाद की पुस्तकें हैं।

टी.एस. इलियट ने कविता में तीन प्रकार की अभिव्यक्तियों का उल्लेख किया है। पहली अभिव्यक्ति वह है जिसमें कवि अपने बारे में कहता है, और किसी के बारे में नहीं। दूसरी अभिव्यक्ति में कवि छोटे या बड़े श्रोता-समाज को सम्बोधित करता है। तीसरी अभिव्यक्ति वह होती है जिसमें कवि नाटकीय चरित्र गढ़ता है जो छन्द में बात करते हैं। कवि की आवाज़ भी उन्हीं की बातों में छुपी होती है।[15] मैथिलीशरण गुप्त के यहाँ, यह लगभग सभी द्विवेदी युग के कवियों पर लागू होने वाली बात है, पहले प्रकार की अभिव्यक्ति का अभाव है। इसी के कारण उनकी कविता में सपाटपन दिखाई पड़ता है। लेकिन आधुनिक हिन्दी कविता के प्रारम्भिक दौर में पहले प्रकार की अभिव्यक्ति से दूसरे-तीसरे प्रकार की अभिव्यक्ति का अधिक मोल था। नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'प्रथम कृति कवि' वाली स्थापना की व्याख्या में जोड़ा है कि "इस युग में गुप्त जी जन-समाज के प्रथम कृति कवि कहे जाएँगे।"[16]

जन-समाज-सम्बोधित कविताएँ और सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय चरित्र की कविताएँ मैथिलीशरण गुप्त की पहचान हैं। यह पहचान उन्होंने बहुत कम समय में अर्जित कर ली थी। 1905 में उनकी पहली खड़ीबोली कविता 'हेमन्त', 'सरस्वती' में छपी थी। उसके बाद 1909 में महत्त्वाकांक्षी प्रयास के रूप में 'रंग में भंग' और 1910 में 'जयद्रथ वध' छपी। दोनों प्रबन्ध कविताएँ हैं। विषय की दृष्टि से इनमें कोई नवीनता नहीं है। 'शकुन्तला' (1914) और 'तिलोत्तमा' (नाटक : 1915) को इनके साथ रखकर दिनकर ने कहा है, "नवयुग की छाप उनपर बहुत कम मिलती है।"[17] यहाँ उनका आशय विषय की नवीनता के अभाव से नहीं, युगानुरूप दृष्टि के अभाव से है। 'साकेत' उनकी दृष्टि में, जिसका रामकथा आधारित पुराना विषय है, पुनरुत्थानपरक होने के कारण नवयुग का प्रतिबिम्ब है।[18]

'साकेत, 'यशोधरा' और 'द्वापर' मैथिलीशरण गुप्त की परिपक्व कृतियाँ हैं। उनकी तुलना में 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ वध' का महत्त्व केवल ऐतिहासिक है। लेकिन सूक्ष्मता से अध्ययन करें, विशेषकर 'रंग में भंग' का, तो ऐतिहासिक

चेतना की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकल सकते हैं।

वस्तुतः 'भारत भारती', 'मंगल घट', 'स्वदेश संगीत', 'साकेत', 'हिन्दू', 'यशोधरा' आदि में जो प्रखर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना दिखाई पड़ती है, उसके प्रथम संकेत 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ वध' में ही दिखाई पड़ने लगे थे। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-विकास को समझने की दृष्टि से यह कविता महत्त्वपूर्ण है। हमारी समझ से उनकी दूसरे से चौथे दशक की कविता की गम्भीरता और महत्ता के पीछे कहीं-न-कहीं 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ वध' में निर्मित सांस्कृतिक मानस की भूमिका है।

कलात्मक-मूल्य की दृष्टि से इन दोनों काव्य-कृतियों का मूल्य अपेक्षाकृत कम है। हालाँकि इस दृष्टि से समग्र गुप्त-साहित्य को ही प्रश्नांकित किए जाने की चेष्टा की जाती है। एक प्रचलित मान्यता है कि मैथिलीशरण गुप्त आदि द्विवेदीयुगीन कवियों की काव्य-स्थूलता के विरुद्ध छायावाद आया। जयशंकर प्रसाद, जैसा कि स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने अपने संस्मरण में उल्लेख किया है, गुप्त जी को कवि कम और पद्यकार ज़्यादा मानते थे। लेकिन मैथिलीशरण गुप्त को इस बात के लिए ज़्यादा अफ़सोस नहीं रहा कि उनके कवि-पक्ष को कम करके आँका गया है। उनका रचनाकर्म राष्ट्र और समाज की वर्तमान समस्याओं से जुड़ा था; और उसके दायरे में वे सन्तुष्ट थे। बहरहाल, प्रसाद और दूसरे छायावादी कवि कलात्मक दृष्टि से आगे रहे हैं; बावजूद इसके, मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का बड़ा हिस्सा कला की कसौटी पर भी हेय नहीं है।

मैथिलीशरण गुप्त पर विचार के क्रम में हमारा ध्यान उनके प्रबन्धकार पर अधिक जाता है। प्रबन्ध कविता एक क्लैसिकल काव्य-रूप है जिसका सम्बन्ध प्रायः पौराणिक अथवा जनप्रचलित आख्यानों से होता है। कथा-पक्ष पर अधिक जोर के कारण इसमें कलात्मकता को सँभाल पाना कठिन काम है। प्रबन्ध कविता में विचार पक्ष पर अधिक ध्यान रखा जाता है, और इस दृष्टि से मैथिलीशरण की कविता हमें निराश नहीं करती।

'रंग में भंग' में चित्तौड़ और बूँदी के राजपूतों की आन और शपथ—मर्यादा की कथा है। बूँदी के राजा वरसिंह के भाई लालसिंह की कन्या का विवाह चित्तौड़ के राणा से तय हुआ। कन्या पक्ष की ओर से लग्न लाने वाले लोग राजकवि वारू जी द्वारा एक मूर्ति की व्याख्या में अपने नरेश के प्रति बोले गए प्रशस्तिपरक छन्द को सुनकर चकित रह गए। लेकिन स्वयं लालसिंह को यह बात पसन्द नहीं आई। जब बारात बूँदी पहुँची और विवाह-संस्कार हो गया तो सभा में लालसिंह वारू जी पर कटाक्ष करने से नहीं चूके। उन्हें चाटुकार बताते हुए कहा कि तुम्हें अपने ही खड्ग से अपना अन्त कर लेना चाहिए। उनके वचन से घायल होकर सचमुच वारू जी ने अपने शीश को खुद ही काट डाला। वर पक्ष इस अपमान से क्षुब्ध होकर कन्या पक्ष से भिड़ गया। राणा समेत सभी बारातियों ने वीर-गति पाई। विधवा वधू सती हुई। चित्तौड़ में यह ख़बर पहुँची। दुख के माहौल में राणा के अनुज लाखा का राज्याभिषेक हुआ। अभिषेक के तत्काल बाद लाखा ने प्रण किया कि बूँदी का दुर्ग जब तक नहीं तोड़ लूँगा तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। लोगों ने समझाया कि बूँदी का दुर्ग आप ज़रूर तोड़ें, लेकिन अन्न-जल छोड़ने से यह काम पूरा नहीं होगा, क्योंकि इसके लिए पर्याप्त समय चाहिए। लेकिन राजा का प्रण ठहरा, उसे भी नहीं तोड़ा जा सकता था। विकल्प निकला कि बूँदी के दुर्ग का प्रतिरूप बनाया जाए और राजा उसे तोड़कर अपने प्रण की लाज रखें। शीघ्र कृत्रिम दुर्ग बनवाया गया। संयोग से उस दुर्ग के पास से बूँदी निवासी कुंभ आखेट करके गुज़र रहा था। वह राणा का भृत्य था। जब उसे सारा हाल मालूम हुआ तो उसका मातृभूमि प्रेम जाग उठा। दुर्ग कृत्रिम था, लेकिन कुंभ के स्वदेश से उसका प्रतीकात्मक सम्बन्ध था। वह दुर्ग की रक्षा में सशस्त्र उठ खड़ा हुआ। उसके वीर-रूप को देखकर राजा को भी कहना पड़ा—

वीर कुंभ! विचार ऊँचे हैं तुम्हारे सर्वथा
किन्तु दोषारोप अब मुझपर तुम्हारा है वृथा।
वीर बूँदी के स्वयं मौजूद हो जब तुम यहाँ,
फिर कहो, प्रण पालना झूठा रहा मेरा कहाँ?

(रंग में भंग, पृ. 33)

कुंभ कई शत्रुओं को मारने के बाद वीर-गति को प्राप्त हुआ।

दिनकर ने 'राष्ट्रकवि' की पहचान निर्धारित करने की कोशिश की है जिसमें गेटे के कुछ कथनों का उल्लेख है। उनमें से एक उल्लेखनीय कथन है कि राष्ट्रकवि वह है जिसने इतिहास की सभी प्रमुख घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का संधान पा लिया है; और जिसे ज्ञात हो चुका हो कि उसके जातीय इतिहास में कौन-कौन बड़ी घटनाएँ घटी हैं और उनके परिणाम क्या निकले हैं? राष्ट्रकवि केवल वह कवि हो सकता है जिसकी रचना में जाति अपनी आत्मा की प्रतिच्छाया देखती हो, जिसमें उस जाति के बाहुबल का आख्यान हो।[19]

उपर्युक्त धारणा के आलोक में 'रंग में भंग' को मैथिलीशरण गुप्त के राष्ट्रकवि बनने की दिशा में प्रथम प्रयास माना जाना चाहिए।

'रंग में भंग' की अगली कड़ी 'जयद्रथ-वध' है। 'जयद्रथ-वध'

के बारे में दिनकर मानते हैं कि उसमें स्वदेश एकता का सन्देश है और उसका वीर रस देश-भक्ति को उत्तेजित करता है।[20] मैथिलीशरण गुप्त की मृत्यु के पश्चात् लिखे दिनकर के एक संस्मरण से पता चलता है कि उन्होंने 'जयद्रथ-वध' के अनुकरण पर 'मेघनाथ-'वध' नामक एक काव्य लिखने का भी प्रयास किया था।[21] वह प्रयास उनका पूरा नहीं हुआ। बाद में उन्होंने 'प्राणभंग' (मैट्रिक पास करने के पश्चात्) लिखी, जो प्रकाशित भी हुई। यह 'जयद्रथ-वध' को ही सामने रखकर लिखी गई थी।[22] इस तरह, कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रकवि दिनकर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की प्रथम राष्ट्रीय भावना की कविता का अनुकरण करके ही राष्ट्रीय काव्यधारा से जुड़े थे। लेकिन 'रंग में भंग' उनके अनुकरण में शामिल नहीं था। इसे उन्होंने नवयुग की चेतना के अभाव का काव्य माना है।

'रंग में भंग' का कथानक, इसमें शक नहीं, कमजोर है। राजपूती आन-बान प्राक्-आधुनिक चेतना को ही प्रतिबिम्बित करती है। लेकिन युग-चेतना कैसे पुराने कथानक में जगह बनाती है, इसका एक उदाहरण 'रंग में भंग' को बनाया जा सकता है। यह कविता 1909 की है। इसी वर्ष गांधी जी ने 'हिंद स्वराज' लिखी थी। उस दौर में वे दक्षिण अफ्रीका में भारतीय जनता के हितों की लड़ाई लड़ रहे थे। इस किताब में बहुत साफ है कि वे दूसरी ज़मीन पर लड़ाई लड़ते हुए भी भारत की आज़ादी की भी चिन्ता कर रहे थे। इस रूप में अफ्रीका एक मॉडल (प्रतिरूप) था भारत का। 'रंग में भंग' में बूँदी के दुर्ग का बनाया गया प्रतिरूप एक संकेत है कृत्रिम लड़ाई से वास्तविक लड़ाई की ओर बढ़ने का। साहित्य-कर्म खुद भी संकेत-व्यवस्था के भीतर इतिहास की व्यंजना करता है। संकेत-व्यवस्था से प्राप्त अर्थ उस वैचारिक पक्ष को सामने लाता है, जो संकेत-व्यवस्था को व्यतिक्रम देते हुए इतिहास को उपस्थित करता है।[23]

सामान्य तथ्य है कि भारतीय कांग्रेस खुद नकली लड़ाई के संगठन के रूप में गठित हुई थी। लेकिन कुछ ही समय में उसमें स्वाधीनता की आकांक्षा दिखाई पड़ने लगी थी। गांधी जी ने कांग्रेस को भारतीय राष्ट्र के गठन के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया था। 'हिन्द स्वराज' का पहला अध्याय है 'कांग्रेस और उसके कर्ता-धर्ता'। उसमें गांधी जी का सुस्पष्ट मत है कि स्वराज की भावना मूल रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अस्तित्व में आने से पैदा हुई। उन्होंने कहा कि, "कांग्रेस से जुड़ा 'नेशनल' शब्द का अर्थ ही वह विचार जाहिर करता है।"[24]

कांग्रेस नकली नहीं रह गई जब उसके माध्यम से राष्ट्रवादी नेताओं की स्वाधीनता की भावना अभिव्यक्त होने लगी। बूँदी के दुर्ग का प्रतिरूप भी नकली कहाँ रह गया, जब उसकी रक्षा में बूँदी-निवासी कुंभा उठ खड़ा हुआ! यह एक ही इतिहास-चेतना है, जो कांग्रेस के निर्माण के साथ घटित हुई, और 'रंग में भंग' कविता में भी जिसकी अभिव्यंजना देखी जा सकती है। इतिहास-चेतना को अभिव्यंजनाओं के 'फार्म' से ज़्यादा बेहतर समझा जा सकता है, बजाय कि घटनाओं के उल्लेख और सपाट बयान से।

प्रसंगवश हम ध्यान दिलाना चाहते हैं कि राष्ट्रीय चेतना की उन्नति और निखार में कांग्रेस के गठन की भूमिका मुख्य थी, जिसे उसके गठन के दौर की कविताओं में भी देखा जा सकता है। 1988 में कांग्रेस पर तीन कविताएँ छपी थीं। उनमें से एक है श्रीधर पाठक की 'कानग्रेस बधाई'। हालाँकि राजभक्ति भी उस कविता में है, इसके बावजूद उसमें जातीय भावना मुखरित हुई है। दूसरी कविता है 'कानग्रेस निदान', जो जुलाई 1888 में 'हिन्दी प्रदीप' में छपी थी।[25] यह तीन सौ दो पंक्तियों की कविता है। कवि का नाम नहीं दिया गया है। इसलिए इसे 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक बालकृष्ण भट्ट की कविता माना जा सकता है। इसमें एक पंक्ति है—"कानग्रेस प्रजा राज हितकारी जो जगदीश्वर करै सहाय।"[26] इससे पहले 'हिन्दी प्रदीप' में ही 1887 में शिवराम कवि (शिवराम पंड्या) की 'कांग्रेस' कविता छपी थी, जिसमें जातीय एकता के प्रतीक के रूप में कांग्रेस की छवि प्रस्तुत की गई है।[27]

राष्ट्रीयता की अनुभूति से आन्दोलित कविताएँ भारतेन्दु के समय में ही दिखाई पड़ने लगी थीं, लेकिन वे प्रायः ब्रजभाषा की कविताएँ थीं। ब्रजभाषा में देश-वन्दना की कविताएँ बाद-बाद तक दिखाई पड़ीं। कांग्रेस के गठन के बाद दो खास बातें दिखाई पड़ीं। एक तो यही कि ब्रजभाषा में कविता लिखने का चलन क्रमशः घटता गया। दूसरी बात, जो ध्यान देने योग्य है, देश की चिन्ता से उत्प्रेरित जो कविताएँ लिखी गईं उनमें राष्ट्रीय अस्मिता का स्वर अधिक परिपक्व था।

मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न पहली व्यवस्थित और विस्तृत कविता है 'भारत भारती' (1912-14)। यह हाली और कैफ़ी के मुसद्दसों को ध्यान में रखकर लिखी गई थी। इसमें उनके प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की गई है।[28] स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें हिदायत दी थी कि मुसद्दस को किसी मौलवी से ज़रूर सुनिये और समझिए, और कविता सँभल-सँभलकर लिखिए।[29] 'भारत भारती' से उनकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर थी। जब उसकी समाप्ति की सूचना मिली तो

यह सुझाव देने से नहीं चूके कि फुरसत में दुहरा-तिहरा कर छपाइएगा।[30] यह सितम्बर 1912 की बात है। तब मैथिलीशरण गुप्त 'भारत भारती' को दुहराने-तिहराने में ही लगे थे। सुझाव देने वालों में खुद महावीरप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त राजा रामपाल सिंह, लाला छोटेलाल बार्हस्पत्य, पद्मसिंह शर्मा और रायकृष्णदास प्रमुख थे।

'भारत भारती' हाल के 'मुसद्दस' की प्रेरणा से उसी के वजन पर लिखी गई है। मुसद्दस इस्लाम के उत्थान और पतन की गाथा (मद्द-ओ-जज़्-ए इस्लाम) के रूप में इस्लामी पुनर्जागरण का काव्य है। 'भारत भारती' में वही चेतना हिन्दू सन्दर्भ में व्यक्त होती है–'हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी'। 'थे', 'हो गए हैं' और 'होंगे अभी'–अतीत, वर्तमान और भविष्य! कविता इन्हीं तीन खंडों में चलती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी समेत सभी मंत्रणाकार इसकी विषय-सामग्री को लेकर कवि को उलझाने में लगे रहे। उस समय उपलब्ध भारत सम्बन्धी इतिहास कवि को खूब घोखाया गया। इतिहास को आधार बनाकर कवि अपने पद्यकार को चुस्त करने में भिड़ा रहा। 'भारत भारती' एक प्रकार से सामूहिक प्रयास का परिणाम थी, जिसके पीछे हिन्दू-चेतना सक्रिय थी और जिसे 'स्वदेश-गौरव' के रूप में आँका गया। यही बात इसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण बनी। काव्य-गुण की दृष्टि से यह कमजोर रचना थी। रामचन्द्र शुक्ल को इसके सम्बन्ध में यह कहने में ज़रा भी झिझक नहीं हुई कि स्वदेश-गौरव और स्वदेश-प्रेम की भावना का तो इसमें प्रसार हुआ, लेकिन 'इसकी अभिव्यंजना में प्रतिभा प्रगल्भता न दिखाई पड़ी'।[31]

'स्वदेश-गौरव' की भावना के पीछे सक्रिय पुनरुत्थानवाद के लिए बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में कितनी जगह थी, 'प्रातिभ प्रगल्भता' के अभाव के काव्य 'भारत भारती' की अभूतपूर्व लोकप्रियता से इसका अन्दाज़ लगाया जा सकता है। अब तक खड़ीबोली की कविता बहुत कोशिशों के बाद भी पूरी तरह खड़ी नहीं हो पा रही थी। इसके प्रकाशन के बाद वह यौवन की दहलीज़ पर दिखाई पड़ी। इसके प्रकाशन के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा व्यक्त की गई यह आशा निरर्थक साबित नहीं हुई कि 'यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है।'[32]

'भारत भारती' अगस्त-सितम्बर, 1912 में पूरी हो चुकी थी, और नवम्बर से 'सरस्वती' में इसके अंश छपने का सिलसिला शुरू हुआ; लेकिन संशोधनों के चक्कर में यह पुस्तकाकार छपकर आई अगस्त, 1914 में। इससे पहले पं. नाथूराम शंकर शर्मा की 'अनुरागरत्न' (पूरा नाम–'अनुराग-रत्न अर्थात् वैदिक सिद्धान्त सम्पन्न आर्य भाषा का एक पद्यात्मक ग्रन्थ) 1913 में छपी थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'खासी' (ख़ास) कहकर महत्त्व भी दिया था। आर्यसमाजियों के लिए यह टिप्पणी काफी नहीं थी। उन्होंने इसे 'भारत भारती' से बढ़कर माना। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं मैथिलीशरण गुप्त को एक पत्र में लिखा था, "आर्य-समाजी अब मेरी नालायकी, खुशामद और पक्षपात यह लिख-लिखकर साबित कर रहे हैं कि नाथूराम शंकर की कविता, जो आपकी कविता से बढ़कर है, मैंने सिर्फ़ 'खासी' कह दिया और आपकी कविता की तारीफ़ में कलेजा निकालकर रख दिया।"[33]

'भारत भारती' और 'अनुरागरत्न' से हिन्दी में सही मायने में 'सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी'[34] परम्परा की शुरुआत होती है। लेकिन दोनों ग्रन्थों में राजभक्ति की परम्परा भी बनी दिखाई पड़ती है। यवनों के अन्याय के बाद ईश्वर ने भारत में उदार ब्रिटिश राज भेजा–

अन्याय यवनों का हमें निज दोष से सहना पड़ा,
है किन्तु नारायण अहा! न्यायी तथा सकरुण बड़ा।
देते हुए भी कर्म-फल हम पर हुई उसकी दया,
भेजा प्रसिद्ध उदार उसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया।

(भारत भारती, पृ. 90)

ब्रिटिश राज यवनों की तुलना में उदार है। मैथिलीशरण गुप्त की राजभक्ति इसी बात तक सीमित है। पं. नाथूराम शंकर शर्मा की राजभक्ति उनसे सौ कोस आगे की है। जार्ज पंचम के भारत आगमन पर उनका यह उद्गार देखिए–

अजित, अजात शत्रु, स्वामी के, बल का वृहदुत्कर्ष हुआ।
राज-भक्ति-भाजन बड़भागी, सेवक-भारतवर्ष हुआ।
दर्शक, सैनिक, सम्मेलन में, मग्न अलौकिक हर्ष हुआ।
जय-जय वादनादि शब्दों का, तुमुलोदधि दुर्धर्ष हुआ।
तोपों की घनघोर गरज ने, शुभ स्वागत-सत्कार किया।
प्रभुता पाय जार्ज-पंचम ने, सुख-सागर संसार किया।

(अनुरागरत्न, पृ. 158)

20वीं शताब्दी के दूसरे दशक तक की 'युग-संरचना' ही वैसी थी जिसमें जहाँ अपने प्राचीन काल पर गर्व का भाव था, वहीं अंगरेज़ी राज को भारतीय सभ्यता के फलने-फूलने की दृष्टि से लाभप्रद माना गया। नाथूराम शंकर शर्मा की कविता में न केवल इंग्लैंड बल्कि यूरोप के दूसरे देशों, अमेरिका और जापान आदि जैसी भारत की प्रगति हो, इसके लिए ईश्वर से विनती की गई है :

वैदिक, पौराणिक पुरुषों में टिके टिकाऊ मेल मिलाप।
गैल गहें अगले अगुओं की, इतनी कृपा कीजिए आप।

जिस विधि से उन्नति हो बैठे, यूरूप, अमरीका जापान।
विद्या, बल, प्रभुता, उनकी सी, दो भारत को भी भगवान।

(अनुराग रत्न, पृ. 229)

भारत की प्रगति के लिए नाथूराम शंकर शर्मा वैदिक और पौराणिक पुरुषों में मेल-मिलाप चाहते हैं। लेकिन आर्यसमाजी होने के नाते वे पौराणिक मत का मजाक उड़ाने से भी नहीं चूकते :

बनिये गौर श्यामसुन्दर जी, ताक रहे हैं दर्शक-दीन।
हमको नहीं हँसाना बनके, वाघ, वितुंडी, कछुआ, मीन।
धार सामयिक नेतापन को, दूर करो भूतल का भार।
निष्कलंक-अवतार कहेंगे, 'शंकर' सेवक बारम्बार।

(अनुराग रत्न, पृ. 230)

भौतिक प्रगति की दृष्टि से आर्यसमाजी प्रगतिशील थे, लेकिन सांस्कृतिक समझ की दृष्टि से स्थूलतावादी और शुष्क थे। इस मामले में मैथिलीशरण गुप्त की स्थिति थोड़ी बेहतर है। लेकिन 'भारत भारती' के अतीतखंड के अन्तर्गत 'हमारा साहित्य' में वेद, उपनिषद् आदि का जहाँ गौरवगान है, वहीं 'भाषा और कवि' के अन्तर्गत भक्तिकाल के कवियों का उल्लेख-मात्र है। यह बात उन्हें आर्यसमाज के निकट करती है। मूर्तिपूजा को सांस्कृतिक गौरव के रूप में ज़रूर चिह्नित किया गया है :

निज रूप से भी दूसरे जन जिस समय अज्ञान थे–
हम उस समय प्रभु-मूर्ति का प्रत्यक्ष करते ध्यान थे।

(भारत भारती, पृ. 57)

इस काव्य का विशेष उद्देश्य प्राचीन गौरव का अभिधान है। उसमें राष्ट्रीय जागरण का स्वर सम्मिलित है। सुनहरा अतीत ही मुख्य काव्य-आलम्बन है। श्रुति, शास्त्र और पुराण, जो आर्यों के 'अटल-जीवन-प्राण' हैं, का सरस संगीत भारत-भूमि पर गूँजें, यही उसका लक्ष्य है।[35] चरित्र, घटना या किसी विशेष-जीवन-प्रसंग का वर्णन आवश्यक नहीं समझा गया है। 'भारत भारती' के बाद 'शकुन्तला' और 'पंचवटी' में अपेक्षित रमणीयता और सरसता भी दिखाई पड़ने लगती है।

नाथूराम शंकर शर्मा अक्खड़ आर्यसमाजी और द्विवेदीमंडल के बाहर के कवि थे। 'अनुरागरत्न' आर्यसमाजियों के प्रयास के बावजूद 'भारत भारती' के मुकाबले बहुत पीछे छूट गया। उसमें कविता वाली बात थी भी बहुत कम। 'भारत भारती' की धूम लम्बे समय तक रही। नाथूराम शंकर शर्मा के समान द्विवेदीमंडल के बाहर के कवि थे गयाप्रसाद शुक्ल सनेही। द्विवेदीमंडल के समानान्तर सनेहीमंडल माना जाता था। इसमें सनेही के अतिरिक्त जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' और अनूप शर्मा का नाम आता है। सनेहीमंडल का केन्द्र था कानपुर। नाथूराम शंकर शर्मा और रायदेवीप्रसाद पूर्ण का भी कार्यक्षेत्र कानपुर था। इसलिए इन्हें मिलाकर इलाहाबाद, बनारस, आदि के समानान्तर एक कनपुरिया मंडल बन गया था। इसमें समस्या-पूर्ति की कविताओं का जोर था। लेकिन द्विवेदीमंडल के प्रभाव से इसके कवि बिल्कुल अछूते नहीं थे। गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, जो ब्रजभाषा और उसकी रीति-परम्परा से आए थे, 'त्रिशूल' उपनाम से राष्ट्रप्रेम और किसान-चेतना की कविता लिखते थे। 1921 में उनकी एक काव्य-पुस्तक छपी थी 'राष्ट्रीय मन्त्र', जो असहयोग आन्दोलन से अनुप्राणित है, लेकिन है वह 'भारत भारती' की परम्परा का ही धारदार रूप। निराला की 'जागो फिर एक बार', 'भारति जय, विजय करे', 'तुलसीदास', और खुद मैथिलीशरण गुप्त की 'मातृभूमि' आदि कविताएँ 'भारत भारती' की परम्परा की कलात्मक-भावात्मक स्फीति हैं।

'भारत भारती' के भविष्यखंड के बाद सोहनी में छोटा-सा विनय है। उसके अन्तिम बंध में आता है :

व्याकुल न हो, कुछ भय नहीं, तुम सब अमृत-सन्तान हो।
यह वेद की वाणी हमें फिर एक बार सुनाइए॥
यह आर्य्य-भूमि सचेत हो फिर कार्य्य-भूमि बने अहा!
वह प्रीति-नीति बढ़े परस्पर, भीति-भाव भगाइए।

(भारत भारती, पृ. 192)

वेदोक्ति आधारित यह विनय जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में आह्वान गीत में बदल गया है :

अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है–बढ़े चलो, बढ़े चलो

आगे यही 'कामायनी' में श्रद्धा के शुभ्र उद्गार में बदल जाता है :

डरो मत, अरे अमृत सन्तान!
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

(श्रद्धा सर्ग, पृ. 25)

'भारत भारती' से जोड़कर 'कामायनी' का अध्ययन करें तो पाठ का नया ही अर्थ खुलेगा।

वैदिक सभ्यता और आर्य संस्कृति की गूँज 'अनुराग रत्न' और 'भारत भारती' से मुख्यतः शुरू होकर प्रसाद और निराला के यहाँ विस्तार पाती है। इसलिए यह कहना काफी नहीं होगा कि आर्यसमाजी प्रभाव से हिन्दी कविता शुष्क हुई अथवा काव्य-दृष्टि का संकोच हो गया। वह भी हुआ, लेकिन कविता को ज़रूरी सांस्कृतिक सन्दर्भ भी प्राप्त हुआ। हम यह भी नहीं कह सकते कि वह सन्दर्भ विशुद्ध साम्प्रदायिक था।

'अमृत संतान' द्विवेदी युग और छायावाद के कवियों की चेतना पर कितना हावी था, इसका अन्दाज़ इसी से लगाया जा सकता है कि गुप्त जी के अनुज सियारामशरण गुप्त ने बहुत बाद में ईसा मसीह के जीवन को आधार बनाकर 'अमृतपुत्र' (1952) लिखा।

ईसा मसीह द्विवेदी युग में ही त्रिशूल की कविता में आ गए थे। 'राष्ट्रीय मंत्र' में ईशा सत्याग्रही अमृत-पुत्र हैं। सत्याग्रह-उद्घोष के अन्तर्गत सुकरात हैं, ईसा हैं और मीरा की कृष्ण के प्रति प्रेम-निष्ठा है। असहयोग आन्दोलन के प्रभाव से उसमें सभी वर्गों, समूहों, धर्मों और जातियों के प्रति समान लगाव का भाव है। सिर्फ सत्याग्रह-असहयोग ही नहीं, साम्य- विचार भी है :

फैले हैं ये भाव नया युग लाने वाले,
घोर क्रान्ति कर उलट फेर करने वाले।
कलि में सतयुग सत्यरूप धर रखने वाले;
समता का सन्देश सप्रेम सुनाने वाले।
समता सरि की बाढ़ में ऊँच नीच बह जाएगा।
समतल जल ही की तरह एक रूप रह जाएगा।

(शीर्षक : 'साम्यवाद', राष्ट्रीय मंत्र, पृ. 18)

साम्यवाद पर हिन्दी में सम्भवतः पहली कविता त्रिशूल की ही है। किसानों पर भी उनकी अनेक कविताएँ हैं। एक काव्य-पुस्तक का नाम ही है 'कृषक क्रंदन'। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि इनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं—'प्रेमपचीसी', 'कुसुमांजलि' और 'कृषक क्रन्दन'। इनके अतिरिक्त हमें उनकी और दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं—'राष्ट्रीय मन्त्र' और 'त्रिशूल-तरंग'। 'त्रिशूल-तरंग' में एक कविता है 'जातीय गीत', जिसमें मैथिलीशरण गुप्त के समान हिन्दू को हिन्द का पर्याय माना गया है। इससे अलग 'त्रिशूल-तरंग' में गरीबों और किसानों की भी कथा-व्यथा है।

हैं निपट निरक्षर बाल-भाव, चुप रहने का है बड़ा चाव,
पद-पद पद टकरा रही नाव, है कर्णधार ही का अभाव,
आशा वश, जीते हैं किसान।
अब गोधन की वह कहाँ भीर, दो डांगर हैं जर्जर शरीर,
घरों में पहुँचे खेत तीर, पद-पद पर होती कठिन पीर,
हैं बरद यही भिक्षुक किसान।

(त्रिशूल-तरंग, पृ. 47)

हिन्दी में किसानों पर लिखने की ऐसी परम्परा त्रिशूल ने ही डाली थी, जिसके आधार पर आगे लिखा जा सका—'जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर/तुझे बुलाता कृषक अधीर/ऐ विप्लव के वीर!'

निराला की ये काव्य-पंक्तियाँ हमने श्रीधर पाठक के सन्दर्भ में पीछे उद्धृत की हैं। श्रीधर पाठक और त्रिशूल की परम्परा के संश्लेषण से कैसे छायावाद ने उत्कर्ष पाया, यह एक उदाहरण है।

'त्रिशूल' ने हिन्दी में साम्यवाद पर सबसे पहले कविता लिखी, किसान-व्यथा पर लिखने वाले कवियों में भी वे पहले हैं। इस तरह वे प्रगतिवादी आन्दोलन से पहले के स्वाभाविक प्रगतिवादी ठहरते हैं।

नाथूराम शंकर शर्मा और त्रिशूल के अतिरिक्त कानपुर स्कूल के प्रमुख कवियों में रायदेवीप्रसाद पूर्ण का नाम आता है। पूर्ण आर्यसमाजी नहीं, वेदान्त-आसक्त सनातनधर्मी थे। उनकी कविता में देशभक्ति और राजभक्ति का समन्वय भी था। इन सबसे ऊपर, वे एक धर्म-निरपेक्ष कवि के रूप में सामने आते हैं, जिसे आधुनिक हिन्दी कविता के प्रथम उत्थान के सन्दर्भ में बड़ी बात मानी जानी चाहिए।

बंदे हो सब एक के, नहीं बहस दरकार
है सब कौमों का वही खालिक और करतार।
खालिक और करतार वही मालिक परमेश्वर,
है जबान का भेद, नहीं मानों में अन्तर।

(पूर्ण पराग, पृ. 185)

'है जबान का भेद' में हिन्दी-उर्दू भाषा-भेद वाली बात भी ध्वनित होती है।

जाति के अर्थ में धर्म की परिभाषा की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त की स्थिति थोड़ी जटिल है। हाली ने 'मुसद्दस' के रूप में इस्लाम के उत्थान-पतन की गाथा लिखी थी; मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' के रूप में हिन्दुओं की गाथा लिखी। मुसद्दस का 'हम' मुसलमान है, लेकिन वह 'हिन्दुस्तान' नहीं है। 'भारत भारती' का 'हम' हिन्दू है और 'भारत' है। यह ज़रूर है कि इसका हिन्दू ज़रा उदार है। भारत की नौका पर मुसलमान भी सवार है, इससे कोई एतराज नहीं। हिन्दू और मुसलमान मिल-जुलकर रहें, इसी में भारत की तरक्की है। पीछे वाली बातें भूल जाने में ही बेहतरी है। दोनों को भविष्य की ओर देखना चाहिए।[26] लेकिन 'भविष्यखंड' में यह नौका वाला रूपक गायब है। एकता की बात है, लेकिन हिन्दू धर्म के ही विभिन्न सम्प्रदायों की एकता के अर्थ में :

आओ, मिलें सब देश-बान्धव हार बनकर देश के
साधक बनें प्रेम से सुख-शान्तिमय उद्देश्य के
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो!
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो?

(भारत भारती, पृ. 167)

यह आकस्मिक नहीं है कि चौदह-पन्द्रह साल के अन्तर पर मैथिलीशरण गुप्त ने 'हिन्दू' लिखी। हिन्दू आदर्श-हिन्दू

भविष्य से यह काव्य अटा पड़ा है। रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में 'भारत भारती' की कमी यह रही कि इसमें 'भविष्य निरूपण का प्रयत्न नहीं है।'[37] मानो इसी कमी को दूर करने के उद्देश्य से 'हिन्दू' की रचना की गई हो। गैर-हिन्दू जातियों के प्रति कुछ उदार चेतना के बावजूद यह हिन्दू अतीत का ही प्रत्यावर्तन है—'केवल हिन्दू-हिन्दुस्तान।'[38] अतीत की कुछ प्रसंगों में आलोचना है, लेकिन उसकी याददाश्त को जकड़ने में ही कवि की अधिकांश शक्ति खर्च हुई है। अन्तिम निष्कर्ष यही है :

एक पुण्यभूमि, एक मातृभूमि,
हरित भरित भरतभूमि भ्रातृभूमि,
हम सब हिन्दू, हम सब आर्य।

(हिन्दू, पृ. 188)

अतीत में गहरी आस्था के बावजूद उसमें आशा के अंगारे फूँकने में मैथिलीशरण गुप्त बहुत सफल नहीं हैं। इसका एक बड़ा कारण है अतीत में हिन्दू सत्ता की तुलना में भारत का सांस्कृतिक पटल कई गुना विस्तृत रहा है, जिसे 'हिन्दू' से पहले ही निराला ने बेहतर ढंग से 'जागो फिर एक बार' में अनुभव किया था। यही बात प्रसाद के नाटकों, 'महाराजा शिवाजी का पत्र' जैसी कविता और कुछ गीतों के बारे में कही जा सकती है। खुद मैथिलीशरण गुप्त के अनुज सियारामशरण गुप्त ने 1923 में 'तुलसीदास' जैसी कविता लिखी थी जिसमें 'आगे यदि इसी भूमि पर/जन्म कहीं पावेंगे,/तो निश्चय है हम अवश्य ही/तुम्हें यहीं पावेंगे'[39] जैसी पंक्तियाँ हैं। आगे निराला ने 'तुलसीदास' (1934) नामक प्रदीर्घ कविता लिखी, जो सही मायने में 'सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी' काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। ये कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिनमें हिन्दू पुनरुत्थानवाद का सहारा अवश्य लिया गया है, पर सारतः इनका महत्त्व इसी बात में नहीं है। इनमें अतीत के स्वर्ण युग में लौटने-बसने वाली बात नहीं; अतीत प्रेरणा-स्रोत है, जिसके सहारे भविष्य का स्वप्न देखा गया है।

पन्त की 'परिवर्तन' कविता 'हिन्दू' से पहले लिखी गई है। उसमें स्वर्ण अतीत के प्रति आकर्षण है, लेकिन लौटने के बजाय परिवर्तन को स्वीकारा गया है। स्मृति प्रेरणा तक ठीक है, उसकी पुनःरचना जीवन-गति के खिलाफ है। परिवर्तन शाश्वत नियम है, इस अर्थ में वह विवर्तन भी है।

अचिर विश्व में अखिल, दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन!

(पल्लव, पृ. 155)

मैथिलीशरण के ही लगभग समकालीन कवि हैं माखनलाल चतुर्वेदी—'एक भारतीय आत्मा' नाम से प्रसिद्ध। उनमें गुप्त जी वाली भी बात थी—'स्वाधीनता भारत की अखंड हो हिन्दुत्व का गौरव विश्वव्याप्त हो...'[40] — इस तरह की पंक्तियाँ उन्होंने 'भारत भारती' के लेखन-प्रकाशन काल में लिखी थीं। 'भारत भारती' का उन पर जबर्दस्त प्रभाव था। उन्होंने स्वीकार किया है, "मेरे लिए तो उस समय गुप्त जी सब कुछ थे। वे प्रेरक थे, मार्गदर्शक थे, और क्या नहीं थे!"[41] लेकिन दूसरे दशक के बाद 'हिन्दू का गौरव' वाली बात लगभग समाप्त हो गई। पुष्प, कोकिला, कली आदि के रूप में संस्कृति के सर्वमान्य नैसर्गिक प्रतीक दिखाई पड़े, जो कवि के अन्तर्जगत् को भी प्रकाशित करने में सक्षम थे। यह बात उनके इस कथन के अनुरूप कही जा सकती है, "अब तुम लोग कहते हो कि राष्ट्रीय काव्य में राष्ट्र सामने होता है और तब कवि कविता लिखता है, किन्तु मुझे नहीं लगता कि राष्ट्र जैसी किसी वस्तु को मैंने बाहर पाया है, मुझे जो कुछ मिला सदा भीतर से मिला। मेरे नम्र विचार से तो कविता में 'सब्जेक्टिव' यदि कोई नहीं है तो वह कवि नहीं है और वह कविता भी नहीं है।"[42]

हमारे कहने का यह आशय नहीं कि माखनलाल चतुर्वेदी या निराला और प्रसाद कविता में बहुत 'सब्जेक्टिव' हैं और मैथिलीशरण गुप्त बिल्कुल नहीं हैं। 'भारत भारती' के ठीक बाद लिखी गई 'शकुन्तला' और 'पंचवटी' में उनका 'सब्जेक्टिव' सफल ढंग से चरित्र और परिवेश से तादात्म्य प्राप्त करता है। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' में कवि के 'सब्जेक्टिव' का दायरा और विस्तृत हुआ है। 'मंगल-घट' की 'मातृभूमि' कविता राष्ट्र को सामने रखकर लिखी गई है; लेकिन राष्ट्र की छवि में आत्मपरकता भी है।

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है;
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं;
बन्दीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।

(संचयिता, पृ. 215)

इसे नामवर सिंह ने 'प्राकृतिक देशप्रेम' की संज्ञा दी है।[43] यानी 'सूक्ष्म भावनात्मक संज्ञा' के अभाव की कविता। पूरी कविता को ध्यान में रखें तो यह बात सही लग सकती है; लेकिन कहीं-कहीं 'सूक्ष्म भावनात्मक संज्ञा' भी छनकर आ गई है।

जब मातृभूमि की धूलि में
जब पूरे सन जाएँगे,
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम
आत्मरूप बन जाएँगे॥

(संचयिता, पृ. 219)

'यह आत्मरूप बन जाएँगे' सूक्ष्म और भावात्मक है। लेकिन भावात्मकता और आत्मपरकता को ही महत्त्व देना कितना उचित है, यह विचारणीय है। वस्तुनिष्ठता के अभाव में कभी भावात्मक पक्ष गुत्थी बनकर रह जा सकता है, भाषा में अस्पष्टता पैदा होगी, सो अलग। इसलिए 'नीलाम्बर-परिधान हरित पट पर सुन्दर है' भी कम श्लाघ्य नहीं है। यह सुरुचि-सम्पन्न कवि अज्ञेय को भी किशोरावस्था से ही बहुत पसन्द था।"[14] मैथिलीशरण गुप्त की वस्तुपरकता के सम्बन्ध में विपिन कुमार अग्रवाल ने बहुत अच्छी बात कही है, "...कवि के अन्तर को बहुसंयोजकता से और भाषा को अस्पष्टता से मुक्त रखना नितान्त आवश्यक है। ये दोनों बातें हमें मैथिलीशरण गुप्त में प्राप्त होती हैं। मैथिलीशरण अपने को एक विनयशील सरल, और प्रभावग्रहण इच्छुक प्रेक्षक के रूप में रखकर बाह्य जगत् का निरीक्षण करते हैं।"[15]

3

'भारत भारती' और अयोध्याप्रसाद सिंह उपाध्याय–कृत 'प्रियप्रवास' एक ही समय की रचनाएँ हैं। 'प्रियप्रवास' संस्कृत के छन्दों और भिन्न-तुकान्त शैली में लिखी गई सत्रह सर्गों की विस्तृत प्रबन्ध-रचना के रूप में एक महत्तर प्रयास है। इसे खड़ीबोली का पहला महाकाव्य माना जाता है। आज इसका महत्त्व इसी अर्थ में सीमित करके देखा जाता है। यह 'भारत भारती' से इस मामले में निकट है कि इसमें भी वर्तमान की पराजय से मर्माहत होकर स्वर्णिम अतीत की ओर दौड़ लगाई गई है :

समय ठूह की ओर खिसकते मेरे गीत विकल धाए,
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आए।

दोनों रचनाओं में बुनियादी भेद यह है कि जहाँ 'भारत भारती' में पद्य-विधान के माध्यम से अतीत का गौरवगान अधिक है, वहीं 'प्रियप्रवास' में 'भावव्यंजनात्मक और वर्णनात्मक'[16] शैली में सांस्कृतिक स्रोतों को प्रेरणा के रूप में ग्रहण करते हुए आधुनिक चेतना को प्रतिष्ठित करने का प्रयास है।

बंकिमचन्द्र ने 'कृष्णचरित्र' नामक एक पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि कैसे कृष्ण के स्वाभाविक और मानवी कृत्यों को अतिमानवी रूप दे दिया गया। 'प्रियप्रवास' में सम्भवतः उसी से प्रेरणा लेते हुए कृष्ण के चरित्र को स्वाभाविक और मानवी धरातल पर खड़ा करने का प्रयास किया गया है। कुछ इस तरह कि कृष्ण की लोकरंजक छवि भी नष्ट न हो।

'प्रियप्रवास' का कथानक बहुत सीमित है। कंस के निमंत्रण पर कृष्ण का गोकुल से मथुरा चले जाना और ब्रजवासियों को उनके विरह में जलना–यही 'प्रियप्रवास' है। सीमित कथानक के अलावा दृश्य-विधान भी पेड़-पौधों के नाम गिनाने तक सीमित है। इसकी इन दोनों कमियों का उल्लेख करते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, "किसी के वियोग में कैसी-कैसी बातें मन में उठ सकती हैं और क्या-क्या कहकर लोग रोते हैं, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है।"[17] इसी बात के कारण कृष्ण-काव्य परम्परा से इसका किंचित सम्बन्ध-सूत्र जुड़ता है। कुल मिलाकर, यह महाकाव्य भले न हो, इसमें महाकाव्यात्मक रचनाओं की प्रतिध्वनि अवश्य है।

आलोचकों ने मैथिलीशरण की 'साकेत' और प्रसाद की 'कामायनी' को 'प्रियप्रवास' का विकास माना है। कथानक, भाषा, छन्द आदि से सम्बन्धित प्रयोगों के कारण यह आगे के काव्य-विकास को प्रभावित करने वाली रचना थी भी। केवल 'साकेत' और 'कामायनी' ही नहीं, 'पल्लव', 'गीतिका', 'नीरजा' और उसके बाद की कविता धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' में व्याप्त प्रगीतात्मकता और मधुरता का उत्स 'प्रियप्रवास' में खोजना अनुचित नहीं होगा। आलोचकों का यह मानना कि संस्कृत के गणवृत्तों के कारण यह मार खा गई, पूरी तरह सही नहीं है। इसके छन्द-प्रयोग ने भी आगे के कवियों को कम चकित नहीं किया। अज्ञेय ने लिखा है, "हरिऔध की यशोदा का विलाप पढ़कर मैंने मालिनी छन्द में कई विलाप लिखे थे–राधा का, प्रवत्स्यत्पति का, वीर वधू का, इत्यादि। मन्दाक्रांता तब इतना अच्छा नहीं लगा था, जितना बाद में लगने लगा, पर 'शिखरिणी' पर मैं मुग्ध था... ।"[18]

प्रश्न है कि 'प्रियप्रवास' के अपने समय में 'भारत भारती' से पीछे रह जाने के क्या कारण हो सकते हैं?

वस्तुतः 'भारत भारती' जिस समय लिखी गई थी, उस दौर में सांस्कृतिक अतीत की पुनःरचना और राष्ट्रीयता का विशेष महत्त्व था। यह बात 'प्रियप्रवास' में उतनी मुखर नहीं थी। लोकोद्धार की भावना ही अधिकतम उभर सकी। दूसरी बात, विरह-शृंगार काव्य के रूप में 'प्रियप्रवास' में रीतिकाल की परम्परा का निर्वाह हुआ है। यह बात महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'रीतिवाद विरोधी अभियान' के अनुकूल नहीं थी। इस कारण भी इसकी लोकप्रियता को थोड़ा नुकसान हुआ। तीसरी बात, स्वयं कृष्ण काव्य परम्परा रीतिकाल के बाद के काव्य-अभ्यासों में शक्ति खो चुकी थी, जिसे कथानक में मौलिक उद्भावना के द्वारा भी हरिऔध उठाने में सफल नहीं

रहे। इसके बावजूद, उनका यह महत्वाकांक्षी प्रयास, जिसमें साहित्यिक उत्कर्ष प्राप्त करने की भी लालसा है, हिन्दी कविता में नए के प्रारम्भ की सूचना अवश्य देता है। इस कारण मैथिलीशरण गुप्त के समान ही हरिऔध द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि ठहरते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त का रचना-संसार विस्तृत है। छोटे-बड़े सब मिलाकर छयालीस काव्य-ग्रन्थ हैं। उनमें से सर्वाधिक उल्लेखनीय 'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 1899 में एक निबन्ध लिखा था 'काव्य की उपेक्षिताएँ'। 'साकेत' के सन्दर्भ में प्रायः उसकी चर्चा की जाती है। निबन्ध की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं :

> *कवियों ने अपने कल्पना-स्रोत का सब करुणा-जल केवल जनक-तनया के पुण्य अभिषेक में लगा दिया। लेकिन एक और भी म्लानमुखी, सब ऐहिक सुखों से वंचित राजवधू, जो सीतादेवी की छाया के नीचे घूँघट डाले खड़ी है, कवि के कमंडल से एक बूँद अभिषेक-जल भी क्यों उसके चिर-दुःख-तप्त नम्र ललाट पर नहीं पड़ा! हाय अव्यक्त-वेदना देवी उर्मिला, तुम भोर के तारे के समान महाकाव्य के सुमेरु पर केवल एक बार उदित हुई थीं, और फिर कभी अरुणालोक में दिखाई नहीं पड़ीं। तुम्हारा उदयाचल कहाँ है और कहाँ है तुम्हारा अस्त-शिखर, यह पूछना भी लोग भूल गए।*[49]

'साकेत' ने उर्मिला-उद्धार किया, यह बात सामान्यतः विश्वविद्यालयीन प्राध्यापन-रूढ़ि का अंग बन चुकी है। 'साकेत' में यह है; लेकिन वह महत्तर प्रयास सिर्फ़ इसी कारण नहीं है। यह एक छोटा कारण है। बड़ा कारण है मैथिलीशरण गुप्त की वह सांस्कृतिक दृष्टि जो 'भारत भारती' और 'हिन्दू' की भित्ति पर खड़ी हुई थी। पुनरुत्थान की चेतना, उक्त दोनों ग्रन्थों में जो सिद्धान्त रूप में थी, रामकथा-विषयक अनुभूति के द्वारा 'साकेत' में काव्य-उत्कर्ष पाती है। पुनरुत्थान चेतना के दायरे में आधुनिक दृष्टि का समावेश भी 'साकेत' की एक विशेषता है। उर्मिला-उद्धार का महत्त्व भी इसी से जुड़ा हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त की संचयिता के सम्पादक नन्दकिशोर नवल मानते हैं कि "संयुक्त परिवार की पुनःप्रतिष्ठा के लिए उन्होंने (मैथिलीशरण ने) दशरथ के परिवार को लिया, जिसमें संयुक्त परिवार का यथार्थ और आदर्श दोनों अपने अतिशय भयावह और अतिशय सुन्दर रूप में देखने को मिलते हैं।"[50] यह सही है, और पुनरुत्थान चेतना के दायरे में आधुनिक दृष्टि के समावेश को ही इंगित करने वाला पक्ष है। इसे नंदकिशोर नवल की तुलना में ज़्यादा सटीक ऐतिहासिक सन्दर्भ में उनसे अपेक्षाकृत कम मेधावी आलोचक (अब मैथिलीशरण गुप्त रचनावली के सम्पादक) कृष्णदत्त पालीवाल ने समझा है। "हाँ, लेखनी : हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा/...जग जाएँ तेरी नोक से, सोये हुए हों भाव जो" को आधार बनाकर लिखा है :

> *गुप्त जी की काव्य-साधना का यही आदर्श था। वह सांस्कृतिक-राष्ट्रीय नवजागरण का युग था जिसमें नवनिर्माण की भावना बड़ी प्रबल थी। विराग की तुलना में राग, निवृत्ति की तुलना में प्रवृत्ति, संन्यास की तुलना में गार्हस्थ अपनी आभा में दीप्त हो उठा था। गार्हस्थ को महत्त्व प्रतिष्ठा मिलने से नारियों की स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर आया था।*[51]

गार्हस्थ की महत्त्व-प्रतिष्ठा स्त्री-शक्ति को आगे रखकर देखने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उर्मिला-प्रसंग 'साकेत' के केन्द्र में आ गया है, तो उसका महत्त्व मैथिलीशरण गुप्त की इस नई दृष्टि में है। यही दृष्टि 'यशोधरा' में दिखाई पड़ती है। यह आकस्मिक नहीं है कि मैथिलीशरण गुप्त ने ज़्यादा-से-ज़्यादा नारी पात्रों पर ध्यान दिया है। शकुन्तला, सीता, उर्मिला, यशोधरा, हिडिम्बा, द्रौपदी, विष्णुप्रिया, रत्नावली, राधा, कुब्जा, तिलोत्तमा! 'यशोधरा' की भूमिका में अज्ञेय ने ठीक चिह्नित किया है कि अधिकतर नए चरित्र नारी-चरित्र थे, जो मैथिलीशरण गुप्त के आधुनिक युगबोध के एक पहलू थे।[52] उर्मिला या यशोदा को केन्द्रीय महत्त्व (प्रोटैगॅनिस्ट के रूप में) देना नए युग में स्त्री-शक्ति के महत्त्व को समझना था। अज्ञेय ने ठीक लिखा है, "...इतिहास की उपेक्षिताओं को सामने लाना ही काफ़ी नहीं है; भारतीय समाज में पिछली तीन-चार शतियों से नारी के प्रति बढ़ती हुई उपेक्षा और अन्याय के प्रति भी लोगों को सजग करना होगा, ऐसा गुप्त जी सोचते थे। नया युग नारी के भी एक उत्कर्ष का युग होगा, यह वे मानते थे।"[53]

पुनरुत्थान-चेतना, कहने की आवश्यकता नहीं, अपने दायरे में प्रगतिशील थी। उसमें क्रमशः नए और आधुनिक आयाम जुड़ते चले गए थे। इसी प्रक्रिया के द्वारा बाद के काव्य में पुनरुत्थान के स्थान पर प्रगति और प्रयोग की दिशा में बढ़ा जा सका। खुद मैथिलीशरण गुप्त की 'अद्वैत' सांस्कृतिक चेतना ("धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम रूप के संग,/मुझ पर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रंग"[54]) के भीतर यह घटित हुआ। 'द्वापर' में नारद कहते हैं :

> *वादी संवादी स्वर लेकर,*
> *सीधा सभी बजाते हैं;*

पर प्रतिवादी स्वर भी मेरी
वीणा में बज जाते हैं।
विना विवादी के विनोद क्या,
बस प्रयोग सर्वत्र बड़ा;
बनें भैरवी भी मृदु-मधुरा,
मेरा माध्यम रहे कड़ा।

(द्वापर, पृ. 52)

इसमें नए काव्य-युग का संकेत है।

मैथिलीशरण गुप्त को 'द्वापर' में पुनरुत्थान से मुक्ति तो नहीं मिली, लेकिन उनका आर्यसमाजी आग्रह शिथिल अवश्य हो गया। आर्यसमाजी आग्रह का शिथिल होना और काव्य-गुण की अभिवृद्धि 'द्वापर' की एक उल्लेखनीय विशेषता है। मैथिलीशरण गुप्त संचयिता के सम्पादक नन्दकिशोर नवल का यह आकलन बिल्कुल सही है कि 'द्वापर' सर्वाधिक सुन्दर काव्य है।[55] मार्मिक, समीचीन और अर्थव्यंजक! रामचन्द्र शुक्ल ने इस काव्य पर केवल दो पंक्तियाँ खर्च की हैं, और वह बहुत सार्थक हैं, 'द्वापर' में यशोदा, राधा, नारद, कंस, कुब्जा इत्यादि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का अलग-अलग मार्मिक चित्रण हैं। नारद और कंस की मनोवृत्तियों के स्वरूप तो बहुत ही विशद और समन्वित रूप में सामने रखे गए हैं।"[56]

'द्वापर' 1935-36 की रचना है। घोर द्विधा का दौर! जवाहरलाल नेहरू ने उन दिनों राजनीति में 'विराट रिक्तता' का अनुभव किया था। नेहरू की आत्मकथा का एक लम्बा उद्धरण देते हुए विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि नेहरू के मन में महसूस होने वाली विराट रिक्तता उस युग में पूरे देश की केन्द्रीय समस्या थी, जिसका उत्तर देने की, या जिस पर भावनात्मक विजय प्राप्त करने की कोशिश उस युग की हिन्दी कविता करती है।[57] यह बात ज़रा खटकती है कि साही ने उसी दौर में लिखी गई बच्चन की 'मधुशाला' के मधुपायी, भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' के बीजगुप्त, प्रसाद की 'कामायनी' के मनु और प्रगतिवाद की चीखों को इसके उदाहरण के रूप में रखा, लेकिन उनकी निगाह मैथिलीशरण गुप्त की 'द्वापर' पर नहीं पड़ी।

रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का मार्मिक चित्रण और स्वरूप का विशद और समन्वित रूप कहा है, उसका गहरा सम्बन्ध अपने समय की द्विधा, रिक्तता और संशय से है। इसका एक विडम्बनापूर्ण और विलक्षण उदाहरण कंस का वासुदेव-पुत्र कृष्ण के बच जाने की आशंका से उपजा यह आत्मकथन है :

भित्ति-चित्र चलते से क्या
दीख गए क्षण काल!
द्वापर ही द्वापर है मेरे
चारों ओर अराल।
... ...
भ्रम हो, भय हो, अप्रत्यय हो,
संशय, अनृत, यथार्थ,
जो भी हो, आ जावे खुलकर
देखें फिर पुरुषार्थ।

(द्वापर, पृ. 81)

यह द्वन्द्व कंस का है और लगभग यही द्वन्द्व 'द्वापर' के लेखन काल—यानी चौथे दशक का है।

भ्रम और यथार्थ के गहरे द्वन्द्व का साक्षात्कार खलपात्र के माध्यम से ज़्यादा सम्भव है। नायक में जो सन्तुलन होता है, वह परदे का काम करता है। 'द्वापर' के कृष्ण के आत्मकथन में यह बात देखी जा सकती है।

राम भजन कर पाँचजन्य! तू,
वेणु बजा लूँ आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुन ले,
स्वर ये मेरे भाव भरे—
कोई हो, सब धर्म छोड़ तू
आ, बस मेरा शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह, जिसे
मेरे हाथों तू न तरे?

(द्वापर, पृ. 12)

कंस का 'भय' खुलकर सामने आने के लिए ललकार रहा है, जबकि कृष्ण का वेणु खुला खेल की इजाजत नहीं देता। वह एक मोहपाश है। जो कोई डर को त्याग चुका है, वही उसमें फँसे। लेकिन 'राम भजन कर' जैसे प्रथम पद के कारण एक रिक्तता भी दिखाई देती है। 'मेरे हाथों तू न तरे' में निहित है—मुक्ति है, लेकिन अभी नहीं। 'खंडित चेतना वाली मनोभूमि' के उस दौर में जैसे गांधी जी कह रहे हैं—'सब धर्म छोड़ तू/आ'।

साहित्यिक परम्परा पर ध्यान दें तो 'जो सुनना चाहे सो सुन ले,/ स्वर ये मेरे भाव भरे' पढ़कर पच्चीस साल बाद अज्ञेय की लिखी 'असाध्य वीणा' की पंक्तियाँ याद आती हैं—'डूब गए सब एक साथ। सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।'

'द्वापर' में राधा, विधृता, कुब्जा डूब गई सब कृष्ण की चाहत में, और सब अलग-अलग तरह से। समर्पण एक-सा नहीं होता।

राधा सशरीर समर्पित है लोक-त्याग द्वारा :

बस, यह तेरा अंक और यह
मेरा रंक शरीर हरे!

... ...

मेरा लोक आज इस लय में
हो जावे विध्वंस हरे!

(द्वापर, पृ. 13-14)

विधृता मर कर भी कुछ कहने को तत्पर है :

मैं मर चुकी, किन्तु मरते ही
ठंडी नहीं पड़ी हूँ
तुमसे दो बातें कहने को
क्षणभर यहाँ खड़ी हूँ।

(द्वापर, पृ. 22)

कुब्जा तो जैसे राधा और गोपियों की प्रतिपक्ष है :

तू चाहे जिसका योगी हो,
मेरा क्षणिक वियोगी
तेरा जन अगणित, परन्तु मैं
एक विजनता तेरी।

(द्वापर, पृ. 105)

जवाहरलाल नेहरू ने जिस समय में एक 'विराट रिक्तता' का अनुभव किया था, उसे भरने का यह प्रयास है विभिन्न स्त्री-पात्रों के समर्पण और त्याग के आत्मकथन द्वारा। यह बड़ी विशेषता है 'द्वापर' की।

'द्वापर' प्रत्यक्षतः रूपक (एलिगरी) नहीं है, लेकिन इसके रचना-काल से जोड़कर इसका पाठ करें तो आत्मोत्सर्गपूर्ण विभिन्न उक्तियों में स्वाधीनता आन्दोलन के कई दिग्गज चरित्र ध्वनित होने लगते हैं। कविता यह काम करती है, और इसमें कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। उसी कृति को दूसरे समय से जोड़कर पढ़ें तो वह दूसरी ध्वनि दे सकती है। यहाँ महत्त्व की बात है प्रत्यक्ष सम्बन्ध के बगैर किसी कृति में अपने समय को ध्वनित करने की क्षमता।

देवकी के आत्मकथन का उदाहरण लें तो यह स्वानुभूत, अत्यन्त कठिन और स्याह समय की कविता है :

आधी रात जहाँ दिन में भी
वहाँ रात, फिर पूरी!
किसे ज्ञात है, कहाँ हमारे,
फिरते दिन की दूरी?

... ...

तब भी काल बीत जाता है,
जब जुग-सा पल-छिन्न है;
जिससे हम जी जायँ, हाय! वह
मरना महा कठिन है।

(द्वापर, पृ. 56)

'द्वापर' की रचना के साथ मैथिलीशरण गुप्त की निजी वेदना का भी सम्बन्ध है। भूमिका की ये पंक्तियाँ इसी बात की ओर इशारा करती हैं—"जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है, वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्प पूर्ण रही। क्या जानें, इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से, यह भी द्वापर-सन्देह की बात है।"[10] जो लोग जानते हैं कि इसकी रचना गुप्त जी ने अपने बीमार बेटे की तीमारदारी करते हुए की थी और उसे बचा नहीं सके थे, उनके मन में कोई सन्देह की बात बाकी नहीं रह जाती। देवकी का यह आत्मकथन ऐसी ही किसी परिस्थिति में उपज सकता है—

हा भगवान्! हो गई व्यर्थ वह
प्रसव-वेदना सारी;
लेकर यह अनुभूति चेतना
कहाँ रहे यह नारी?

(द्वापर, पृ. 61)

यह 'सरोजस्मृति' की तरह शोककाव्य नहीं है, जिसमें निजी दुःख को कहने का अवसर था। इसके बावजूद, इसमें निजी दुःख की अभिव्यक्ति वाली सघनता है।

'द्वापर' उसी युग की उपज है जिसमें 'कामायनी', 'गोदान', 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोजस्मृति' लिखी गई। अन्य समानताओं के अतिरिक्त विकल-संवेदना के छोर से भी यह हिन्दी की उपर्युक्त कालजयी कृतियों के निकट है।

4

मैथिलीशरण गुप्त की कविता का सबसे परिपक्व काल वही है, जो छायावाद का है। 'साकेत' और 'यशोधरा' के प्रगीतात्मक अंशों, 'द्वापर', 'रत्नावली' और 'झंकार' के गीतों पर नज़र डालें तो भाषा और भावबोध के स्तर पर उन पर छायावाद का काफी प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'कुणालगीत', 'पृथ्वीपुत्र', 'जयिनी' आदि काव्यकृतियों को देखें तो वे उत्तर-छायावाद और प्रगतिवाद से भी तालमेल बनाते देखे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में रामधारी सिंह दिनकर ने बहुत अच्छी बात कही है, "गुप्त जी के सामने कविता के जितने आन्दोलन चले (प्रयोगवादी आन्दोलन को छोड़कर) उनमें से प्रत्येक का बिम्ब गुप्त जी के विशाल काव्य-समुद्र में जगमगाता मिलता है। उन्होंने कई पीढ़ियाँ देखी

हैं। किन्तु, परिवार का पिता होने के नाते सभी पीढ़ियों का अर्जन, मानो उनके पास संचित हो गया है।"[59] संयुक्त परिवार की इस विशेषता के कारण, हमारी समझ से, मैथिलीशरण गुप्त की सार्थकता बढ़ती ही है।

वस्तुतः नई पीढ़ियों से ग्रहण करने के प्रति मैथिलीशरण गुप्त जहाँ उदार रहे, वहीं नई पीढ़ियाँ समावेशी निरन्तरता के अन्तर्गत उन्हें आत्मसात् करने में पीछे नहीं रहीं। छायावाद इसका अपवाद है। वह भी इसलिए कि उसे उसी द्विवेदी युग में अलग मार्ग बनाना पड़ा था, जिसके मैथिलीशरण प्रतिनिधि कवि हैं। लेकिन यह मैथिलीशरण गुप्त से ही अलग मार्ग बनाने की बात थी, श्रीधर पाठक से नहीं।

रामचन्द्र शुक्ल ने श्रीधर पाठक के जिस 'ट्रू रोमांटिसिज़्म' का उल्लेख किया है, उसकी दो दिशाएँ हैं। एक दिशा खुद शुक्ल जी द्वारा बताई हुई है—मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट वाली। दूसरी दिशा छायावाद है। छायावाद की अभिव्यंजना प्रणाली से शुक्लजी भले सहमत नहीं रहे, उनकी इच्छा के विरुद्ध मैथिलीशरण एक समय में उसकी ओर भी झुकते दिखाई पड़े। इसे देखते हुए 'झंकार' के गीतों का उदाहरण देते हुए शुक्ल जी ने टिप्पणी भी की है, "असीम के प्रति उत्कंठा और लम्बी-चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्त जी की अन्तःप्रेरित प्रवृत्ति के अन्तर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पड़े।"[60] स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में मैथिलीशरण गुप्त ने यह अच्छा काम नहीं किया।

इससे एक बात साफ़ है कि छायावाद हिन्दी कविता का बड़ा साहित्यिक उद्यम था, जिसके प्रभाव से द्विवेदी जी के पक्के शागिर्द के लिए भी बचना सम्भव नहीं हुआ। इसके आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि साहित्य किसी सम्पादक या आलोचक के—चाहे वह कितना भी बड़ा हो—बनाए मार्ग पर कम ही दूर चलता है; ज़्यादा दूर तक चलने के लिए उसे वास्तविक प्रभावशाली समकालीन के साथ होना पड़ता है।

'मैथिलीशरण गुप्त संचयिता' के सम्पादक नंदकिशोर नवल का यह कहना उचित है कि स्वच्छन्दतावाद और छायावाद ने एक-दूसरे पर प्रभाव डाला है, फिर भी ये दोनों अलग-अलग चलने वाली काव्यधाराएँ हैं। लेकिन उसके बाद यह निष्कर्ष निकालना एक स्थूल तथ्य है कि बाद में माखनलाल, 'नवीन' और सियारामशरण गुप्त ने जो काव्य-सृजन किया या बच्चन और दिनकर का जो उत्तरछायावाद आया, उसका सम्बन्ध स्वच्छन्द धारा से है, छायावाद से नहीं।[61] वस्तुतः जैसे छायावाद के दौर में प्रभावशाली समकालीनता की ओर मैथिलीशरण गुप्त को झुकना पड़ा था, वैसे खुद छायावाद को उत्तरछायावादी फक्कड़पन के निकट होना पड़ा, जिसकी पिछली परम्परा भारतेन्दु-युग की कविता से लेकर श्रीधर पाठक के स्वच्छन्तावाद में मौजूद थी। कविता की परम्परा में दुहराव-तिहराव कोई बड़ी बात नहीं। काल-विशेष में प्रवृत्तियाँ उठती-दबती रहती ही हैं।

रामचन्द्र शुक्ल ने मैथिलीशरण गुप्त को जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में महत्त्व और सौन्दर्य का दर्शन करने वाला कवि कहा है।[62] दूसरी विशेषता बताई, जिसकी अभी हम बात कर रहे हैं, अगली पीढ़ी से प्रभाव ग्रहण करने की—"कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चले जाने की शक्ति।" आगे इसमें जोड़ा, "इस दृष्टि से हिन्दी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निःसन्देह कहे जा सकते हैं।"[63] निःसन्देह जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र का कवि जिसमें समय के अनुसार ढलने की क्षमता भी हो—प्रतिनिधि और अनुकरणीय कवि हो सकता है। मैथिलीशरण में काव्यानुसरण की जितनी क्षमता है, उतने ही वे अनुकरणीय कवि भी हैं।

बाद का काव्य-विकास अपने अनुभव की बनावट से ज़रा अलग दिखाई पड़ता है और उसकी भाषा-भंगिमा में कुछ बदलाव आ गया, फिर भी उसका सम्बन्ध मैथिलीशरण के काव्य से टूटता नहीं है। विपिनकुमार अग्रवाल ने इस तथ्य की पुष्टि में 'साकेत' से उदाहरण देते हुए एक उल्लेख-योग्य व्याख्या प्रस्तुत की है।[64]

सीता चित्रकूट के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर कहती है :

निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

कहता है कौन कि भाग्य ठगा है मेरा?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा।
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा
वन में ही तो गार्हस्थ जगा है मेरा।

(साकेत, अष्टम सर्ग, पृ. 118)

यह सिर्फ़ सन्तोष-भाव का प्रदर्शन नहीं है। अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने, उसे सार्थक करने का उपक्रम है। विपिनकुमार ने यही उपक्रम लक्ष्मीकांत वर्मा और सर्वेश्वर की कविताओं में ढूँढ़ा है। सर्वेश्वर की ये पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में अत्यन्त सार्थक हैं :

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे लगता है

कि हम असमर्थताओं से नहीं
सम्भावनाओं से घिरे हैं।

विपिनकुमार की टिप्पणी है, "सीता को गार्हस्थ्य घेर लेता है, मैं (नई कविता का 'मैं') का दायित्व और सम्भावनाएँ। पर नए कवियों का ढंग अधिक विकसित है, अधिक सधा हुआ है, अधिक पका हुआ है। उनमें प्रथम अन्वेषी का अटकाव, जो मैथिलीशरण में था, अनुपस्थित है।"[65]

नए कवि का ढंग विकसित है। उसे सीता की तरह बहुत बोलना नहीं पड़ता है। उसका काम निहारने से चल जाता है। सीता की तरह वह भी सघन वन को पैदल पार करते हुए चित्रकूट पहुँचता तो उसका ढंग उतना विकसित नहीं हो पाता। वाल्टर बेंजामिन ने जार्ज सिमैल का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कथन नोट किया है, "19वीं शताब्दी से पहले, जब बसें, रेल, मोटरगाड़ियाँ नहीं आई थीं, लोगों के सामने यह स्थिति नहीं आई थी कि बिना बोले घंटों दूसरे को निहारते रहें।"[66]

सर्वेश्वर की कविता में साथ रहने (गार्हस्थ जीवन) की सुविधा है। बाद की पीढ़ी का कवि उस सुविधा को खोकर भी अकेला नहीं पड़ता :

प्याज की तेज गंध हींग जीरे की कपूर की गंध
मुझे किसी औरत की गंध लग रही है।
अकेले जो रहता है नहीं है अकेले
अदहन में चावल छोड़ते भी नहीं है अकेले
उनकी साँसें छूट गई हैं यहाँ उनकी छाया
उनकी देह का प्रभा-वलय

(अरुण कमल : नये इलाके में, पृ. 36)

सर्वेश्वर और नई कविता के दूसरे कवियों की तरह आज के कवि को घोषणा नहीं करना पड़ता। उसने आधुनिकता से उत्पन्न बेचैनी पर काबू पा लिया है। इसलिए उसमें मैथिलीशरण गुप्त वाली थोड़ी सरलता भी है और मन्द रूमानियत भी।

राजेश जोशी के 'मैं' की पीठ में होटल के बिस्तर पर लेटे-लेटे खुजली हो रही है। जनेऊ इस ज़माने में पैतृक घर की खूँटी पर छूट गई है। बैलगाड़ी का भी ज़माना नहीं रहा कि उसके पहिए से टिक कर खुजला लिया जा सके। खुद के हाथ से ही कोशिश करनी पड़ती है। जहाँ हाथ की हद खत्म होती है, वहाँ से शुरू होती है किसी हथेली की याद।

याद ने भी क्या कारण खोजा है आने के लिए
घर से इतनी दूर इस गुलाबी शहर में।

(दो पंक्तियों के बीच, पृ. 42)

कविता भी क्या-क्या कारण खोजवाती है उसकी परम्परा को याद करने के लिए!

संदर्भ

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 396
2. देखें, नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 17
3. नामवर सिंह, छायावाद, पृ. 45
4. दूधनाथ सिंह, तारापथ की भूमिका, पृ. 37
5. देखें, सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लव, पृ. 20
6. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 408
7. देखें, वही, पृ. 426
8. देखें, वही, पृ. 460
9. देखें, वही, पृ. 459-60
10. देखें, अन्तरंग संस्मरणों में जयशंकर प्रसाद, सं.-पुरुषोत्तमदास मोदी, पृ. 41
11. वही।
12. देखें, रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. -439-42, 452 और 460
13. देखें, नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 60
14. वही।
15. देखें, टी.एस. इलियट, ऑन पाइट्री एंड पोइट्स, पृ. 89
16. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 60
17. दिनकर, 'पन्त प्रसाद और मैथिलीशरण', पृ. 16
18. देखें, वही, पृ. 16-23
19. देखें, वही, पृ. 150
20. देखें, वही, पृ. 16
21. देखें, दिनकर, संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ, पृ. 30
22. देखें, वही।
23. देखें, टेरी इगल्टन, क्रिटिसिज़्म एंड आइडियोलॉजी, पृ. 80 एवं 95
24. गांधी जी, हिन्द स्वराज, पृ. 3
25. देखें, श्रीधर पाठक ग्रन्थावली, पृ. 328
26. हिन्दी प्रदीप : 1 जुलाई, 1988 (जिल्द-2, संख्या-2), पृ. 10
27. देखें, वही, अक्टूबर-दिसम्बर, 1887 (जिल्द-2, अंक-2, 3, 4)
28. देखें, भारत भारती की प्रस्तावना, पृ. 9
29. यह पत्र महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दि. 1904.11 में लिखा था। देखें, महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-14, पृ. 208
30. दि. 08.09.12 को लिखा पत्र, देखें, वही, पृ. 209
31. देखें, रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 436
32. महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-2, पृ. 305
33. वही, खंड-14, पृ. 217

34. मैथिलीशरण गुप्त के लिए अज्ञेय द्वारा प्रयुक्त। देखें, स्मृतिलेखा, पृ. 34
35. आधार आर्यों के अटल जातीय-जीवन-प्राण का—
है पाठ कैसा हो रस श्रुति, शास्त्र और पुराण का।
हे राम! हिन्दू जाति का सब कुछ भले ही नष्ट हो—
पर यह सरस संगीत उसका फिर यहाँ सुस्पष्ट हो।
—भारत भारती, पृ. 72
36. हिन्दू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ,
जो एक का होगा अहित तो दूसरे का हित कहाँ।
सप्रेम हिलमिल कर चलो, यात्रा सुखद होगी तभी;
पीछे हुआ सो हो गया, अब सामने देखो सभी॥
—भारत भारती, पृ. 111
37. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 416
38. मैथिलीशरण गुप्त, हिन्दू, पृ. 42
39. सियारामशरण गुप्त रचनावली, खंड-1, पृ. 193
40. 'हिन्दुओं का रणगीत, मंजु माधवी वृत्त' (1913-14), देखें, माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, खंड-6, पृ. 36
41. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, खंड-4, पृ. 167-68
42. श्रीकान्त जोशी, सोच-समझ, पृ. 123
43. देखें, नामवर सिंह, छायावाद, पृ. 79
44. देखें, अज्ञेय, आत्मपरक, पृ. 6
45. आलोचना, नवांक-12, जनवरी-मार्च, 1970, पृ. 24
46. रामचन्द्र शुक्ल ने 'प्रियप्रवास' के लिए इसी पद का प्रयोग किया है। देखें, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 413
47. वही।
48. अज्ञेय, आत्मपरक, पृ. 6
49. रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, खंड-2, पृ. 410
50. नन्दकिशोर नवल, मैथिलीशरण गुप्त संचयिता की भूमिका, पृ. XV
51. कृष्णदत्त पालीवाल, मैथिलीशरण गुप्त : प्रासंगिकता के अन्तःसूत्र, पृ. 74
52. देखें, यशोधरा की भूमिका।
53. वही।
54. मैथिलीशरण गुप्त, 'द्वापर' का मंगलाचरण, पृ. 11
55. देखें, मैथिलीशरण गुप्त, संचयिता, पृ. XVIII
56. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 418
57. देखें, विजयदेव नारायण साही, छठवाँ दशक, पृ. 282
58. मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर की भूमिका (निवेदन), पृ. 9
59. रामधारी सिंह दिनकर : पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 43
60. देखें, रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 417
61. देखें, मैथिलीशरण गुप्त, संचयिता, पृ. XXV
62. देखें, रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 417
63. वही, पृ. 418
64. देखें, विपिनकुमार अग्रवाल का निबन्ध 'एक तरह से देखो तो', आलोचना, नवांक-12, जनवरी-मार्च' 70
65. वही, पृ. 25
66. वाल्टर बेंजामिन, इल्यूमिनेशंस, पृ. 193

लय की अवधारणा और गद्य-समीक्षा का मानदंड

बरुण कुमार

साहित्य में लय की चर्चा कविता के सन्दर्भ में की जाती रही है। इधर कुछ दशकों से गद्य की लय पर भी विद्वानों का ध्यान गया है और इस सम्बन्ध में अन्वेषण के गम्भीर प्रयास हो रहे हैं। नए भाषाशास्त्र, व्याकरण, शैलीविज्ञान, मस्तिष्क विज्ञान एवं इनके भी अन्तर्गत विभिन्न उपविभागों की तरफ से गद्य की लय का अध्ययन किया जा रहा है और महत्त्वपूर्ण अध्ययन सामने आते रहे हैं। किन्तु वे अधिकांश अंग्रेजी में हैं। हिन्दी में इस सम्बन्ध में अभी अपेक्षित रुचि की कमी दिखती है। इसके सम्बन्ध में की गई टिप्पणियाँ ज्यादातर प्रभावात्मक होती हैं और उनकी परीक्षा और सत्यापन के लिए किसी विश्लेषण के आधार की कमी महसूस होती है।

लय क्या है, लय की प्रकृति क्या है, यह किन तत्त्वों पर निर्भर करती है, गद्य की लय कविता की लय से किन मायनों में अलग या समान है, गद्य रचनाओं में लय के प्रतिफलन के लिए कौन से तत्त्व जिम्मेदार होते हैं, और सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि गद्य के समीक्षक के लिए लय के अध्ययन की क्या सार्थकता है, हम यहाँ इन बातों पर विचार करेंगे।

लय की परिभाषा

लय की व्युत्पत्ति 'ली' धातु से हुई है जिसमें 'अच' प्रत्यय लगने से यह शब्द बना है। इसका अर्थ होता है चिपकना, मिलना, घुलना, समाप्त होना आदि। लय हर क्रिया का गुण है। हर क्रिया एक लय में बँधी होती है, चाहे वह लय नियमित हो या अनियमित। यह बात वाक् क्रिया पर भी लागू होती है। उच्चारण की प्रक्रिया के दौरान उक्ति में प्राथमिक, द्वितीय आदि भिन्न प्रकार के बलाघात आते हैं और समाप्ति पर विराम आता है। इन्हें भाषाशास्त्र में खंडेतर रूपिम (Supra-segmental Morphemes) कहा जाता है। इन्हीं खंडेतर रूपिमों की आवृत्ति और संयोजन से लय का निर्माण होता है। लय कृति के उच्चरित रूप से सम्बन्ध रखती है। गद्य या पद्य की रचनाएँ बीज रूप में उक्तियों का ही संयोजन हैं। किसी कथन में खंडेतर रूपिमों (बलाघात, तारत्व, संक्रान्ति, विराम) के प्रकार में परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन आ जाता है। इसे हम निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं :

(1) वह <u>तीन दिनों</u> से बुखार में पड़ा है।
('तीन दिनों' पर बलाघात, अवधि पर जोर)

(2) <u>वह</u> तीन दिनों से बुखार में पड़ा है।
('वह' पर बलाघात, भोक्ता पर जोर)

वरिष्ठ राजभाषा अधिकारी, मेट्रो रेलवे भवन, 33/1, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, कोलकाता-700 071

(3) यह तीन दिनों से बुखार में पड़ा है।
('बुखार' पर बलाघात, कष्ट की अभिव्यक्ति)

(4) वह तीन दिनों से बुखार में पड़ा है?
(आरोही विराम, प्रश्न, विस्मय की अभिव्यंजना)

लय समय के आयाम में स्थित होती है। उच्चारण की क्रिया समय के किसी बिन्दु पर आरम्भ होकर किसी बिन्दु पर खत्म होती है। भाषा को इसी कारण रैखीय अभिव्यक्ति कहा जाता है। भाषिक रचना का कोई आदि बिन्दु होता है और कोई अन्त। संगीत कला पर भी यह बात लागू होती है। इसलिए संगीत के सम्बन्ध में लय का प्रयोग सबसे पुराना और सबसे अधिक होता है। किन्तु यही बात चित्रकला या वास्तुकला के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। चित्रकार चित्र बनाने में भले ही कैनवस के किसी बिन्दु से आरम्भ कर कहीं खतम करता हो, चित्र या वास्तु की कृति का कोई आदि या अन्त का बिन्दु नहीं होता। इसलिए इन ललित कलाओं में लय की बात नहीं कही जा सकती। इनके सन्दर्भ में यदि 'लय' शब्द का प्रयोग होता है तो वह सानुपातिकता, सममिति (symmetry) या एकत्व (unity) के अर्थ में। लय सदैव समय के आयाम में अवस्थिति रखता है।

लय तभी होती है जब गति होती है और यह गति हमेशा वृत्तीय यानी आवृत्तिपरक होती है। इस प्रकार लय के दो धर्म हैं : गति और आवृत्ति। वृत्तीय गति के लिए सदैव दो बिन्दु होते हैं जिनकी बार-बार आवृत्ति होती है। संगीत में ताल में आवत्ति के दो बिन्दु हैं : 'सम' और 'खाली', जिसमें न्यास (ठहराव) होता है सम पर। सम पर ही बलाघात भी होता है।

।(सम)
धा धिना धिन धा   धा धिन धिन धा
0(खाली)
ता तिन तिन ता   धा धिन धिन धा

कविता में छन्द में वृत्तीय गति के दो बिन्दु यतियों पर स्थित हैं। छन्द में वर्णों या मात्राओं की नियमित संख्या के बाद जो विराम का स्थल आता है उसे यति कहते हैं। छोटे छन्दों में साधारणतः यति चरण के अन्त में होती है, पर बड़े छन्दों में एक ही चरण में एक से अधिक यति या विराम होते हैं। विराम पर ही न्यास होता है। देख सकते हैं कामायनी की ये पंक्तियाँ :

/ /
उषा सुनहले तीर बरसती → जयलक्ष्मी सी उदित हुई
('बरसती' और 'हुई' के बाद विराम)
/ /
उधर पराजित कालरात्रि भी → जल में अन्तर्निहित हुई
('कालरात्रि भी' और 'हुई' के बाद विराम)

संगीत में ताल में 'सम' और 'खाली' समान समयांतरालों पर आते हैं इसलिए संगीत की लय नियमित होती है। पद्य में भी बलाघात और विराम समान या सममितिपूर्ण अन्तरालों पर आते हैं इसलिए पद्य की भी लय नियमित होती है। लेकिन गद्य में बलाघात और विराम असमान, सममितिरहित, भिन्न-भिन्न समयांतरालों पर आते हैं इसलिए गद्य की लय अनियमित होती है। ऐसी कविताएँ जो भी छन्द की उपेक्षा कर गद्य की संरचना का अनुकरण करती हैं, अनियमित लय की होती हैं।

साहित्य में लय की सार्थकता

यह प्रश्न सहज रूप से उठता है कि लय यदि उक्तिमात्र का अनिवार्य गुण है तो फिर दर्शन, राजनीति, विज्ञान आदि के प्रतिपादन की भाषा की भी लय होगी जहाँ लय का प्रश्न महत्त्व नहीं रखता, फिर साहित्य में इसकी क्या सार्थकता है। साहित्य (यहाँ हमारा अभिप्राय रचनात्मक साहित्य से है) दरअसल भाषा की वह विधा है जो वाह्य भौतिक जगत या आन्तरिक मानसिक जगत की घटनाओं, क्रियाओं की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखती है। यों प्रतिपादन की भाषा में भी मन की एक क्रिया—चिन्तन—की अभिव्यक्ति हो जाती है और अखबारी रिपोर्टिंग की भाषा में भी वाह्य जगत की घटना की अभिव्यक्ति हो जाती है किन्तु ऐसी अभिव्यक्ति में उस चिन्तन प्रक्रिया या घटना को हू-ब-हू निरूपित करने का प्रयास नहीं होता। साहित्य में घटनाओं की अनुकृति प्रस्तुत करने का प्रयास होता है। चूँकि हर घटना, हर क्रिया की कोई-न-कोई लय अवश्य होती है अतः उसकी अनुकृति या निरूपण में भी लय का अनुकरण या निरूपण होगा। अब आलोचक के लिए यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वह इस बात की परीक्षा करे कि किसी निरूपित घटना और उसकी निरूपित लय में तादात्म्य है या नहीं। अतः लय का प्रश्न भी अन्य कई प्रश्नों के साथ अभिव्यक्ति की सफलता असफलता का मानदंड बनने की क्षमता रखता है। गद्य की शैली के अध्ययन में लय की सार्थकता का यही आधार है।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, साहित्य में घटनाओं, व्यापारों की अभिव्यक्ति दो प्रकार से हो सकती है :

(क) जिसमें अभिव्यक्त घटना या व्यापार की सूचनामात्र होती है। इसमें बुद्धितत्त्व प्रधान होता है। इसमें निरूपित लय भाषा की अपनी लय होती है, जिसका व्यक्त घटना या व्यापार

की लय से कोई लेना-देना नहीं होता। उदाहरणार्थ, 'वह गुस्से में है' इसमें गुस्से की सूचना भर है, गुस्से की लय से इस उक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ख) जिसमें व्यक्त घटना या व्यापार की सूचनामात्र नहीं होती, उसे हू-ब-हू निरूपित करने का प्रयास होता है। इसमें भाषा की लय का, जहाँ तक भाषा में सम्भव है, उस घटना या व्यापार की लय के साथ तादात्म्य होता है। लय के निरूपण की भी एक सीमा है। भाषा की सदैव एक अपनी लय होती है जो व्यक्त घटना या व्यापार की लय से अलग होती है। अतः पूर्ण निरूपण में भाषा की अपनी लय बाधक होती है।

रचनाओं में लय की उपस्थिति का एक और कारण हो सकता है—अव्यवस्था में व्यवस्था आरोपित करने का प्रयास। किंग जेम्स 1 अधिकृत पाठ बाइबिल की भाषा नियमित लय का ऐसा ही उदाहरण है जिसमें लय घटनाओं की अनुकृति के कारण नहीं है।

उपर्युक्त दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति (ख) में ही लय का महत्त्व सर्वाधिक है। एक सफल सर्जक कलाकार जब किसी घटना या व्यापार का निरूपण करता है तो उसमें उसकी लय भी निरूपित होती है—चाहे सायास रूप में, चाहे अनायास रूप में। तभी उपयुक्त प्रभाव की सृष्टि हो पाती है। एक असफल लेखक ऐसा नहीं कर पाता। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी रचना के सभी स्थल लय की दृष्टि से महत्त्व के नहीं होते, वरन् वे ही होते हैं जहाँ उपर्युक्त दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति हुई हो। ऐसे ही स्थल रचना में अन्य की तुलना में प्रमुखता लिये होते हैं।

लय के निर्धारक तत्त्व

यद्यपि लय उक्ति में खंडेतर रूपिमों के संयोजन का प्रतिफलन है लेकिन इसका निर्धारण करता है—अर्थ और विन्यास। खासकर गद्य रचना के मामले में। कविता में स्थिति भिन्न है जहाँ लय निर्भर करता है छन्द पर, जो अर्थ से अलग भी अपनी इयत्ता रखता है। अर्थ और विन्यास दोनों अन्योन्याश्रित हैं—विन्यास अर्थ का अनुकरण करता है, और अर्थ विन्यास का। विन्यास की जटिलता अर्थ की जटिलता का अक्सर कारण या कार्य होती है। गद्य की लय में अर्थ और विन्यास दोनों एक साथ क्रियाशील होते हैं, कोई अकेला जिम्मेदार नहीं होता। नीचे हम लय के सन्दर्भ में इन दोनों तत्त्वों पर विचार करेंगे।

(क) अर्थ, शब्दों की प्रकृति, शब्दों का परिवेश : अर्थ ही सबसे प्रमुख तत्त्व है। यह निर्धारित करता है कि लय तेज होगी या मन्द, नियमित होगी या अनियमित। तीव्र संवेगों की लय में नियमितता की प्रवृत्ति होती है। तेज गति की घटनाओं के वर्णन में तेज लय होती है और मन्द गति की घटनाओं में धीमी लय। साधारणतः युद्ध का वर्णन तेज लय की माँग करता है और मृत्यु का प्रसंग धीमी लय की। एक्शन या गति का वर्णन तेज लय का कारण बनता है। उदाहरणार्थ, 'तमस' का घटनाबहुल कथानक उसे तेज लय प्रदान करता है जबकि 'अपने-अपने अजनबी' का घटनाहीन-सा कथ्य उसे धीमी लय।

लय उन क्रियाओं पर भी लागू होती है जो मन की क्रियाएँ हैं, जैसे, चिन्तन, संवेग, अनुभूति, स्मृति आदि। चिन्तन की एक अपनी लय होती है जो संवेगों की लय की अपेक्षा मन्द होती है। विभिन्न संवेगों की विभिन्न लय होती है : क्रोध में लय तेज होती है और उदासी में धीमी। उत्कट संवेगों की लय में नियमितता और तेजी की प्रवृत्ति होती है और अपेक्षतया शान्त संवेगों की लय में अनियमितता और धीमेपन की। संवेगों की अपेक्षा अनुभूति की लय धीमी होती है। प्रत्यक्ष संवेग की अपेक्षा उसकी स्मृति में तीव्रता कम होती है, इस कारण लय भी धीमी होती है। तीव्र संवेगों, जैसे, क्रोध के निरूपण में सामान्यतया लय तेज होती है और मन्द संवेगों, यथा करुणा, के वर्णन में धीमी। संवेगों की अपेक्षा अनुभूति की लय धीमी होती है, क्योंकि अनुभूति में संवेगों की तरह तीव्रता नहीं होती। दार्शनिक चिन्तन में अत्यन्त धीमी लय होती है।

मूर्त, भौतिक अर्थ तेज लय का कारण बनता है और अमूर्त, भावात्मक अर्थ धीमी लय का। इसीलिए वैसे शब्द जिनका अर्थ बाह्य गोचर जगत की वस्तुएँ, घटनाएँ (मूर्त संज्ञाएँ, मूर्त क्रियाएँ, संख्यावाचक और भौतिक विशेषण, क्रियाविशेषण आदि) हों वे तेज लय की सृष्टि करते हैं। इसके विपरीत, अमूर्त, प्रत्ययरूप, धारणाओं आदि का अर्थ देनेवाले शब्द अपेक्षाकृत धीमी लय की सृष्टि करते हैं। गतिपरक क्रियाएँ एवं क्रियाविशेषण तेज लय की माँग करते हैं और स्थितिसूचक क्रियाएँ व क्रियाविशेषण धीमी लय की। औपचारिक, अप्रचलित शब्दों की लय धीमी होती है और अनौपचारिक, प्रचलित, परिचित शब्दों की तेज। हिन्दी में तत्सम एवं कुछ विदेशी शब्द औपचारिक की श्रेणी में आते हैं और तद्भव, देशज एवं कुछ विदेशी शब्द अनौपचारिक की श्रेणी में।

इसके अलावा शब्दों का परिवेश भी महत्त्वपूर्ण है। मूर्त शब्दों के साथ मूर्त शब्द का ऐसा प्रयोग हो सकता है जो अर्थ में अमूर्तता लाए : जैसे, 'धूप का आँचल', 'स्वर की कोमल स्निग्ध लहरियाँ' या फिर इसका विपरीत भी हो सकता है जहाँ

अमूर्त शब्द के साथ मूर्त शब्द का प्रयोग मूर्तता लाए : जैसे, 'एक चियड़ा सुख'। लेकिन दोनों ही प्रकार के प्रयोग अर्थ बोध के लिए पाठक से अधिक ध्यान की माँग करते हैं, फलतः लय में धीमापन लाते हैं। ऐसे प्रयोग सदैव आलंकारिक होते हैं। मुहावरों का अर्थ बोध सरलता से होता है अतः वे तेज लय की सृष्टि करते हैं।

(ख) विन्यास की जटिलता : अर्थ की जटिलता विन्यास की जटिलता का कारण या कार्य होती है। विन्यास की जटिलता हो सकती है तत्त्वों के क्रम में और वाक्य लम्बाई में। उदाहरणार्थ, शमशेर बहादुर सिंह की एक कविता 'चुका भी हूँ मैं नहीं' में तत्त्वों के सामान्य क्रम 'मैं चुका भी नहीं हूँ' से दो बार विपर्यय है, इसलिए इसमें तत्त्वों के क्रम के कारण जटिलता है। तत्त्वों का क्रम सामान्य होते हुए भी वाक्य की लम्बाई अधिक होने पर जटिलता हो सकती है।

वैसे, जटिलता हिन्दी के लेखकों के सन्दर्भ में, अंग्रेजी लेखकों के विपरीत, कोई बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं बन पाता, क्योंकि हिन्दी भाषा के विन्यास में ही जटिलता वहन कर सकने की क्षमता कम है। हिन्दी में अंग्रेजी की तरह बहुत लम्बे-लम्बे वाक्य सम्भव नहीं हो पाते। विराम चिह्न भी जटिलता लाने में सहायक होते हैं। हिन्दी में पूर्णविराम और विस्मयादिबोधक को छोड़कर अन्य विराम चिह्न अंग्रेजी से आए हैं और कुछ चिह्न पूरी तरह खप नहीं पाए हैं। हिन्दी में ':' और ';' चिह्नों का प्रयोग बहुत कम होता है।

विन्यास जितना ही जटिल होगा लय उतनी ही धीमी होगी।

वस्तुतः अर्थ ही लय का सबसे प्रमुख निर्धारित तत्व है, विन्यास की जटिलता आदि आनुषंगिक कारण हैं।

लय के दो धर्मों के अनुसार ही गद्य की रचनाओं में लय के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न दो बनते हैं—क्या लय की सममिति मिलती है, जो कि आवृत्ति और गति में प्रमुखतः आवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। दूसरे, क्या कथ्य के अनुरूप लय का निरूपण या परिवर्तन होता है। और किसी रचना में सामान्यतः लय क्या है? —धीमी या तेज? और उसमें अर्थ एवं व्याकरण का स्तर कहाँ तक जिम्मेदार है? इन्हीं प्रश्नों के अन्तर्गत इस बात की भी व्याख्या होगी कि लय के मामले में यदि कहीं विचलन है तो वह किस विशेष प्रभाव की सृष्टि में सहायक है। चूँकि गद्य की लय अनियमित होती है इसलिए, स्वभावतः, दूसरे प्रश्न गति का हमारे अध्ययन में अधिक महत्त्व होगा।

गद्य में लय का अध्ययन : नियमितता के सन्दर्भ में

हमने पहले कहा है कि गद्य की लय अनियमित होती है, उसमें पद्य की भाँति नियमितता नहीं होती फिर भी गद्य में भी कभी-कभी समितिपूर्ण लय के स्थल मिलते हैं यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है। उदाहरणार्थ, निर्मल वर्मा की कहानी 'डायरी का खेल' का निम्न अंश (वाक्य संख्या कोष्ठक में) इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें अर्थ, व्याकरण और अनुतान तीनों ही स्तरों पर नियमितता और आवृत्ति मिलते हैं।

"यह मैं लेटा हूँ, संज्ञाहीन नहीं, फिर भी विचारशून्य, चेतना की अंधी गली पर चमगादड़-से फड़फड़ाते प्राणों को लिए, बिस्तरे से चिपका हुआ, नींद की नीली झील पर कुहरा-सा तिरता, डूबता, प्रतीक्षा करता हुआ, उस अशरीरी रहस्यमय चमत्कार का, जो लावा-सा भीतर-ही-भीतर घुलता है—जिसका विस्फोटन नहीं होता, जो होने-न-होने के बीच अनिश्चित टँगा है...(1)

क्षुब्ध कुहासा (2)—धूल की तहों में दबा, लिपटा पीलापन (3)—अजीब भुतैली-सी थकी-थकी चाँदनी जो ईंटों की दीवार पर गिर रही है, उसके बीच फँसे गौरैया के घोंसले पर गिर रही है, चाची की छत पर गिर रही है, बिट्टो के पलंग पर, बिट्टो के सारे शरीर पर, —बिट्टो की आँखों, बाँहों, बालों की लटों पर गिर रही है (4)—मैंने देखा...

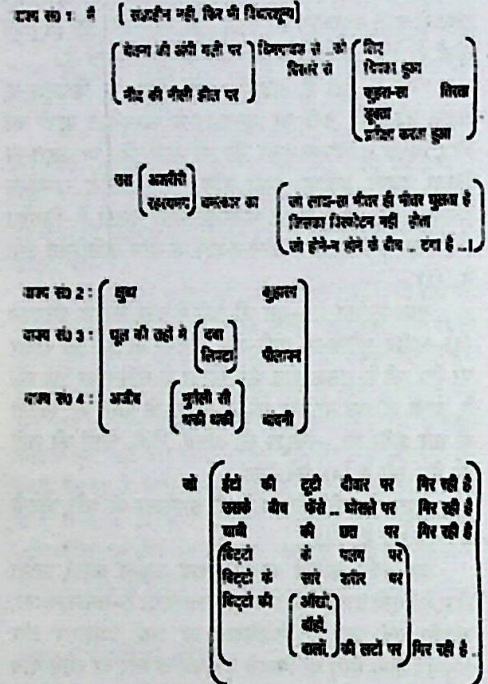
चैपल में खड़ी वर्जिन मेरी की संगमरमर की मूर्ति चाँदनी में काँप रही है..."(5)

यह वर्णन कविता का-सा प्रभाव उत्पन्न करता प्रतीत होता है। ऐसी प्रभावान्विति के लिए उत्तरदायी हैं—समानान्तरता, आवृत्ति एवं लय की नियमितता जो अर्थ, व्याकरण और अनुमान तीनों स्तरों पर मिलती है। अर्थ के स्तर पर इसमें पात्र के 'स्व' का उद्घाटन हुआ है जिसमें उसकी चेतना की एक अवस्था की थोड़े अन्तर के साथ लगातार परिभाषा हुई है। संज्ञाहीन' और 'विचारशून्य' दोनों पर्याय-से शब्द हैं जो अर्थ की आवृत्ति करते हैं। ये दरअसल चेतना की व्याप्ति निर्देशित करते हैं। 'क्षुब्ध कुहासा', 'धूल की तहों में लिपटा पीलापन', भुतैली-सी थकी-थकी चाँदनी आदि बाह्य वातावरण के बारे में कुछ नहीं कहते, वे एक 'मूड' की रचना करते हैं। यहाँ भी व्याजभेद से चेतना की अवस्था की परिभाषा हुई है। चाँदनी की छत पर, टूटी दीवार पर, घोंसले पर, बिट्टो के पलंग पर, बिट्टो के सारे शरीर पर गिरना आदि सभी अर्थ की आवृत्ति के उदाहरण हैं।

व्याकरण के स्तर पर उद्धरण में आवृत्ति का तत्त्व हमें

समानान्तर संरचनाओं की अधिकता में मिलता है। एक के भीतर पुनः उसके भीतर अन्तःकेन्द्रिक समानान्तर संरचनाओं का गुम्फन हुआ है।

दिखाए गए चित्र से यह स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। चित्र में समानान्तर संरचनाओं को कोष्ठक के भीतर दिखाया गया है :



चित्र से स्पष्ट है समानान्तर खंडों की संख्या और लम्बाई क्रमशः बढ़ती गई हैं। वाक्य 1 में दो-दो शब्दों के दो खंड समानान्तर हैं और वाक्य 8 तक समानान्तरता एकदम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है—एकदम एक-सी प्रतिध्वनित संरचनाएँ आने लगती हैं, एक-से विशेषण उपवाक्यों में एक ही क्रिया पदबंध की लगातार आवृत्ति होने लगती है। यह स्थिति संगीत में तान के स्वर-विस्तार से अत्यन्त साम्य रखती है :

नि सा रे म रे सा
नि सा रे म प म रे सा
नि सा रे म प <u>नि</u> प म रे म रे सा
नि सा रे म प नि सां <u>नि</u> प म रे म रे सा

आवृत्ति के अलावा अर्थ के स्तर पर एक और तथ्य ध्यान देने लायक है। इसमें खंडों (यहाँ एक वाक्य एक खंड) के बीच तार्किक सम्बन्ध न होकर वैसा सम्बन्ध है जो स्वप्न जगत में घटी घटनाओं के बीच पाया जाता है। स्वप्न में घटी घटनाओं के बीच कार्य कारण सम्बन्ध नहीं रहता फिर भी उनमें एक प्रकार का 'संयोजन' अवश्य रहता है। उनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है। खंड यहाँ तार्किक दृष्टि से असंबद्ध होने के बावजूद अन्योन्याश्रित अवश्य हैं। यह सम्बन्ध भी वैसा ही है जो संगीत में सुरों के बीच होता है। संगीत में भी सुरों के बीच तार्किक सम्बन्ध नहीं होता तो भी उनका 'संयोजन' एक विशिष्ट प्रभाव की सृष्टि अवश्य करता है।

आवृत्ति और नियमितता के तत्त्वों से लय की सममिति निर्मित हुई है जो इस उद्धरण को कहानी में विशिष्टता प्रदान करती है। कहानी के मध्य यह अंश कविता का-सा प्रभाव उत्पन्न करता है। कहानी के बाकी अंशों की अपेक्षा इन अंशों की लय धीमी है, जिसके लिए अर्थ का स्तर उत्तरदायी है। ये अंश कहानी में रेखांकित हैं और उस रेखांकन में लय की नियमितता और मन्दता की भूमिका है।

लय की नियमितता इस उद्धरण में भय और अशुभ के एक फैंटेसीयुक्त वातावरण की रचना करती है।

गद्य में लय का अध्ययन : गति के सन्दर्भ में

(क) अर्थ की दृष्टि से : एक अन्तहीन, परिवर्तनहीन धुँधली रोशनी, जो न दिन की है, न रात की है, न सन्ध्या के किसी क्षण की ही है—एक अपार्थिव रोशनी जो शायद रोशनी भी नहीं है; इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा सुनती आई हूँ कि कब्र में बड़ा अँधेरा होता है, लेकिन यहाँ उसकी भी असम्पूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता।

(अपने-अपने अजनबी, पृ. 15, अज्ञेय)

यह स्थल चिन्तनपरक है जिसमें मानवीय मृत्यु की परिभाषा की गई है। समूचा 'अपने-अपने अजनबी' ही चिन्तन के क्रम में रचा गया उपन्यास है। मृत्यु इस कृति में गहन दार्शनिक संदर्भों के साथ पग-पग पर उपस्थित है। अस्तित्व की परिभाषा मृत्यु के बरअक्स ही होगी। उपन्यास के दोनों प्रमुख पात्र योके और सेल्मा मृत्यु के ही सामने खड़े प्रतिक्रिया कर रहे हैं।

उपर्युक्त स्थल पर मृत्यु के जो विशेषण आए हैं उनमें तत्समता के अलावा जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि वे अवस्था की प्रकृति या उसकी पूर्णता/अपूर्णता के बोधक हैं—अन्तहीन, परिवर्तनहीन, असम्पूर्णता, विविधता, विशेष, सम्पूर्ण आदि। किसी मूर्त विशेष्य के साथ इनका प्रयोग अर्थ में मूर्तता लाता किन्तु यहाँ अमूर्त अवधारणात्मक संज्ञा (मृत्यु) को विशेषित करने के कारण अर्थ में कोई मूर्तता नहीं आती। अन्धकार भी है तो वह अपार्थिव है जो अमूर्तता की ओर ले जाता है।

विन्यास के स्तर पर समानान्तरता का गुण यहाँ भी देखा जा सकता है—

- 'न दिन की है, न रात की है, न संध्या के किसी क्षण की है'।
- '...जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है'।

अर्थ के स्तर पर विरोधाभास अलंकार और नकारात्मकता इसका प्रमुख गुण है—

- रोशनी, जो न दिन की है, न रात की है, न सन्ध्या के किसी क्षण की ही है।
- रोशनी जो शायद रोशनी भी नहीं है इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता।
- अँधेरा...यहाँ उसकी भी असम्पूर्णता और विविधता है।

तत्समता, अमूर्तता और विरोधाभास जहाँ उपर्युक्त वर्णन के अर्थ में गाम्भीर्य और लय में धीमापन लाते हैं, वहीं समानान्तर विन्यासों की आवृत्ति इसकी लय में एक तरह की नियमितता। यह एक व्यवस्थित चिन्तनशील मन का चित्रण करता है। अज्ञेय के अपने व्यक्तित्व के अनुरूप।

अज्ञेय का सम्पूर्ण लेखन ही बौद्धिक, गम्भीर और चिन्तनशील है। इनके तीनों उपन्यास शेखर, नदी के द्वीप, और अपने-अपने अजनबी विचारगर्भित हैं। किन्तु लय की दृष्टि से तीनों में पर्याप्त अन्तर है। 'शेखर' में फ्लैशबैक टेक्नीक में स्मृति के रूप में घटनाएँ आती हैं, जबकि 'नदी के द्वीप' में प्रत्यक्ष घटनाएँ आती हैं। स्मृति की अपेक्षा प्रत्यक्ष घटना में तात्कालिकता और तीव्रता होती है। शेखर की अपेक्षा 'नदी के द्वीप' की लय तीव्रतर है। किन्तु 'अपने-अपने अजनबी' ऐसा उपन्यास है जिसमें घटनाओं का अत्यन्त अभाव है। इसके पूर्वार्द्ध में सिर्फ एक घटना है—हिमस्खलन में बर्फ के विशाल ढेर में घर का दब जाना और उसके अन्दर दोनों स्त्रियों का अगले मौसम में बर्फ पिघलने तक के लिए बन्द हो जाना। इसके बाद जो कुछ 'घटता' है वह मानसिक धरातल पर पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया और उनकी सोच। उत्तरार्द्ध की भी एक प्रमुख घटना है—भीषण बाढ़ में पुल के दोनों सिरों का टूट जाना और उसमें कुछ लोगों का फँस जाना। विशाल जलराशि के बीच वह पुल का टुकड़ा किसी भी क्षण गिर सकता है। किन्तु जहाँ पूर्वार्द्ध में मृत्यु की शान्त प्रतीक्षा है वहीं उत्तरार्द्ध में मृत्यु की भयावहता और जीवन का संकट—किसी भी क्षण बाढ़ द्वारा लील लिए जाने का भय। भय और संकट की उस चरम स्थिति में घटनाएँ तेजी से घटती हैं। इसलिए वहाँ लय काफी तेज है।

अज्ञेय के उपन्यासों में लेखक की प्रखर बौद्धिकता को खुलकर खेलने का अवकाश मिलता है। कहानी के सीमित कलेवर के भीतर घटना की उपेक्षा कर केवल चिन्तन को ही प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए उपन्यासों में जहाँ वाक्य प्रायः जटिल, लम्बे और विशेषक संरचनाओं (modifiers) से भरे होते हैं वहीं कहानियों में वाक्य रचना सरलतर होती है। इसलिए इनके उपन्यासों की अपेक्षा कहानियों की लय तीव्रतर है। किन्तु कहानियों में भी लेखक की चिन्तनशीलता की छाप मिलती ही रहती है। 'हारिति' जैसी युद्ध का वर्णन करनेवाली तेज गति की कहानी भी कर्तव्य और रागात्मक सम्बन्ध के बीच के द्वन्द्व को उभारती जटिल वाक्य शृंखला के नमूने प्रस्तुत करती है।

> घरों के दरवाजे बन्द थे, शहर का कारोबार, स्कूल, कॉलिज, दफ्तर सभी ठप्प हो गए थे। सड़क पर चलते आदमी को सारा वक्त इस बात का भास बना रहता कि खिड़कियों के पीछे, मकानों की अँधेरी ड्योढ़ियों, दरारों, छिद्रों में से उस पर आँखें लगी हैं, उसका पीछा किए जा रही हैं। लोग अपने-अपने मुहल्लों में बन्द हो गए थे, केवल उड़ती अफवाहों के बल पर एक दूसरे से सम्पर्क रखे हुए थे। खाते-पीते घरों के लोग अपने-अपने बचाव में उलझ गए थे। सार्वजनिक काम ठप्प हो गए थे। कांग्रेस की प्रभातफेरी और तामीरी काम और सभी काम एक दिन में ठप्प हो गए थे। फिर भी सुबह सवेरे हस्व मामूल जनरल जैसे-तैसे सड़कें लाँघता कांग्रेस के दफ्तर के सामने पहुँच गया था। वहाँ पर ताला चढ़ा देखकर वह पौ फटने तक साथियों का इन्तजार करता रहा, और जब वे नहीं आए तो नाली के ऊपर बने चबूतरे पर खड़ा होकर उसने छोटी-सी तकरीर की और वहाँ से रवाना हो गया।
>
> (तमस, पृ. 126, भीष्म साहनी)

इसमें घटनाओं का अभाव है। घर, शहर, स्कूल, कॉलेज, दफ्तर

बंद हैं, मुहल्ले की गलियाँ सुनसान हैं। फिर भी इस वर्णन की लय धीमी नहीं, तेज है। इसका कारण है कि यह शान्ति सामान्य शान्ति नहीं है, यह तूफान के बीच की शान्ति है। शहर में दंगा फैला हुआ है जिसके आतंक और भय में सब अपने-अपने घरों में दुबके हैं और सब कुछ ठप्प हैं। कुछ भयावह घटित होने की आशंका हर समय बनी रहती है। भय और औत्सुक्य (सस्पेंस) तेज गति के मनोभाव हैं और घटनाहीनता के बावजूद लय को तेज ले जाते हैं।

> बहार फिर आ गई। वसंत की हल्की हवाएँ पतझर के फीके ओठों को चुपके से चूम गईं। जाड़े ने सिकुड़े-सिकुड़े पंख फड़फड़ाए और सर्दी दूर हो गई। आँगन में पीपल के पेड़ पर नए पात खिल-खिल आए। परिवार के हँसी-खुशी में तैरते दिन-रात मुस्कुरा उठे। भरा-भराया घर। सँभली-सँवरी-सी सुन्दर सलोनी बहुएँ। चंचलता से खिलखिलाती बेटियाँ। मजबूत बाँहों वाले युवा बेटे। घर की मालकिन मेहराँ अपने हरे-भरे परिवार को देखती है और सुख में भीग जाती है। ये पाँचों बच्चे उसकी उमर भर की कमाई हैं।
>
> उसे वे दिन नहीं भूलते जब ब्याह के बाद छह वर्षों तक उसकी गोद नहीं भरी थी। उठते-बैठते सास की गम्भीर दृष्टि उसकी समूची देह को टटोल जाती। रात को तकिए पर सिर डाले-डाले वह सोचती कि पति के प्यार की छाया में लिपटे-लिपटे भी उसमें कुछ व्यर्थ हो गया है, असमर्थ हो गया है। कभी सकुचाती सी ससुर के पास से निकलती तो लगता कि इस घर की देहरी पर पहली बार पाँव रखने पर जो आशीष उसे मिली थी, वह उसे सार्थक नहीं कर पाई। वह ससुर के चरणों में झुकी थी और उन्होंने सिर पर हाथ रखकर कहा था, बहूरानी, फूलो फलो। कभी दर्पण के सामने खड़ी-खड़ी वह बाँहें फैलाकर देखती—क्या इन बाँहों में अपने उपजे किसी नन्हे-मुन्ने को भर लेने की क्षमता नहीं?
>
> (दादी अम्मा, कृष्णा सोबती)

यह भी स्थिति का ही वर्णन है। इसमें एक अवस्था है—बहू की गोद सूनी होने की। कोई घटना इसमें वर्णित नहीं हुई है। लेकिन बहार 'आ गई' है, वसंत की हवाएँ 'चूम गई' हैं, पंख 'फड़फड़ाए', सर्दी 'दूर हो गई', पत्ते 'खिल खिल आए' हँसी खुशी में 'तैरते दिन' 'मुस्कुरा उठे' घर की मालकिन मेहराँ सुख में 'भींग जाती' है, सास की कठोर दृष्टि उसकी देह को 'टटोल जाती' है आदि गत्वर क्रिया प्रयोगों के सहारे लेखिका एक गतिशील वातावरण का निर्माण करती है। बहार का आना, सर्दी का दूर होना कोई तेज क्रियाएँ नहीं हैं, ये अवस्था-परिवर्तन हैं जो धीरे-धीरे घटित होते हैं। इसके आगे भी 'व्यर्थ हो गया है', 'असमर्थ हो गया है', 'सार्थक नहीं कर पाई', झुकी थी', 'कहा था' के उदाहरण हैं। 'खिलखिलाती बेटियाँ' में 'खिलखिलाती' का कृदंत गतिपूर्ण है। बाहर प्रकृति में वसंत है, नए जीवन की गतिविधि है, उसके असादृश्य (contrast) में बहू की गोद सूनी है। इस सूनेपन और अभाव की अवस्था का निरूपण गतिपरक, स्पंदनपूर्ण तत्त्वों के सहारे होता है। लय स्वभावतः, इस कारण, तेज है।

लेकिन यह तकनीक सब समय काम नहीं करती। कृष्णा सोबती के 'सूरजमुखी अँधेरे के' उपन्यास के आरम्भ का यह अंश देखें :

> आसपास चलते लोगों से बेखबर रत्ती बर्फ को रौंदती आगे बढ़ती चली। चाल में अजीब वहशीपन था। तेजी थी। दस्तानेवाले हाथ कभी कोट की जेब से बाहर जाते और बालों को सख्ती से तरेरकर वापस पॉकेट में चले जाते।
>
> बर्फ के जूते पाँव तले बिछी सफेदी पर ब्लॉक के ठप्पे की तरह पक्के निशान ठोकते चले—छप्प... छप्प... छप्प। सड़क के साथ-साथ ठंडी मरी लकड़ी के जंगले को बर्फ की तह ने ढाँप रखा था।
>
> अचानक मोड़ पर ठिठककर रत्ती ने घड़ी देखी। छह। आँखों में खूँखार बेबसी की लपक कौंधी, पर पाँव रुके नहीं।
>
> सालों पुराना दिन। सालों पुरानी शाम। वही बर्फीली सर्दी।
>
> गले में उठता धुआँ लम्बी साँस से रत्ती ने अन्दर खींच लिया कि किसी काली परछाईं ने झपट चेहरे को काला कर दिया।
>
> रत्ती ने होंठों को मरोर दे मानो अपने से वायदा किया हो कि वह रोएगी नहीं।
>
> दूरी को फलाँगती रत्ती हवाघर के पास जा पहुँची। गुम्बद की गोलाई और गोलाई से सटा रेलिंग। फिर एक छोटी सी सीढ़ी। वही सीढ़ी।
>
> रत्ती ने ऊपर कदम रखा और हाथ फैला रेलिंग को भींच लिया।
>
> झपटता। पटकता। वही हाथ!
>
> नहीं...नहीं...यह जगह वह नहीं। नहीं हो सकती। नहीं...

सहसा एक तीखी सहम ने रत्ती की देह को ऐंठ दिया। दोनों ओर के उभार ऐसे तन गए कि किसी ने पंजों तले जकड़ लिया हो।

रत्ती ने बेबसी से रेलिंग पर माथा झुका लिया। इस लड़की को एक बार भी समूची औरत बनने क्यों नहीं दिया गया? क्यों...

कृष्णा सोबती के पूर्ववर्ती उदाहरण की अपेक्षा इस कथांश में केवल स्थिति ही नहीं बल्कि सामान्य हरकतों को भी रफ्तार और तीव्रता में प्रस्तुत किया गया है—रत्ती हाथों से बालों को 'तरेरती' है, वह आँखों में 'खूँखार बेबसी' की लपक लिए है, होंठों को मरोर दे अपने से वादा करती है, एक तीखी सहम उसकी देह को ऐंठ देती है आदि। वास्तविक गति इन क्रियाओं में है—बर्फ को 'रौंदती', दूरी को फलाँगती, हाथों को झटकती-पटकती चली जा रही है, हाथ फैला रेलिंग को भींच लिया। ये भी अधिकांश में सामान्य हरकतों का त्वरित वर्णन हैं। ये सब उसके मनोमस्तिष्क में उठे तूफान का पर्याप्त संकेत करते हैं। तुरन्त-तुरन्त अनुच्छेद परिवर्तन अस्थिर क्षुब्ध बेचैन मन का प्रभाव पैदा करता है। पूरे उद्धरण में बाह्य भौतिक स्तर पर घटी घटना—रत्ती रास्ते से चलती अन्ततः एक रेस्तराँ जाती है—उसे कृष्णा सोबती अपनी ट्रेडमार्क तकनीक से यूँ प्रस्तुत करती हैं मानो तूफान गुजर रहा हो। वर्णन की लय में क्षिप्रता का गुण अत्यन्त ही स्पष्ट है।

स्मृति में ही प्रत्यक्ष किए गए तीव्र संवेग का निम्न दृश्य कृष्णा सोबती के उपर्युक्त उदाहरण के विपरीत हमें दूसरे निष्कर्ष की ओर ले जाता है :

"किन्तु इसके आगे वह कुछ नहीं सुन सका : गिलास गिरने की आवाज... और दूसरे क्षण उसे बिट्टी की लपट-सी फूत्कारती आवाज सुनाई दी, पागल-सी बेतहाशा एक ही वक्य को दुहराती हुई—"get out of here, get out of my house, get out, get out, get out..." और वह झटाक से उठ बैठा—डैरी बार-बार अपने को बचाने के लिए उसका हाथ पकड़ने की कोशिश करते थे किन्तु हर बार बिट्टी हाँफती हुई पीछे हट जाती थी जैसे कोई कोढ़ी उसे छू रहा हो—"don't touch me, don't you ever dare to touch me..." और डैरी सचमुच डरकर पीछे हट जाते और उनके पीछे हटते ही बिट्टी दुबारा उनपर झपट पड़ती, उसके बाल खुलकर डैरी पर गिरने लगते, उनके चेहरे, आँखों को छिपा लेते और बिट्टी की दबी भर्राई आवाज हवा में उठकर फिर थरथराने लगती...'get out, get out of this place, get out..."

(एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, पृ. 109 पृ. 110)

यह तेज संवेग और ऐक्शन का दृश्य यहाँ भी है। "get out, don't touch me" की आवृत्ति, आवृत्तिमूलक क्रिया (दुहराती हुई) एवं क्रियाविशेषण (हर बार, बार बार); तीव्र गतिसूचक क्रियाएँ एवं क्रियाविशेषण (बेतहाशा, झटाक से) आदि के कारण इसकी लय में त्वरा और नियमितता का गुण स्पष्ट है।

लेकिन इस उद्धरण में उल्लेखनीय बात दूसरी है : संवेग और ऐक्शन का यह दृश्य द्रष्टा के रूप में उपस्थित पात्र मुन्नू की स्मृति में आया है जो स्मृति के माध्यम से बीते अनुभव को पुनः जी रहा है। यह अतीत की घटना पर वर्तमान में प्रतिक्रिया नहीं है। इसमें अतः यह प्रसंग वास्तव में उत्कट संवेग नहीं, उत्कट अनुभूति का उदाहरण है। इसमें तात्कालिकता नहीं है क्योंकि घटना अतीत में घटी। अतीत को बहुत हद तक प्रत्यक्ष कर सकना सम्भव है, पूरी तरह नहीं। जिस हद तक सम्भव है उस हद तक निर्मल वर्मा ने किया है। इस कथांश में लय और अर्थ का सुन्दर तादात्म्य है। निर्मल वर्मा अनुभूति के कथाकार हैं। उनमें ज्यादातर स्मृति के रूप में स्थितियों का वर्णन है, घटनाओं का अभाव है।

(ख) संरचना की दृष्टि से : यह पहले कहा जा चुका है कि जटिल संरचनाओं की अपेक्षा सरल संरचनाएँ तेज लय प्रस्तुत करती हैं। लम्बे वाक्यों में अर्थ के तत्त्व अधिक परिमाण में समाहित होते हैं इसलिए पाठक से अधिक ध्यान की माँग करते हैं जिससे लय धीमी होती है। यहाँ हम इसका एक विपरीत उदाहरण लेंगे :

I. वह शायद कुछ कहना चाहते थे किन्तु उन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा था (कि) कैसे अपनी पीड़ा के दलदल से उबरकर उस दायरे में जा सकें जहाँ बिट्टी थी...

यह पूरा एक वाक्य है लेकिन निर्मल वर्मा में यह स्वतंत्र जैसे प्रतीत होनेवाले चार टुकड़ों में विभाजित।

II. "वह शायद कुछ कहना चाहते थे। किन्तु उन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा था, कैसे अपनी पीड़ा के दलदल से उबरकर उस दायरे में जा सकें, जहाँ बिट्टी थी..."

(एक चिथड़ा सुख, पृ. 87)

टुकड़ों को स्वतन्त्र और विराम चिह्नों से एक-दूसरे से दूर कर देने के कारण वाक्य की संरचना में शिथिलता आ गई है। इसलिए छोटे टुकड़ों में यह विभाजन लय को तेज नहीं करता। पहले रूप I में टुकड़े मजबूती से एक-दूसरे से बँधे हैं इसलिए लय के प्रवाह को अबाध रखते हुए उसे तेज ले जाते हैं। II की

ढीली-ढाली शिथिल संरचना लय को धीमी करती है।

एक और उदाहरण :

"वे लोग; इरा और नित्ती भाई? विट्टो की आँखें ऊपर उठीं, एक अजीब हताशा में। सब चल सकते हैं; चल रहे हैं, न तुम उन्हें रोक सकते हो, न वापिस अपने पास बुला सकते हो। वापिस, अपने पास..."

इसमें वाक्य न केवल छोटे हैं, बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ों (वृहत्खंडों) में विभाजित भी हैं :

वे लोग → इरा और नित्ती भाई ↑ विट्टो की आँखें ऊपर उठीं → एक अजीब हताशा में ↓ सब चल सकते हैं ↓ चल रहे हैं ↓ न तुम उन्हें रोक सकते हो → न वापिस अपने पास बुला सकते हो ↓ वापिस ↓ अपने पास ↓

निर्मल वर्मा में प्रधानता ऐसे ही विन्यासों की है : छोटे-छोटे स्वतंत्र जैसे टुकड़ों में विभाजित वाक्य। उनके गठन में शिथिलता और कसावट का अभाव है। दरअसल विराम चिह्नों का प्रयोग उन्होंने व्याकरणिक आवश्यकता से कम, यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने की आवश्यकता (तार्किक आवश्यकता) से अधिक किया है : जैसे, उनका ध्यान इस बात पर कम रहता है कि व्याकरण की दृष्टि से वाक्य पूर्ण हो चुकने के बाद पूर्णविराम डाला जाए। वे ऐसे पूर्ण वाक्यों को भी चेतना में उनकी एक साथ उपस्थिति दर्शाने के लिए उन्हें अल्पविराम, अर्द्धविराम या सातत्य एवं दूरीबोधक चिह्न..." द्वारा एक साथ रख देते हैं। ऊपर 6, 7, 8 एवं 9 के उद्धरणों में एक और बात देखने लायक है : वाक्य खंडों के बीच अधिकांशतः समवर्गीयता (co-ordination) का सम्बन्ध है, आश्रयत्व (sub-ordination) का कम। यह उनके कथात्मक गद्य की सामान्य विशेषता भी है। आश्रयी योजक सम्बन्धात्मक होते हैं, इसलिए स्मृति में सहज टिके रहते हैं। इसके विपरीत समवर्गीय सम्बन्ध से जुड़ा हर टुकड़ा समान महत्त्व रखता है और पाठक से बराबर ध्यान की माँग करता है, इसलिए स्मृति पर बोझ डालता है और लय को धीमा करता है।

चेतना में उपस्थिति—एक साथ, पूर्वापर क्रम से रहित। वैसे ही जैसे चित्र में फ्रेम में सारी चीजें एक साथ उपस्थित होती हैं। निर्मल वर्मा पर चित्रकला का गहरा प्रभाव है। वे अपने निबन्धों में भी इस बात की चिन्ता करते दिखते हैं। भाषा एक रेखीय या क्रमबद्ध संरचना है। इस क्रमबद्धता की सीमा के रहते जितनी दूर संभव है वे चेष्टा करते हैं कि सारी चीजें एक साथ फ्रेम में उपस्थित हों। अर्थ के स्तर पर भी घटनाओं के कालक्रम की चिन्ता वे नहीं करते। इस कारण, स्वभावतः उनमें औत्सुक्य (सस्पेंस) का अभाव है। संरचना के स्तर पर यह तथ्य अनुच्छेद एवं इससे बड़ी इकाइयों, जैसे, प्रसंग, के बारे में भी सत्य है। यदि उनके क्रम में उलटफेर कर दिया जाए तो भी बहुत फर्क नहीं पड़ेगा क्योंकि उसकी चिन्ता 'सबकुछ एक साथ' की है। यह बात उपन्यासों पर विशेष रूप से लागू होती है। अज्ञेय ने इसे ही चीजों का 'क्रमहीन सहवर्तीत्व' कहा है। संरचना के स्तर पर कसावट का अभाव और अर्थ के स्तर पर चीजों का 'क्रमहीन सहवर्तीत्व' ये निर्मल वर्मा की कृतियों में लय अत्यन्त धीमी होने के सबसे बड़े कारण हैं।

लय एवं अर्थ का तनाव

हमने ऊपर कहा था कि भाषा की एक अपनी लय होती है जो व्यक्त घटना या व्यापार की लय से अलग होती है। किन्तु इससे अलग एक और स्थिति हो सकती है—जहाँ अर्थ और लय दोनों में ही नियमितता या त्वरा मन्दता के मामले में अनुकूलता होने के बावजूद संघर्ष की स्थिति हो। इसे हम निम्न उदाहरण से स्पष्ट करेंगे :

...आग की लपटें उठने लगीं।

एक काला, माथे पर तिलक लगाए, काली तितली की मूँछवाला वनमानुष उस लपट की रोशनी में कौंधा :

ओमू! भूः स्वाहा, इदमग्नये नमम्! ओम् भूः स्वाहा, इदं वायवे नमम्! ओम् भूः स्वाहा, इदं ब्राह्मणे नमम्!

वह डरावना गोरिल्ला मंत्र पढ़ रहा था और आग में कुछ झोंक रहा था, जिससे आग की लपटें और भी बढ़ने लगती थीं।

वे सब लोग उस जलती हुई अग्नि के चारों ओर एक घेरे में बैठ गए थे। उन्होंने बंदूकें, छुरे, तलवार और लाठियाँ नीचे रख दी थीं और पता नहीं कहाँ से सबके हाथों में एक-एक किताब आ गई थी।

ओम् भूः स्वाहा, इदं...नमम्!

राहुल ने देखा कि उनमें से एक के हाथ में ऋग्वेद था, जिसका पन्ना फाड़कर उसने उस आग में डाला... स्वाहा!

दूसरे ने जिस किताब के पन्ने आग में झोंके वह मार्क्स का दास कैपिटल था।

ओम् भूः स्वाहा, इदं नमम्!...

एक के हाथ में गांधी का वांगमय था।

ओम्...भूः...स्वाहा...

फिर लोहिया, नरेन्द्र देव, बौद्ध ग्रन्थ, बाइबिल, कुरान शरीफ... सभी के पन्ने उस आग में झोंके जाने लगे।...

ओम् भूः। ओम् भूः स्वाहा! स्वाहा! स्वाहा!

आग की लपटें कंपार्टमेंट की छत को छूने लगी थीं। ऊपर के बर्थ में सोये हुए लोग उतर-उतरकर भाग रहे थे।

पीछे ए.के. 47 लिए हुए कमांडोज खड़े थे।

और तभी राहुल ने देखा कि वह मोटा सा तुंदियल, डरावना, कामुक, गुंडा, दलाल और अमीर लगता आदमी उठ खड़ा हुआ... उसने अपने सेल्यूलर फोन पर कोई नम्बर पुश किया और बोला,

'हेलो, हेलो! आयम निखलाणी हियर...! स्पीकिंग ऑन बिहाफ ऑफ दि आई एम एफ! गेट मी टु दि प्राइम मिनिस्टर...ओ.के....! आस्क हिम टु कॉल मी बैक ऑन मोबाइल!'

उसने अपना सेल फोन ऑफ किया और फिर उसने नीचे पड़ा बड़ा-सा गंडासा उठाया और धीरे-धीरे राहुल की ओर बढ़ा!

ओम्! भूः स्वाहा... इदं न...मम्! स्वाहा!

राहुल को उसके बर्थ नम्बर 42 पर चार गुंडों ने दबोच रखा था। उस मोटे आदमी ने गंडासा ऊपर उठाया...

राहुल स्तब्ध रह गया। वह परशुराम था। बर्बरता और हिंसा से भरा... उसका गंडासा खून से सना था। इसी से उसने अपनी माँ का सिर धड़ से अलग किया था। लेकिन उसके दस सिर थे। नहीं, वह रावण था...

लेकिन उसकी नाक के नीचे काली तितली बैठी हुई थी...माथे पर तिलक था...।

(पीली छतरीवाली लड़की, उदय प्रकाश, पृ. 154-155)

निर्मल वर्मा के पूर्ववर्ती उदाहरण 'डायरी का खेल' की तरह यह भी एक दुःस्वप्न का दृश्य है। लेकिन इसमें डर और आतंक का संवेग काफी गहरा है। इसमें हिंसा और रक्तपात है। कहानी का प्रमुख पात्र राहुल अपने मित्रों की मदद से अंजलि के साथ भाग रहा है। पकड़ लिए जाने का भय उसका पीछा कर रहा है। हॉस्टल में बिताए गए भयावह जीवन का आतंक उसके अवचेतन पर हावी है। मरणांतक भय, तेज दृश्य परिवर्तन, तीव्र गति की घटनाएँ आदि अत्यन्त तेज लय उत्पन्न करती हैं। उदाहरण 1 के स्वप्न दृश्य में वाक्य सुगठित है जबकि इसमें विशृंखल विन्यास हैं। निर्मल वर्मा के अभी उद्धृत उदाहरण में वाक्यों को टुकड़ों में तोड़ने की अपेक्षा इसमें वाक्यों का अनुच्छेदों में जल्दी-जल्दी विभाजन है। *'ओम्! भूः स्वाहा...'* की बार-बार आवृत्ति इसकी लय में उच्च संवेग के अनुरूप नियमितता का भी संचार करती है। अलंकार और लाक्षणिक प्रयोगों के बावजूद लय काफी तेज चलती है। इस प्रकार यहाँ अर्थ और अभिव्यक्ति दोनों ही तेज लय के अनुरूप हैं।

लेकिन उपर्युक्त कथांश की तेज लय एक तरह का संघर्ष पैदा करती है। यह अत्यन्त संदर्भगर्भी प्रतीकों और दृश्यों से भरा पड़ा है। पाठक को लौट-लौटकर उन सन्दर्भों और मिश्रणों को समझना पड़ता है। एक ही चेहरे में कम्प्यूटर की सुपरइम्पोजिशन तकनीक की तरह कई चेहरे आरोपित होते हैं। ब्राह्मणवाद, फासीवाद, बाजारवाद, भोगवाद मिथकीय चरित्र, मूल्यहीनता आदि सबकुछ मिलकर उस चेहरे का निर्माण करते हैं। *एक काला, माथे पर तिलक लगाए, काली तितली की मूँछवाला वनमानुष'* में ब्राह्मण के चेहरे पर हिटलर का चेहरा सुपरइम्पोज्ड है। वही 'मोटा सा तुंदियल, डरावना, कामुक, गुंडा, दलाल और अमीर लगता आदमी' निखलाणी बन जाता है। वही हत्याकांड का मंत्रपाठ करता है, वही ऋग्वेद, लोहिया, नरेन्द्र देव, बौद्ध ग्रन्थ, बाइबिल, कुरान शरीफ के पन्ने जलाता है। वही परशुराम दिखता है जिसके गंडासे पर माँ की हत्या का खून लगा है। वही रावण है जिसके दस नहीं एक सिर है। वह निरा भोगवादी है, क्रूर है, अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखने के लिए उसे हत्या, षड्यंत्र किसी चीज से गुरेज नहीं। जादुई यथार्थ की इस तकनीक में लय वृत्त की तरह बार-बार लौटकर आता है। इस उपन्यास की कहानी में चरित्र ही नहीं, इस तकनीक से घटनाएँ भी एक-दूसरे पर आरोपित होती चलती हैं। सापाम की हत्या में ही चैतन्य महाप्रभु के माथे पर गोली लगने की काल्पनिक घटना सुपरइम्पोज्ड है। उपन्यास में कितनी ही बार एक वास्तविक घटना एकदम से किसी दूसरी ऐतिहासिक, मिथकीय या काल्पनिक घटना में बदल जाती है।

लय के मामले में लेखकीय मुद्रा भी एक हद तक भूमिका निभाती है। निर्मल वर्मा की सारी कहानियों-उपन्यासों में लेखकीय मुद्रा शान्त और असंपृक्त होती है जबकि उदयप्रकाश में संपृक्त और संवेगयुक्त। पीली छतरी में लेखक का आक्रोश पग-पग पर दिखता है। स्वाभाविक है कि उदयप्रकाश की कृतियों में लय तेज हो। 'पीली छतरी' उदयप्रकाश के कृतित्व के अन्दर भी सबसे तेज लय रखने वाली कृति है। इसमें न केवल घटनाएँ स्मृति के रूप में आने की बताया प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में आई हैं। बल्कि वे तेजी से घटी भी हैं। जहाँ लेखक व्यक्तिगत स्मृति को दूर और तटस्थ भाव से देख सका है, जैसे तिरिछ, नेलकटर, वहाँ लय में गाम्भीर्य और मन्दता है।

इस तरह हम देखते हैं कि लय अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। प्रमुखतः उक्ति के उच्चरित रूप से सम्बन्धित होने के बावजूद यह केवल शिल्प या संरचना का मामला नहीं है। यह सदैव अर्थ के स्तर से संचालित निर्देशित और निर्धारित होता है। किसी घटना या व्यापार के चित्रण में तदनुरूप उसकी लय भी न्यस्त होने पर ही उपयुक्त प्रभाव की सृष्टि हो पाती है।

गद्य की लय अगर अनियमित होती है तो उसका एक दूसरा पहलू यह है कि रचना में कथ्य के अनुरूप उतार-चढ़ाव होता रहता है। भाषा की एक अपनी लय होती है। लय का अर्थ के साथ एक तनाव का रिश्ता भी हो सकता है जहाँ लय की आगे बढ़ने की माँग और अर्थ के स्तर की ठहरने की आवश्यकता के बीच संघर्ष हो।

चन्द्रकान्त देवताले

कविताएँ

निगरानी रखने का समय

जितनी दूसरों पर नहीं
उससे कहीं अधिक खुद पर
निगरानी रखने का यह समय
वैसे नहीं जैसे दूसरे रख रहे तुम पर

इस दरकते-फिसलते दौर में
तस्वीरें ली जा रही सब कुछ की
दर्ज हो रही हर आवाज
खाते-खाते भी जो तुम सोच रहे
या देख रहे तुम सपने में
दुश्मन सब कुछ का खुलासा कर देंगे
एक्सरे और रेकार्ड के साथ
सबूतों के भाव चाट रहे हैं धूल
और मारे जा रहे
कीड़े-मकोड़े चिऊँटियाँ बेकसूर

तुम्हीं तो पूछ रहे थे न
एक शहीद की प्रस्तर प्रतिमा से
सठिया गई है क्या स्वतन्त्रता?

शायद नहीं दिखें
पत्थर आँखों में जम गए आँसू
पर चारों तरफ तो देख सकते
पूँजी-मंडी में कैसे
मुस्काते फोटु खिंचवाते
नष्ट हो रहा विवेक
बिक रहा कौड़ी के भाव ईमान
और करोड़ों ने सार्वजनिक रूप से
जिन्हें बनाया था अपने
सुख-चैन के लिए सारथि
जनता–रथ छोड़ वो सब
हवाई जहाजों से कुनबे समेत
सौदा करने जा रहे विदेश

हाँफ रही कविता
कितना कर सकती है छातीकुट्टा
कह रही बार-बार निगरानी रखो
जैसी दुश्मन पर वैसी ही खुद पर
चुटकी भर अमरता-खातिर
विश्वासघात न हो जाए
अपनी भाषा, धरती और लोगों के साथ

'सृजन-अनुष्ठान' टेंट हाउस

शहरों ही नहीं कस्बों तक में
'सृजन-अनुष्ठान' टेंट हाउस
पुस्तक छपवाने–लोकार्पण–भोजन–सत्कार
से लेकर बिकवाने तक का ठेका
हाथों-हाथ हाटों तक में
सम्मानित करने के आयोजन

फिर सभी अखबारों में गारन्टी
फोटो-समाचार की
होड़ बेहद सम्मानजनक
छवि-निर्माताओं और छवि-कामियों के बीच

ऐसे में वे भी लुत्फ उठाते
जो दर्शक-श्रोता-वाचक जैसी श्रेणी में आते
और भिन्न-भिन्न वजहों मौजूद रहते
हर सभा-भवन में

बुजुर्ग तीन-चार बतियाते
आ पहुँचे उसी अहाते में
जहाँ एक बड़े स्क्रीन बोर्ड पर
हो रहा था भीतर का पर्दाफाश

प्रशंसकों की लफ्फाजी सुन
हँस रहे थे कंकड़-पत्थर तक
ये भी तकने लगे
पर टिका नहीं पाए नजरें देर तक
बोला एक–जो दिखाई दे रहा
कितना हास्योत्पादक है
कहा दूसरे ने–जो नहीं दिखाई दे रहा
वह और भी फूहड़ होगा
तीसरा बोला छाती पर धर हाथ–
भैया सच कहता हूँ अब तो
अपना जी घबराता है फोटु खिंचवाने से
चौथे की निकली आवाज
कितनी तोड़-फोड़ मची हुई भाषा के घर में

भीतर गड़गड़ाहट तालियों की
और ये त्रस्त दृश्य और शर्मिन्दा मंचासिनों से
हाथों में थामे हाथ खिसक लिए
किंचित-हँसते हुए...

कहाँ हम...कहाँ होने का वक्त

कोई नहीं जानता
कहाँ होने का है यह वक्त
पर अभी कोई नहीं है अपने घर में

बात करना हो तो पूछना पड़ता है–
"कहाँ हो भइया"–
कोई एयरपोर्ट पर बताता
कोई ट्रेन, बस में
पहुँचे हुओं में कोई कहता–
अभी शिमला में हूँ
दूसरा वाराणसी में
तीसरा होता सेमिनार में
चौथा मंच पर होगा कहीं
माइक के सम्मुख इसलिए
उसका जवाब नहीं आता

किन्तु आज अभी कवि मित्र की
प्रबुद्ध पत्नी ने
उकसा दी है मेरी टिमटिमाती लौ
पूछने पर बताया–
आप तो जानते ही हैं भाई साहब
यही तो सीजन है
एक पाँव सफर में रहता है इनका
दूसरा समारोहों में
वक्त ही टूट पड़ा है ऐसा

वैचारिक संघर्ष से जूझ रहे सब
बैठे रहेंगे हाथ पर हाथ धरे
तो न कुछ बदलेगा
न कोई इनको पूछेगा
सुबह ही निकले हैं
मैंने कहा—बजा फरमा रहीं आप

फोन रख सोचने लगा
फायर ब्रिगेड दस्ते की तरह
तैयार रहना ही चाहिए
फिर सोच को पंक्चर किया एक कील ने
अक्सर क्यों पहुँचते हैं वहाँ
जहाँ पान-खान की व्यवस्था सहित लहराता है
छायादार-उत्सव का सरोवर

असल जगह भी हम पहुँच पाते हैं क्या?
कब पहुँचेंगे?

एफ 3/7, ऋषिनगर, (माधवनगर), उज्जैन-456010 (म. प्र.)

मलय

सोचता है उसे दिखता है!

1.
अपने अन्दरूनीपन में भी अनूठा
पूरा विकल और बेचैन आदमी
भीतर बाहर को जान लेना चाहता है
दूर तक इतना विस्तृत
उसकी सक्रियता की इतनी व्यापकता
इतनी दौड़-धूप
पाने के निश्चय का इतना शान्त निनाद
अपनी उत्कंठा को पूरी कर
ब्रह्मांड की नागरिकता सम्भव कर लेने में
शताब्दी के समय के आर-पार
निरन्तर रत रहना चाहता है

दिखता है
और पूरी तरह देखा नहीं जा सकता
उसे ही
विशाल दूरबीनों में से
दरख्वास्त करता है
दूरी को खींचकर भी लाता है
खगोल के देहरी और दरवाजे
तलाशने तत्पर हो जाता है
अपने हाथों को लम्बा कर पाता है
पसारता है
प्रकृति के नियमों से ही
उसी को नाथकर आगे बढ़ जाना चाहता है
अपनी सोच के अहमियत के
राज खोलने के लिए जो पाता है तो थपथपाता
नहीं तो निपटता भी है
दिल और दिमाग से दुरुस्त
मुश्किलों की कीच से भी रास्ता निकालता है

2.
कुछ साल पहले
चन्द्रमा को उसकी चाँदनी से उघारकर
अकेला देखा और
खुद ही ज्योति का कीर्ति स्तम्भ हो गया
आखिर कहीं से कुछ टपक नहीं आया
हाथ नहीं लग गया
वैज्ञानिक विधि की दक्षता से पदार्थों की
हजार-हजार पर्तों को भेदकर
उसकी वास्तविकता चीन्हकर
आविष्कारों के वांछित पंखों को
उगा लिया करता है

आज से 20 वर्ष पहले उसने
हबल स्पेस टेलिस्कोप' क्या रचा
लगातार फैलते ब्रह्मांड को
देखकर हतप्रभ हो गया
और तारों के बीच की दूरियाँ
नापने की सिफत में जरा नहीं चूका

3.
क्या मनुष्य
खगोलीय समझ के पानी के अन्दर
घुटुअन-घुटुअन गहराई में

उतर चुका है और
अपार-फैलते असीमित समुद्र को
आगत शताब्दियों के दौरान
थाह लेना चाहता है
भेदों को भेदकर
गतिमय सन्धान से
अर्जित कर लेना चाहता है
अपनी तरह के व्यक्तित्व का अपना विराटत्व
वह ब्रह्मांड के सौर मंडलों के बीच
अबाध गति के पुल हो जाना चाहता है
जीवित ग्रहों की अजानी सम्पन्नता से
जुड़ना चाहता है
धरती पर मृत्यु से निडर सा यह
किंचित से भी अधिक क्षुद्र मनुष्य
अपनी आँख खोलकर
जैसे ब्रह्मांडीय कुएँ में कूदकर
उठती लहरों से उसे हिला देना चाहता है
मन माफिक तैर जाना चाहता है

ऐसे अस्तित्व की चुनौती में
एक नहीं
बढ़ते सवाल असीमित अनजाने हैं
कितने?
पर अपनी तत्परता में हार नहीं मानता!

कुछ इसे
सनक भरी वांछा कह सकते हैं
इस अनजानी अजीब सी हसरत से सराबोर आदमी
दुर्दम्य दूरियों तक जा धमकेगा
फिर क्या कभी लौटेगा, अपनी इस धरती पर
'आकाश गंगा' से जल लेकर?

4.

अपनी प्रयोगशालाओं में से
सौर मंडल में
उपग्रहों, ग्रहों के पास तक
गणित से दौड़ लगा सकने में पारंगत
बहुत दूर से आती आहटें
शायद किन्हीं ओंठों से बुदबुदाई
ध्वनियों की रेडियो तरंगों की सूचनाएँ
पढ़ता है और छै अक्षरों में लिखता है—
'वोवें' रेडियो सिग्नल्स"
आते हुए
दो सौ प्रकाश वर्ष दूर से—
जान लेना चाहता है
व्यस्त है
रंच मात्र फुरसत नहीं है उसे
चढ़ लेना चाहता है, बढ़ती उमंग से
असम्भव की सीढ़ियाँ
मन सुलझी-समझ में विराटता की गूँज से
थर-थराता सा
अन्दर से हिल-हिलकर
अपने हौसलों में
अपनी बुलन्दी पर
बढ़ता ही जाता है!

लगता है धरती पर वैज्ञानिक
लेबोरेट्री के घोंसले में रहकर
खोज और अन्वेषण का पक्षी हो गया है
उसकी जिज्ञासा के ज्योति पंख
पसरते हैं पसरते ही जाते हैं
उड़ने को उड़ते हैं
दूसरे सारे संजाम उसकी अक्ल के जुड़ते-जुगाड़
सफल होते आते हैं
हर समय दौड़ जाने
मन के तैयार घोड़े कसे हुए खड़े हैं

आखिर यह कैसी उत्सुकता
इतनी अबाध सम्भव की घंटियाँ
धातु में ढलने से पहले ही
बजती हैं
या हलचल में लीन हैं
पूरी रोमांचित उमंग
चढ़ते उत्साह में
आकाश की सीढ़ी हो जाती है

5.

अपनी ही धरती पर
मनुष्य होते जाने की यात्रा
आज से 20 लाख साल पहले शुरू हुई

धुर अमीबा से विकसित हुए आदमी ने
शुरू में पत्थरों को घिसा
उन्हें वांछित आकार दिया
आग को ढूँढ़कर
बाहर निकालकर सहेजा—उसे साथ रखकर जीना शुरू किया
इस ताप ने ही उसकी
तासीर बदल डाली
फिर बिखरी हुई ध्वनियों को कानों से परखा
जुबान से बीनकर
मन को हिलोरतीं
बोलती भाषाएँ रच डालीं
उन्हें
राख और बालू पर, पत्थरों पर, छाल पर, भोजपत्रों पर
रेखाओं में पकड़ना शुरू किया
रेखती पहचान के घरौंदे
सौंप दिए उसने भाषाओं को
इस तरह लिपियों से भरे
गाँव के गाँव ग्रन्थ हो गए
पुस्तकों में समाते हुए
जीवन के जाग्रत आख्यान
इस तरह बचा लिए गए
विगत लाख पूर्वजों की पीढ़ियों के लिए
प्रकाश पैदा करते दमकते रत्न!
ये अपनी कर्म आभा के मनुष्य कृत प्रयत्न

बहुत-बहुत पहले मनुष्य
दिन में पेड़ जैसा ही सूर्य की धूप से नहाया
रात में चमकते तारों ने खूब-खूब मोहा
और उसे तरसाया खूब!
पर हार जाना उसने नहीं सीखा
हमारे ही प्रपितामहों ने
आज से छह हजार साल पहले
ग्रहों की गति के परिवेश में
आकाश के सत्ताईस नक्षत्रों को
अपने से जोड़ा
और उनके साथ के लिए
बेबीलोन से बारह राशियाँ ब्याह कर ले आए

चुनौतियों से भरे हुए कठोर जीवन में
चार कदम आगे
हर बार बढ़ने की कोशिश की उसने
उसकी कर्मठता को आँच नहीं आई
अवरोधों से कभी नहीं हारा
समुद्रों को पार किया
आकाश को लाँघने में
पक्षियों को बहुत पीछे छोड़ा
अपनी पुख्ता पहचान में मनुष्य
धरती पर से
ऊपर उठता ही गया
और अपने अनुभूत्य ज्ञान के रुआब में
क्या से क्या होता गया?

6.

आदमी यदि समझदार आदमी की तरह
आचरण करता है
पेट भर भोजन का जुगाड़ कर लेता है
पास पड़ोस को भी अपना समझता है
बढ़ती योग्यता में उठता हुआ
पढ़ा-लिखा है, शिक्षित है—सही
खुद अपने को दूसरों से
छोटा समझता है
वास्तव में दायित्व का अंजन उसकी आँखों में अँजा है
दम्भ की रेखा भी छू नहीं गई है
आत्मा के आकाश पर
वैज्ञानिक विवेक का
सूरज उगा हुआ रहता है
रात में आकाश के तारे तोड़ने का
पूरा हक उसका ही बनता है
वह चाहे जब जैसे भी
'फुर्र' होकर उड़ने वाली
उम्र की भी फिकर नहीं करता!
उसकी राकेट को उछालने की उत्कंठा में
दूर तक जाना सम्भव कर पाने
जा धमकने की आकांक्षा को
या ब्रह्मांड से जुड़ने की जुर्रत को
कौन रोक सकता है!
आखिर रोकेगा क्यों?

7.

इस दूर दृष्टि के गहराते

विज्ञान सरोवर में
नहाकर जब निकलेगा
तब कैसा हो जाएगा मनुष्य!
शताब्दियों में उड़ने के पंख पुष्ट कर लेगा?
दमकेगा समय भी सूर्य जैसा
कौन-सी शताब्दी में
चन्द्रमा-सा शीतल होगा मन
अपनी मन्दाकिनी में पहुँचकर
जिसके अरबों सौर मंडल हैं
सौ अरब तारे हैं
पृथ्वी जैसे करोड़ों ग्रह हैं
और उनके भी उपग्रहों
की गणना कौन करता है?
हमारी ही मन्दाकिनी के जनपद में
डेढ़ सौ अरब तारे हैं
(और प्रत्येक के अपने सौर मंडल हैं)
जिनमें से सूर्य एक भाई है
वह अपनी माँ मन्दाकिनी की गोद से
तीस हजार प्रकाश वर्ष दूर से
उसकी परिक्रमा करता है!

सूर्य तो हमारा पोषक पिता है
मन्दाकिनी के विराट परिवार का
एक कर्मठ पुत्र!
हमारी पृथ्वी का पूर्ण पौरुष!

8.

हमारी यह पृथ्वी भले ही
कितनी विशिष्ट हो
पर अकेली कैसे हो सकती है?

स्टीव्हन वोगट ने डेढ़ सौ ग्रहों में से
'गोल्डी लाक्स' क्षेत्र में
अपनी परख के प्रकाश में खोजी है
'गिलेस-581 जी,'[3]
वह पृथ्वी की बहन हो सकती है?
तब उसकी भी होगी
हरी-भरी माँ जैसी ममता
हमसे मात्र बीस प्रकाश वर्ष दूर है

आखिर इन करोड़ों ग्रहों में से
और भी कोई तो होंगे ही
अपनी ही तरह के
दिमाग और आँखों वाले
इन्सान की पुण्य भूमि!
कमतर या ज्यादा
बहुत ज्यादा बड़े हमसे!

वे अपने विवेक की समुन्दरी झीलों में नहाते
गहरी सम्वेदना से लहरते होंगे
कर्मण्यता के खोजी आविष्कारक, बड़े-बड़े
अपने सूरज चाँद को
कन्धों पर साधकर चलने की महारत में
हमसे भी आगे बढ़े होंगे
"पर ग्रही, वे बढ़ती उम्र को रोक देते होंगे
अपने पूरे तारा मंडल से ऊर्जा ले लेते होंगे
अपने सूरज के चारों तरफ आइनें लगाकर
ऊर्जा को केन्द्रित कर
'वार्म होल का पोर्टल' बनाकर
गति का अन्वेषित
छोटा रास्ता
पाने में समर्थ हो शायद

लेकिन हमें क्या करना होगा!
हमारा आपोलो-दस, चला था
चालीस हजार किलोमीटर प्रति घंटा की चाल से
आगे यथोचित ऊर्जा से संचित यान की गति
दो हजार गुनी अधिक होगी तो
वह प्रकाश, गति को
(सौ प्रतिशत से किंचित् कम)
पा सकता है
क्रमशः गति बढ़ती जाएगी इसकी
और चार साल बाद चाहत पूरी हो जाएगी
भौतिकी के नियमों से चौथे आयाम को
अर्जित करने वाले हम काल-यात्री होंगे
और अस्सी वर्ष की उम्र में ब्रह्मांड के छोर पर पहुँचेंगे

इस यात्रा में चार साल बाद यह होगा
कि पृथ्वी पर एक साल होगा
तो वहाँ एक घंटा समय गुजरेगा।

यात्रा का और भी तरीका है...”[4]

जो भी हो, बढ़ती गति के पैमाने में
काल में मनुष्य
उम्र को रबर-सा तानकर जिएगा
याने माकूल होंगे
अवरोधों से निपटने के बाहरी-भीतरी औजार

शताब्दियों बाद ही सही
हमारे और उनके भी कमाए हुए साहस के शौर्य से
हमारे अन्वेषित यात्रा
सौर मंडलों की दूरियाँ लाँघकर
पूरी होकर ही रहेंगी
बाँहों से बाँहें भर भेंटेंगे
जुड़ते विराट के आयतन में
आपसी विश्वास के बहुरंगी फूल खिलकर
खोलेंगे अपना सुगन्धित आशय भी

लेकिन सहज है
पहले मिलेंगे तो भय सा! असमंजस
विस्मय या आतंक की छाया छा सकती है
तब अपनी ही साँसें छातियों पर साँप होकर लौटने लगें!

पर आत्मा की सच्चाई खुलकर ही रहेगी
विराट निर्मलता छनकर बरसेगी भिगोकर रहेगी
समझ और खोज से अन्वेषण की
अन्तरंगता से यान्त्रिकता को
माँज-माँजकर दमकाना ही होगा
नई-नई नीवों को रोपने की जुर्रत में
जागकर जगाने के
आख्यानों से रचेंगी और भी सभ्यताएँ!

सुख की अँगड़ाई लेकर
खड़ी होंगी संस्कृतियाँ
शताब्दियाँ भी छोटी पड़ जाएँगी

मिलने पर अद्भुत अधूरा सा संकोच
कुछ क्षण मौन हो जाएँगे
'ज्वलित शून्य' घेरेंगे
शरीर की मुद्राओं से ही तब
संवेदन चिंगारियाँ उजला सा पंख पसारेंगी
ध्वनि में सहजीवी समझ की
अपनी अनुकूलता की बेचैनी
उच्चारण ढलने की कोशिश में
पीछे नहीं रहेगी

नए ताप-तरल प्रेम में
गहरी शीतलता का स्पर्श होगा ही
घुमड़-घुमड़ घिरने के बहुत बाद
बादल अभिव्यक्ति के बरसने लगेंगे

टकराती पहचानें बिजली सी खिल जाएँगी
आत्मीयता के अंकुर
बड़े होकर बढ़ेंगे—हरे हो उठेंगे
आसमान कितने-कितने
ऊपर तक का छू लेंगे सभी
प्राणों की सम्भव सी प्रफुल्लता
भाषा के अजब रंग खोलेगी
पीढ़ियों दर पीढ़ियों के...आगे
छोटे दायरे खिंच-खिंचकर टूटेंगे
ज्यादा बढ़ेंगे अनन्त में

9.

हमेशा रहस्यों के भीतर धँसकर
निकला है मनुष्य और
अपने दिमाग में खुलते उजाले से
उन्हें बाहर ले आया है
वांछित दरवाजे खोलकर
और विवेक से रहस्यों की नकेल अपने हाथों में लेकर
लक्ष्य के ताप से तपा हुआ
आगे बढ़ आया है
कामयाब हुआ है
उसने तरीके से तकनीक के
अकल्पनीय तेवर रच डाले हैं

आज पृथ्वी के एक छोर से दूसरे पर
कान में फुसफुसाकर बात करने की
दूरी को दरकिनार कर दिया और
समय को शून्य में बदल दिया

याने प्रकृति के अन्दर से अपनी जरूरत पर
बीन लेता है उसकी नियामक रहस्यताएँ
और उसके कान पकड़ने की
मन माफिक कुंजी ईजाद करके रहता है

आगे बढ़ने की वांछा के कछार का विस्तार
बढ़ता ही जाता है
साहस से सामना करता है
सवालों के घेरे में खड़ा हुआ वैज्ञानिक
इच्छित यान के लिए बीहड़ ब्रह्मांड में से
रास्ता निकालने की जुर्रत में जुटा है

10.

रोशनी में रहने से लेकर
रोशनी रचने से वाकिफ है मनुष्य अब
उसकी प्रवाहशीलता पर कब्जा है
उसकी इच्छा और प्रयत्नों के
जैसे रोज-रोज नए-नए कल्ले अँकुरा आते हैं
इस वैविध्य की वरेण्यताएँ कितनी कितनी हैं?
बड़े घिरे रोशन-अँधेरे को पार करना
बाकी है
भीतर की ऐसी पहचान
जहाँ प्रकाश-यान[5] में बैठकर
या उससे भी ज्यादा गतिवान
न्यूट्रीनों[6] के पंख बने यान में
मन की गतिशीलता के जाग्रत सपनों का
पीढ़ी दर पीढ़ी तक धरती का कर्मशील मानव
दूसरे संसारों का आत्मीय जल लेकर आएगा
पृथ्वी पर अपनों की प्यास बुझाएगा
जन जन के मन की धड़कनों में आकर
तारे आकाश के और और दमक दमक जाएँगे

हाथ पर हाथ धरकर नहीं बैठा है विज्ञान
जारी हैं खुलती अपार सम्भावना–स्रोतों की
जायज और फलित ठोस होती गहरी पहचानें
सीने में जलती हुई आग से तपते निष्कर्षों से
पौरुष के प्रमाणित बढ़ते हुए कदम और कद
जिनसे वाकिफ भी होइए!

11.

यंत्र-यात्री वाइजर-1[7-1] विद्युत पैरों से
अपना सौर मंडल पार कर गया है
आगे बढ़ रहा है, खुशफहम पूरा
वाइजर-2[7-2] प्रमाणित छायाएँ भेजता जाता है
शून्य के बीहड़ों में से गुजरता और
अपनी गरिमा की गमक को
जायज ठहराता है
यह धड़कते हृदय का यंत्र
जरूरत का काम पूरा करके, आगे निकलता जाता है
सौर ऊर्जा से ही अपनी साँसें बढ़ा लेता है
मौका को मोहलत नहीं देता
उपग्रहों की ग्रेविटी से सकेलता है
वांछित ऊर्जा
यह ब्रह्मांड में उड़ता हुआ पक्षी
अपने गोल्डन रिकार्ड[8] की मंजूषा
सँभालकर रखे है
गोया हमारी धड़कनों के समुद्र की अमानत लिये हुए
उड़ता जा रहा है 2025 तक
रुकने का नाम नहीं लेगा?
यह हमारी तीव्र वांछा का
अनूठा प्रतिनिधि हो गया है
रेडियो सिंगनल से पोस्ट करता है
अपने अनुभवों की छायाएँ
हाथ में आती हुई
अनूठी अपार जानकारियों की
खुशियों की बगिया में
विस्मय के फूल खिलते हैं अनेक
और भी हजार क्यारियाँ
पुष्पित हो जाती हैं
अजब संघर्ष की अनोखी मिसाल है

12.

रास्ते निकाले जा रहे हैं
रास्ते बुहारे जा रहे हैं
शताब्दियों के सिंहद्वारों से होकर
गुजरती यात्राओं के
अनसुनी घोषणाओं के
अकल्पनीय छाया-पत्र लिखे आ रहे हैं

तैयारी में तत्पर यह परम प्रतीक्षा है
जब अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरिक्ष[9] स्टेशन से भी
यान में उड़ते यात्री को मार्गदर्शन मिलेगा
बिजली सी कौंधती सड़कें खिंचेंगी
दूर तक जाएँगी
पीढ़ियों से पीढ़ियों की जारी इस जुर्रत में
धीरे-धीरे शामिल हो जाएँगी
प्रकाश गति से प्रौढ़ता से भरी हुई यात्राएँ
ब्रह्मांड की नागरिकता पाना
सम्भव हो पाएगा?

13.

सवाल उठता है
क्या मृत्यु को भी धमकाकर
यात्रा कर पाएगा मनुष्य
कुछ कहा नहीं जा सकता
पर आदमी की काबिलियत पूरी
रास्ता खोलती निकलती है
पाइनर-10[10-1] और पाइनर-11[10-2] ने
प्रतीत के अनुभवों के छाया सन्देश से
रास्ते सुझाते
अपने पाठ पुष्ट करते हुए
विस्मयों से भरे हुए
भविष्य की किताब के पन्ने लिख डाले हैं
"अपने सौर मंडल में बृहस्पति पर जाने के लिए
मनुष्य उसके चन्द्रमा पर उतरेगा
उसी तरह मंगल पर उतरेगा
शनि की सतह-फतह करने के लिए
पहले टाइटन पर पैर रखकर आगे बढ़ सकेगा।"

14.

ऐसा हो गया है मनुष्य!
दूरी की धमक को पढ़ लेने में
पारंगत हो गया
अपने अवरोधों की जानकारियाँ
उनसे निपटने के तरीकों की पहले ही पूरी तैयारी करने वाला
भीतरी बाहरी बहादुरी का अद्भुत पैरोकार
अनसोचा अद्भुत मनुष्य हो जाता है
सोच के बिन्दु बिन्दु खोल खेल रच लेता है
ईजाद यंत्रों में
दिल धड़कने का अन्दाज पैदा कर देता है
स्वयं की इच्छा में
रेडियो की दौड़ती तरंग हो जाता है
ऐसी अनुपस्थिति-उपस्थिति रच लेता है
उसमें ऊर्जा भी अनजाने क्वासर[11] की तरह
दौड़ती आती है!
कहाँ से कैसे?
मिल जाती है!
उम्र के पार की रोशनी में
आगत पीढ़ियों के साथ
खुद को पढ़ने, जाँचने की अभिलाषा
जीने की अन्तरंग ताकत का मजा
देने लगती है

उनको जो अपनी लेबोरेट्री में
एक-एक साँस को तौलकर
खगोल की गतिविधि से रच-पचकर
जीवन की कीमत पहचानते हैं
और आदमी की इस अक्ल को
ब्रह्मांड का करिश्मा-सा मानते हैं

15.

जैसे भी जब होगा
अदृश्य हहराती हलचलों में से
यात्राएँ उद्गमित हो
ग्रहों पर पहुँचेंगी
अपनी विलक्षण संकल्पना के बतौर
विलक्षण संसारों के विलक्षण मनुष्यों से
अन्तर्भावनाओं की रहस्यमयी नदियाँ बहेंगी
अनन्त कथाओं के समुद्र की ओर
अनन्त लहरों का पारावार
जाने-अनजाने कर्मरत जीवन की खोज से
अनन्त अकल्पनीयताएँ कैसी
सामने उपस्थित हो जाएँगी?
कहाँ कितनी? इतनी!
व्यापक की व्यापकता की भी सीमाएँ होंगी!
बढ़ती भयावह (?) प्रसन्नता से
उत्तेजित संकोच में
मन कह उठता है

काल के अनन्त काल में कभी
परस्पर आत्मीयताओं की
भिन्नताएँ होंगी भी तो कैसी?
विलक्षण विचित्र!

पर हाँ होंगी तो जरूर विनम्रताएँ
अपने रंगों की
हाथों में क्रूरता की खिंचती कमान नहीं होगी
ढोंग की ढपली बिना बजे फूट जाती होगी
पूँजी के धनुष पर
शोषण के खिंचते शर नहीं होंगे
तो खून क्यों बहता या सूखता होगा?

भ्रष्टता की बेशरम नजर पहचानकर
उसकी भौंहें तक
उखाड़ ली जाती होंगी
सब निर्विरोध खुला हुआ पारदर्शी होगा
हवा की तरह सभी में
बटा हुआ होगा बिना बाट के
ज्ञान होगा दिमाग से बाहर पूरी सक्रियता से जुड़ा हुआ
दिशाओं तक अपनी रचना में लीन
तन की (अदृश्य) बहती संवेदनाओं के घाटों पर
प्रेम और सहयोगी सफलताएँ
उलचती भिगोती होंगी जरूर
प्यास, केवल मनुष्य में बेहतरी की होगी
तृप्ति की आँखों में आँजी हुई सहजता
अपनी बात कहने में बहुत सहज होगी
जरूरत स्वभाव में नमक की तरह घुली होगी
उसके ज्यादा होने के बोझ को
कोई पसन्द क्यों करेगा?

ऐसी गहराइयों की सतह पर
अपने-अपने विविध आलोक में
शरीर की त्वचा और खून के खेल से
सम्बन्धों की सृष्टिगत सहजता में
नए ताजे फूलों की बगियाँ रच जाएँगी
प्रकाश वर्षों की दूरी के परिसर भी
मन की सुगन्ध की लपेट से कैसे बच पाएँगे?
असीमित अविकल आनन्द में
लाख-लाख चेहरे
मणि-मुखों से ज्योतित हो उठेंगे
परिचित पहचानें
हीरों सी दमकने लगेंगी!
खुशी के रत्नों की मालाएँ जगर-मगर
उनकी भाषाओं में चमकेंगी!
सहजता चेहरों पर बहुत प्यारे रंग ले आएगी

आज के अंकुर साधते
परमाणु पेड़ भी
विनाश के बीज नहीं बनेंगे
सुफल देने की योग्यता
और और हासिल कर लेंगे
और भी बेहतर–निर्मल निष्कलुषता
परस्पर हाथ बँटाने से उपजी स्नेहिलता
और भी हरी-भरी होती जाएगी
संवेदना की अन्तर्निहित गंगाएँ
दिखती न दिखती सी
मन की मन्दाकिनियों से बाहर आ
रच लेंगी अपना पूरा लहराता समुद्र!
क्या से क्या हो जाएगा!
मनुष्य बेहतरी में कहाँ तब बढ़ेगा
दिमाग में आ नहीं पाता?
अकल्पित अनदेखा आँखों में समा कैसे पाएगा

16.

अब दूरियों से दहलकर
डरने या रुकने की कोई गुंजाइश नहीं
सवालों को हल करने की भरी पूरी जुर्रत में
पारंगत लोगों की
नई पीढ़ियाँ आती जा रही हैं

महामानव चेतना की वैज्ञानिक पहल से
गति के वेग की परकाष्ठा पाने में
हुआ तो उम्रों को रबर सा तानकर जीना भी
सीख लिया जाएगा
मृत्यु के मुँह पर भी लिखकर
पूरा करने के लिए छोड़ दिया जाएगा
अपेक्षित को मन चाहे रूप में!
इस तरह विराट की बाँहों से भेंटने
पूरी तरह जानने की जन्नत में

सेंध लगा पाने के लिए ही
जिनेवा में
गहरी लम्बी सुरंग में लगाई है
'लार्ज हेड्रान क्लोइडर'[12]
और उससे निकलते निष्कर्षों का
निर्झर सा बह-बहकर आता है आविष्कृत पानी
यथार्थ में यह इतना गहरा अथाह
जिसमें ईश्वर भी डूबकर गायब हो सकता है
धर्मों की धड़कनों में और दरार बढ़ सकती है
कद बढ़ता जाएगा मनुष्य का कितना?
और कोई आँच नहीं आएगी
पीढ़ियाँ शताब्दियों में
और भी रहस्य खोलती जाएँगी
ब्रह्मांड की गलियाँ बेहतर
जानी और समझी पहचानी जाएँगी
विस्तार की इतनी व्यापकता में
बीहड़ में भी हहराते वृक्षों के फलों की
पूरी पहचान भी सम्भव हो पाएगी

17.

लेकिन लेकिन लेकिन
धरती की वास्तविकता अभी बहुत काली है
चुराए तेल से
अपना दीया भर लेने वाले कुलदीपों के कुकर्मों से
बची रहे यह पृथ्वी कैसे?
सवालों का बीहड़ है
पर अधिकार की आँधी से हमेशा ही दूर
रहकर बढ़ा है वैज्ञान
कर्मनिष्ठ पूरा है रास्ता
अधूरा कभी नहीं छूटा
किसका क्या है क्या नहीं है
उसने भेद नहीं किया फिर भी
पूँजी-वर्चस्व के खेल में
फँसा है पूरा विज्ञान
सारी तकनीकी पर–युद्धखोरों का कब्जा है
विध्वंसक दिशाओं में लक्ष्य साधे रूपे हैं
स्वार्थ की क्रूरता है इतनी–
आबादी को ध्वंस और धुएँ में बदल देती
और बचे हुए अधूरे अपंग और बिके हुओं को ही
'लोकतंत्र' की नागरिकता
रेवड़ी सी बाँट देती है

कहाँ है पीढ़ियों से कमाया जुझारूपन?
रोमांटिक रौरव में डूबता उतरता है जनसमूह
अभिजात्य-मन अपनी खुशी से मौज उड़ाता है–
जन जन की आँखों में धूल झोंकने में भी,
सम्पत्ति की मुट्ठियों में कैद है 'सारवान लोकतंत्र'

अब इस झूठ और फरेब की
धीरे-धीरे ही सही पर
कलई खुल रही है
इस रेंगते पाखंड की
उतनी ही जन-जन में समझ बढ़ रही है!

18.

कैसे भी! जैसे भी हो
रास्ता तो तलाशेगी मनुष्यता!
रुकी नहीं रह सकती!
गहरे अँधेरे में भी
खुद ही रोशनी होकर जलेगी
रास्ता खुलकर दूर तक निकलेगा?

आखिर वैज्ञानिक बुद्धि से कार्यरत आदमी
उछालें मारता दिमाग
अपनी संलग्नता में बढ़ना नहीं छोड़ता
इतना सतर्क सावधान!
भविष्य को अपने हाथों से गढ़ने में
पीछे नहीं रहेगा
विपरीतिताओं में भी
अब कदम नहीं रुकेगा
बिना रुके
खोज के खुलासों में
आविष्कृत गहरी दिलचस्पी के
खुलते संघर्ष में से
यदि किरण कौंधती है
वह चुटकियों में गति अर्जित करती है
कामयाब होती ही है
आएगी वह सुबह, जरूर-जरूर
शताब्दी में या उसके आगे
जो प्रकाश वर्षों का दिन भी उगाएगी!

19.

वैसे इतने अनसोचे, असीमित अँधेरे में
विकट बेचैनी से गहरी
सोच और समझ तक
सम्भव और अक्सर
असम्भव के द्वन्द्व से गुजरकर
दुस्तर वांठा के बीहड़ हालातों में
कैसे भी उर्वरता, हासिल कर लेने को
बढ़ा है आदमी आगे और आगे
प्रयत्न को साकार करता है

उसका दिन अँधेरे के बीच भी
धीरज में खुली हुई
दृष्टि से हीरे सी दमक से
खुद को निखारता चलता है
भले ही छोटे से छोटा हो
चींटी से अरबों गुना छोटा भी क्यों न हो
अब वह ब्रह्मांड जीवी पौरुष है
गहरी चिन्ताओं को
सक्रियता से
चुनौतियों में बदलने
फिक्र को तम्बाखू सा फाँककर
आगे बढ़ आता है

अब यह किंचित् मनुष्य
कदम बढ़ा चला है
विराट पूर्णताओं को पाने के हक में
और गहरी व्यापकता के जारी संघर्ष से
अपने चरित्र की भाषा में छनता है
अनदिखी गति के
पारदर्शी पृष्ठों के आर-पार
खुलता ब्रह्मांड होने लगता है
जीवन में ही क्या
अपनों के सुख-दुख में हमेशा
मौत के बाद भी
तारों के गिरते प्रकाश जैसा
अपनी पृथ्वी पर आता है
वह साथ नहीं छोड़ता
समाया रहता है
पीढ़ियों के गहरे अँधेरों में
कारगर कौंधता रहता है
जो देखता है उसे दिखता है
ऐसा कि सामने यह
अपने चरित्र की भाषा में छनकर
मंतव्य के रंगों के आर-पार
होता है दौड़ता उजेला!
जो फैलता चलेगा
शताब्दियों की राह पर
आमादा आदमी की औकात का
ऊपर उठता
बढ़ता प्रकाश स्तम्भ है!!
जो सोचता है उसे दिखता है!!!

शिव कुटीर, टेलीग्राफ गेट नं. 4, कमलानेहरू नगर, जबलपुर-2

सन्दर्भ

1. हबल स्पेस टेलिस्कोप–1993 से 2002 के दरम्यान। योरोपियन एजेन्सी के सहयोग से नासा द्वारा एडविन हबल के नाम से बनाया गया, इससे ही ज्ञात हुआ कि ब्रह्मांड फैल रहा है। तारों के बीच की दूरी को भी इसकी सहायता से पढ़ लेना सहज होता गया।
2. ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी के डॉ. जेरी आर. अहमेन ने 15 अगस्त, 1977 को वहत्तर सेकंड का (WOW) नैरोबैंड रेडियो सिग्नल पढ़ा और उसे छह अक्षरों (6EQUJ5) में लिखा, जो दो सौ प्रकाश वर्ष दूर से आ रहा था। जिसे दुबारा नहीं देखा गया।
3. डॉ. रगबीर मथल को डिटेक्ट सिग्नल के आधार पर, डॉ. स्टीवन होगट ने 'गोल्डी लाक्स' कहलाने वाले क्षेत्र में पृथ्वी जैसा ही एक नया ग्रह खोज निकालने का दावा किया है। इसका नाम 'गिलेस-581-जी' है। इसका व्यास पृथ्वी से सवा गुना है। यह ग्रह जिस सौर-मंडल का हिस्सा है उसके पाँच और सदस्य हैं। सब कुछ पृथ्वी जैसा है यानी हमेशा इस ग्रह के एक ओर उजाला और दूसरी ओर अँधेरा रहता है। यह हमारे सौर मंडल से बाहर का ग्रह है, इसमें गुरुत्वाकर्षण, वातावरण, औसत तापमान 10.5 फारनहाईट है। यानी जीवन स्थितियाँ उपस्थित हैं। इसका सूर्य हमारे सूर्य से बहुत पुराना है, इसका मतलब, इसका इतिहास हमेशा पुराना है, इसलिए यहाँ की जिन्दगी भी हमसे एडवांस होगी। इस ग्रह की खोज सितम्बर 2010 में हुई है। यह ग्रह पृथ्वी के सबसे करीब 20 प्रकाश वर्ष दूर है।
4. स्टीफन हाकिंग ऐसा ही सोचते हैं।
5. अल्बर्ट आइंस्टीन की परिकल्पना थी कि मनुष्य प्रकाश की गति वाले यान में बैठकर ग्रहों की यात्रा करेगा।
6. न्यूट्रीनों पदार्थ का चौथा मूल कण जो प्रकाश से भी ज्यादा गतिवान

होता है। पहले तीन कण इलेक्ट्रान, न्यूट्रान एवं प्रोटान होते हैं।

7-1. वाईजर-1—5 सितम्बर, 1977 को लॉन्च किया गया। यह अब तक का मानव निर्मित, सबसे दूर जाने वाला उपग्रह है। यह जुपिटर, सैटर्न तक पहुँचकर सौर मंडल के बाहर होकर दूर जा रहा है। 12 दिसम्बर, 2010 को पृथ्वी पर 16 घंटे के बाद इसके रेडियो सिग्नल्स पहुँचे और 13 दिसम्बर, 2010 को यह सौर मंडल के आगे निकल गया। यह अपना काम 2005 तक जारी रखेगा।

7-2. वाईजरा 2—20 अगस्त, 1977 को नासा ने छोड़ा। यह जुपिटर, सटर्न, यूरेनस, नेपच्यून की जानकारी के साथ 'सोलार सिस्टम' की सीमाओं की जानकारी भेज रहा है।

8. गोल्डन रिकार्ड वाईजर-1 में सँभालकर रखी गई सूचनाएँ आदि ऐसी गोल्ड प्लेट में उपलब्ध हैं जिनमें पृथ्वी के जीवों की जानकारियाँ आदि हैं। सुनने और देखने के लिए भी इसमें फोटो आदि रखे गए हैं।

9. अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरिक्ष स्टेशन—यह पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से बाहर, मनुष्य निर्मित अन्तरिक्ष स्टेशन है, इसको बनाने में अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, जापान और कनाडा ने योगदान किया है। इसमें स्थित प्रयोगशाला में वैज्ञानिक यहीं रहकर लगातार अध्ययन करते हैं। आगे यहीं से ग्रहों के लिए उड़ान सम्भव होगी।

10-1. पायोनियर 10—को पायोनियर एफ भी कहा जाता है, यह स्वचालित यान बृहस्पति की ओर भेजा गया। यह उसके पास से गुजर कर सुदूर सौर मंडल में पहुँच गया है।

10-2. पायोनियर 11—बृहस्पति के पास के सौर मंडल से होते हुए शनि के मैगनेटिक रिंग की जानकारी देने में सफल रहा। 1979 में उसने अपना काम पूरा किया। यह 1995 तक सम्पर्क में था।

11. क्वासर—ये हमारी आकाश-गंगा से करीब पाँच लाख गुना छोटे हैं पर सौ से भी ज्यादा आकाश गंगाओं के बराबर ऊर्जा पैदा करते हैं।

12. लार्ज हेड्रोन क्लोइडर—जिनेवा में, जमीन के अन्दर गहरी सुरंग में रखी, बड़ी मशीन है, जिसमें किए गए विस्फोट के माध्यम से लगातार निकलते निष्कर्षों को ज्ञात किया जा रहा है, पता लगाया जा रहा है कि ब्रह्मांड की उत्पत्ति कैसे हुई?

शशि नारायण स्वाधीन

कोया राजू

बकरे की बलिपूजा के बाद
बिखरे हुए कुमकुम और ख़ून को
शरीर पर मलकर
नींबूओं को अपने सिर से न्योछावर कर
फेंकता हुआ दूर
मंत्रों को बुदबुदाता हुआ
बैठा है कोया राजू
तेलंगाना की ज़मीन पर भूखा प्यासा
बरसों से।
काले कागज़ सरीखा उसका शरीर
आग की तरफ सरकते हुए काँप रहा है
लपटों के नीचे परछाई सा।

पहने हुए है कोया राजू
रीछ के नाखूनों का हार
एक छड़ी है उसके हाथ में
और झोली से आजकल
नहीं मिटा पा रहा है वह भूख।

विरासत में मिला है उसके नंगे पाँवों को
मीलों फैला धूप भरा रास्ता।
चल रहा है उसी पर बरसों से कोया राजू।
हज़ारों हस्तक्षेप के बाद
नहीं रुकी है उसकी यात्राएँ
इस ज़मीन पर।
सचमुच अनुष्ठानों से
नहीं भर पा रहा अब उसका पेट।
इस ख़ून टपकाती हुई शाम में
कहाँ जा रहा है कोया राजू
अपने साथ काला मुर्गा लिये।
तेलंगाना के पहाड़ों का वासी कोया राजू
भूख प्यासा भविष्य के रास्तों को
पथरीली ज़मीन में तलाशता हुआ।

(कोया राजू : तेलंगाना की आदिवासी जाति से संबंधित व्यक्ति)

150/4, एल.आई.जी., फेज-4, के.पी.एच.बी. कॉलोनी, हैदराबाद-500072 (आं.प्र.)

उज्ज्वल भट्टाचार्य

बर्लिन ज़ू का बाघ

सींखचों के उस पार से
देखते हैं मुझे
बच्चे, बूढ़े, औरतें
उनके चेहरों पर
कभी मासूमियत झलकती है,
कभी अचम्भा,

और कभी-कभी यह डर भी
अगर बीच में ये सींखचे न होते...

कभी-कभी वे
मेरी तारीफ़ के पुल बाँध देते हैं,
और हमारे बीच के फ़ासले में
डूब जाता है वो लम्बा किस्सा
जो किसी बीहड़ जंगल से शुरू होकर
शहर के बीचोंबीच
मुझे इस पिंजरे तक ले आता है।

यहाँ मुझे आराम से रखा गया है।
ठहरने-खाने-पीने का बन्दोबस्त है।
दिल बहलाने के लिए
दिन भर लोग-बाग़ आते रहते हैं।
मुझे देखकर मुँह बनाते हैं,
जीभ निकालते हैं।
कभी-कभी
मैं भी उनके बीच होना चाहता हूँ,
काश
अगर बीच में ये सींखचे न होते।

हर रोज़ मिलता है गोश्त।
ताज़ा नहीं,
लेकिन भरपेट।
यानी कि लोगों को देखते हुए
मुझे भूख तो नहीं सताती,
लेकिन झपटने का मन जरूर करता है।
मुझे औरतें पसन्द हैं
ख़ासतौर पर।
कहीं ज़्यादा मांस होता है
उनके सीने, जाँघों और नितम्बों पर—
मेरे पुट्ठे तन जाते हैं,
एक लहर दौड़ जाती है खाल के ऊपर,
कहीं किसी के गले से
हल्की सीत्कार सी निकल आती है

मेरे पिंजरे के बाहर
एक तख़्ती पर करीने से लिखी गई है
मेरी जन्मपत्री—
कहाँ से मैं आया,
क्या है मेरी ख़ूबी,
कैसा है ख़ानदान।
कभी-कभी
साथ में अपनी जमात लेकर
चश्मा पहने अधेड़ सा कोई शख़्स आता है
और बताता है उन्हें
मेरे बारे में,
कि उस बीहड़ जंगल में,
जहाँ से मुझे लाया गया,
अब बाघ ख़त्म होते जा रहे हैं।
जबकि यहाँ
बर्लिन के बीचोबीच
गोरे साहबों की बदौलत
बाघों की तादाद बढ़ रही है।
मुझसे भी कई बच्चे हो चुके हैं।

बात सही है।
कभी-कभी
कोई बाघिन भेज दी जाती है
मेरे पिंजरे में।
वह ऊबती रहती है
और मैं भी।
लेकिन हमें पता होता है,
जब तक बाघिन गाभिन नहीं हो जाती,
एक-दूसरे से छुटकारा मिलने को नहीं,
चुनांचे...

दिन यूँ ही गुज़रते हैं।
बीहड़ जंगल अब सपने में भी नहीं आता।
मैं ख़ुश तो नहीं,
मायूस भी नहीं हूँ।
भले ही हर दिन एक जैसा होता है,
उन्हें अलग तरीके से देखने की कोशिश
बनी हुई है।
वैसे कभी-कभी
अपने आपसे सवाल करता हूँ :
पिंजरे के बाहर से
अन्दर झाँकना कैसा होगा?
काश
अगर बीच में ये सींखचे न होते।

वक्त के चेहरे पर दमित स्वरों की अभिव्यक्ति

अनिल पासवान

अम्बेडकरवादी चिन्तन धारा के व्यापक प्रभाव के तले जन्म लेनेवाले दलित साहित्य की प्रथम अभिव्यक्ति कविता के रूप में हुई। आलोचकों की दृष्टि में कविता मनुष्य की भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति का स्वाभाविक साधन है। परन्तु 'साहित्य मनुष्य की अभिव्यक्ति का माध्यम उसी समय बनता है जब उसमें सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा बलवती होती है। सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की भूमिका को स्वीकार किया गया है। साहित्य की सामाजिक भूमिका से ही उसके सांस्कृतिक आन्दोलनों की दिशा तय होती है। यही कारण है कि दलित कविता में सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का बीज हमें देखने को मिलता है। यदि हम 'दलित कविता' का सूक्ष्म अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि इसका विकास क्रम गौतम बुद्ध के दार्शनिक चिन्तन, लोकायत की श्रमण संस्कृति, सिद्ध-नाथपन्थियों की सृजनात्मक ऊर्जा से विकसित हुई सांस्कृतिक चेतना के साथ-साथ मध्य युगीन कबीर-रैदास आदि सन्त कवियों तक आते-आते क्रान्तिकारी चेतना में तब्दील हो जाती है। यह चेतना हमें तुलसी-सूर के अवतारवाद, पुनर्जन्मवाद, कर्मवाद, वर्णवाद, नियतिवाद, आत्मा एवं ईश्वर को नकारते हुए ज्ञान, तर्क, बुद्धि और विवेक को आधार बनाकर वैज्ञानिक चिन्तन के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाले श्रमण संस्कृति के सन्त कवियों से भी प्राप्त होती है। दलित संत कवियों में इस तरह की चेतना विकास बुद्ध के पटिच्चसमुपाद, अनात्मवाद और अनित्यवाद जैसे भौतिकवादी दर्शन के द्वन्द्ववाद पर आधारित है। इसके साथ ही हमें यह भी देखने और पढ़ने को मिलता है कि इस सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक गैरबराबरी के खिलाफ सिर्फ दलितों ने ही आवाज नहीं लगाई है, गैर-दलितों ने भी इसे स्वर दिया है। इसका उदाहरण बनकर 'सिद्ध सरहदपाद' सामने आते हैं। ये जाति से ब्राह्मण थे। इन्होंने शर बनानेवाली एक दलित कन्या से विवाह किया था, जिसका विरोध ब्राह्मणों द्वारा किया गया था। अन्ततः 'सरहदपाद' को दलित बस्ती में ही रहकर जीवन-यापन करना पड़ा था। ब्राह्मण जाति से पदच्युत होकर उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से वर्ण व्यवस्था, छुआछूत, धार्मिक कट्टरता पर जमकर प्रहार किया। उनकी रचनाओं में मूर्ख ब्राह्मण की पंडिताई पर गहरा कटाक्ष मिलता है : "ब्राह्मण न जानते भेद। यों ही पढ़े ये चारों वेद/मट्टी, पानी, कुश, लेई, पढ़न्त। घर बैठी अग्नि होमन्त/वर्ण आधार प्रमाण रहित अच्छर भेद अनन्त/को पूजइ कहँ पूजयई जासु आदि न अन्त/"[1]

(राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित)

इसीलिए आवश्यकता है कि उत्तरी भारत में दलित साहित्य के

न्यू सिपाही टोला (पीर बाबा मजार के निकट) पूर्णिया-854301 (बिहार)

ऐतिहासिक अध्ययन की शुरुआत और एकता के सूत्र सरहदपाद–कबीर–रैदास को साथ-साथ रखकर किया जाए। इससे सहानुभूति और स्वानुभूति का विवाद तो हल होगा ही साथ-ही-साथ 'समानता' के लिए आन्दोलन को व्यापक आधार भी प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा नहीं हो पा रहा है, जो दुखद और चिन्तनीय है।

दलित जागरण का पहला कवि स्वामी अछुतानन्द (1879-1993) को माना जाता है। वैसे इसके आस-पास पटना के हीरा डोम ने 'अछूत की शिकायत' कविता लिखकर दलितों की वेदना और पीड़ा को अभिव्यक्ति दी थी, जो अन्ततः एक दलित की शिकायत बनकर रह गई। इस कविता का प्रकाशन 1914 में 'सरस्वती' नामक पत्रिका में हुआ था, जिसका सम्पादन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी करते थे। इस कविता का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि आधुनिक युग में हीरा डोम ने पहली बार ब्राह्मणवाद के चरित्र को उजागर किया था। उन्होंने अवतारवाद पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए लिखा था :

> *"खंभवा के फारि प्रह्लाद के बचवले जा, ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।*
> *धोती के जुरजोधना के भइया छोरत रहैं, परगट होके तहाँ कपड़ा बढ़वले।*
> *...कहवाँ सुतल बाटे अब, डोम जानि हमनी के छुए से डरइले"*[3]

तब क्या वे अपने शोषण-उत्पीड़न की फरियाद राजसत्ता के हाकिमों को या उस राजसत्ता के धार्मिक ठेकेदारों को सुनाएँ–जो एक गिरजाघर में बैठे हैं जो दूसरा कचहरी में–'पदरी साहब के कचहरी में जादू बिजा' हम रात-दिन 'दुखवा-भोगत बानि' लेकिन हमारी कोई नहीं सुनता। इस तरह हीरा डोम ने इस कविता में धर्मसत्ता और राजसत्ता–इन दोनों से अपने उत्पीड़न-शोषण से मुक्ति की उम्मीदें छोड़ दी थीं। यह इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। यह कविता भोजपुरी भाषा में है। इस कविता का शेष भाग हिन्दी में इस तरह है–'हम लोग डोम हैं। कुएँ के पास नहीं जा सकते। कीचड़ वाला गन्दा पानी हम पीते हैं। जूतों से पीट-पीटकर हमारा पैर तोड़ देते हैं। हम लोगों को इतनी यातना क्यों उठानी पड़ती है, जिस हाड़-मांस का हमारा शरीर बना है उसी का इन ब्राह्मणों-ठाकुरों का भी बना है फिर क्या बात है ये पूजे जाते हैं और हमारी पूजा जूतों से होती है।' हीरा डोम ने अपनी इस कविता में कबीर की तरह श्रम की महत्ता को स्थापित किया है : 'बभने के लेखे हम भिखिया माँगबजा, ठाकुर के लेखे नहिं लउरि चलइबि/सहुआ के लेखे नहिं डाँडि हम मारबजा/अहिरा के लेखे नहिं गइया चोराइबि/भँटउ के लेखे न कवित्त हम जोरबजाँ/पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि/अपने पसिनवा के पाइसा कमाइबजाँ/घर भर मिलि-जुलि बाँटि खाइबि।'[3] इसके साथ ही हीरा डोम ने धर्मसत्ता और राजसत्ता से अपने उत्पीड़न से मुक्ति की आस छोड़ दी थी। परन्तु स्वामी अछुतानन्द और बिहारीलाल हरित ने प्रतिरोध का मशाल जलाए रखा। स्वामी अछुतानन्द ने 'आदिखंड' काव्य के शुरू में ही लिख डाला है : "पहले सुमरो सतगुरु स्वामी, दीन्हा लौकिक आत्मज्ञान। व्रत रूप चेतन घट-घट में व्याकल सकल सृष्टि दरम्यान।" 'आदिवंश का डंका' काव्य-संग्रह में उन्होंने लिखा है : "सभ्य सबसे हिन्द के प्राचीन हकदार हम/था बनाया शूद्र हमको, थे कभी सरदार हम।" इस अवधारणा को 1938 के करीब बिहारी लाल हरित ने आगे बढ़ाते हुए युवाओं का आह्वान किया था कि–'उठोगे गर अपने पैरों जाति को सुधारोगे। डुबती हुई कोमी को किस्ती से उबारोगे। लेकर बल्ली विद्या की तुम कौमी को उभारोगे।" इस कविता की शुरुआत भजन-छन्द में दीनदयाल जी को सम्बोधित करते हुए हुई है परन्तु शीघ्र ही आग्रहपूर्ण वाणी का त्याग करते हुए युवाओं से जाति व्यवस्था को ध्वस्त करने की बात इन शब्दों के साथ करते हैं–

> *"सर कटावै कौम पर सच्चा वही सरदार है,*
> *जर गरीबों पर लुटाने खाख वही जरदार है।"*
>
> *"नवयुवक कौम के जुट जावें, सब मिलकर कौम परस्ती में,*
> *जय भीम का नारा लगा करे, भारत की बस्ती-बस्ती में।"*

बिहारी लाल हरित पहले कवि हैं जिन्होंने 'जय भीम' का नारा लगाया है। आगे चलकर वे जनकवि के रूप में चर्चित हुए। इसी आधार पर उन्होंने लिखा : "जनकवि मुझे जनता कहती, जनभाषा का अध्यायी हूँ/समाजवाद का पक्षधर हूँ, मानवता का अनुयायी हूँ।"

जिस वक्त बिहारी लाल हरित 'जय भीम' का नारा लगा रहे थे, उस वक्त कानपुर के निवासी रामचरण कुरील हिन्दुत्ववादियों की 'सत्यनारायण कथा' के विरोध में 'भगवान रविदास सत्यकथा' लिखकर रैदास के जीवन से सम्बन्धित विचारों को दलित वर्ग में फैला रहे थे। इस तरह डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक-राजनीतिक विचारों से प्रभावित कवियों में : गया प्रसाद प्रशान्त–'भीम शतक', मोतीराम शास्त्री–'रावन नहीं'

तथागत, राजवैद्यमाता प्रसाद 'सागर', मंगलदेव विशारद, मोलहू प्रसाद बौद्ध खेमचन्द्र सौगात...लक्ष्मीनारायण सुधाकर—'उत्पीड़न की यात्रा', 'भीम सागर', राजपाल सिंह राज 'भीम भारती', नाथूराम ताम्रपेली—'भारत के वीर' नाथुराम 'पथिक'—"उठो रे जवानों आदि नई-पुरानी पीढ़ी के कवियों ने अपने कविता-संग्रहों में बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों के साथ उनकी स्तुति और वन्दना ही अधिक की हैं।"[4] यह दौर 1920 तक का है। इसी दौर में श्रीधर पाठक की कविता 'मनूजी' शीर्षक से छपी थी। डॉ. भवदेव पांडेय ने वर्तमान साहित्य शताब्दी विशेषांक 2000 में 'कविता के आईने में मनु का कुरूप चेहरा' शीर्षक से एक आलेख लिखा था। इस आलेख में उन्होंने लिखा है : "आधुनिक युग के साहित्य में 'मनूजी' प्रथम दलित कविता थी। पाठक जी का यह छद्म चिन्तन नहीं था।" यह उस वक्त की बात है, जब मनुस्मृति के आधार पर हिन्दुओं की सामाजिक सत्ता कायम थी। मनुधर्म संहिता का आतंक था और इस आतंक का सहारा लेकर बड़े-बड़े सामाजिक अपराध सदियों से दलितों एवं अन्य छोटी जातियों के ऊपर होता चला आ रहा था। ऐसे समय में श्रीधर पाठक ने 'मनु को दलितों की अदालत में खड़ा कर लथाड़ते हुए पूछा कि : "मनुजी, तुमने यह क्या किया?/सरस प्रीति के थल में बोया/विष अनीति का बिया/और अधिक क्या कहें बापजी/कहते दुखता हिया/जटिल जाति का अटलपात्र का/जल है किसका सिया/मनुजी, तुमने यह क्या किया।"[5] आगे चलकर इसी कविता की तर्ज पर स्वामी अछुतानन्द ने एक कव्वाली लिखी जिसका शीर्षक था : 'मनुस्मृति से जलन'। इस कव्वाली की पंक्तियाँ इस तरह हैं—"निशि दिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है/ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।"

मनुस्मृति का दंश इतना आघात पहुँचाने वाला था कि डॉ. अम्बेडकर को इसकी होली जलानी पड़ी। हम यह भी उल्लेख करना चाहते हैं कि मनुस्मृति का विरोध सिर्फ दलितों ने ही नहीं किया। इसका विरोध 19वीं सदी के अन्त में स्वामी केवलानन्द ने भी कबीर की शैली में किया। इसके लिए उन्होंने एक भजन लिखा। भजन की पंक्तियों में वर्णभेद को लेकर मनु से सीधा संवाद है :

"मनुजी तैंने वर्ण बनाए चार/जा दिन तूने वर्ण न्योरे रंग बनाए क्यों न? गोरे ब्राह्मण लाल क्षत्री, बनिये पीत बनाए क्यों न?/कैसे हो पहचान पोप की, दो अक्षर डलवाए क्यों न?/पाँच तत्त्व तो सबमें दीखें, ज्यादा तत्त्व लगाए क्यों न?/वह सर्वज्ञ सर्व में व्यापक उससे जुटे बनाए क्यों न?/पाँच तत्त्व गुण तीन बराबर, बढ़कर तत्त्व लगाए क्यों न?/एक चूक बड़ भारी पर गई, न्यारा मुल्क बसाए क्यों न?/लोहे के बर्तन पर पानी, कंचन को दियों डार।/मनुजी तैंने वर्ण बनाए चार।"[6] इन्हीं भावनाओं को आत्मसात् करते हुए अछुतानन्द के ही समकालीन कवि हरिहरराम ने पोथी-पुराणों की आलोचना करते हुए लिखा है—"ब्राह्मण पोथी पुराणों में निरी भर उलझन, फसाना जाल रचा था, हमें मालूम न था।/मनु ने सख्त थे कानून बनाए हरिहर, पढ़ना कतई मना था, हमें मालूम न था।"[7] हरिहरराम के समकालीन जग्गूराम, कुसुनार, विकलराम, जगतराम, भगवानदास आदि कवियों ने दलितों के जीवन में यातना और अपमान की घट रही घटना को नियति नहीं मानकर इसे ब्राह्मणवादियों का साजिश करार दिया और अपनी लेखनी के माध्यम से बगावत का झंडा लहरा दिया। जगराम ने मरसिया लिखकर दलितों में जागृति पैदा की और अब्राह्मणी स्वर में कहा : "जुल्म अब मत सहो नेक मरदो। जाति पर जान कुर्बान कर दो।/है द्विजों ने तुमको सताया। मुद्धतों अब तक दबया।/ऐसी हालत में हमको गिराया। जानवर से बदतर बनाया।/गर्क उनके ये अभिमान कर दो।"[8]

इसके बाद शुरू होती है समकालीन कविता। समकालीन कविता समग्र अर्थों में : अपने युग की कड़वी सच्चाई को प्रस्तुत करने का सफल कार्य कर रही है। आज की कविता आम आदमी के हक में खड़ी है। उसमें सामान्य जन के प्रति संवेदना निहित है। समकालीन कविता में इन्सान के दर्द, पीड़ा, व्यथा, वेदना, विसंगतियों व कसक का माहौल है उस पर समकालीन कवियों द्वारा अधिकारपूर्वक कलम चलाई जा रही है। इस समय नई कविता, समांतर कविता, प्रगतिशील कविता, जनवादी कविता, दलित कविता, नई गजलें, दोहे, नवगीत आदि के रूप में समकालीन कविता अपना पैनापन दिखा रही है। इसमें हम देख सकते हैं सामाजिक विसंगतियाँ, असमानताएँ व विद्रूताएँ राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व आर्थिक रूप से विद्यमान हैं—उन पर समकालीन कवि, दोहाकार, गजलकार, प्रभावी प्रहार करके जीवन मूल्यों के प्रति सार्थक कार्य कर रहे हैं। समकालीन कविता जहाँ एक ओर साम्प्रदायिकता के विरुद्ध शंखनाद छेड़े हुए है वहीं सामाजिक समानता व दलितोत्थान का भाव भी प्रखरता के साथ विद्यमान है। ईर्ष्या, द्वेष, झूठ, छल, फरेब, भ्रष्टाचार, राजनीति का होता अपराधीकरण, अपराध का होता राजनीतिकरण, जनप्रतिनिधियों का चारित्रिक पतन, सांस्कृतिक संक्रमण, नौकरशाही जीवन में गिरते मूल्य, आहूत होती भावनाएँ, मृत होती संवेदनाएँ, बिखरते रिश्ते, क्षतिग्रस्त होते यंत्रवत् होता इन्सान, बिगड़ता आचरण आदि पर भी समकालीन कवि अधिकार पूर्वक प्रहार करके जीवन मूल्यों की

स्थापना में महती भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं।

समकालीन कविता में न तो प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण है, न ऋतुओं की वन्दना और न ही प्रेम प्रणय-अभिसार की प्रस्तुति। वास्तव में समकालीन कविता चूँकि यथार्थवाद से प्रेरित है इसीलिए उसमें प्राकृतिक सौन्दर्य की जगह सामाजिक प्रतिकूलताओं को कविता का विषय बनाया जाता है। ऋतुओं की वन्दना के स्थान पर भूख, व्यथा, टीस, खून, हत्याओं, बलात्कारों, भ्रष्टाचारों को कविता के केन्द्र में रखा जाता है। आज बुराइयों ने इतना अधिक सिर उठा लिया है कि सहज ही आज की कविता में इन बुराइयों का चित्रण आ गया है। आज की कविता सत्यवादी है इसलिए इसमें तल्खी है, पर उद्देश्य उन्हीं जीवन मूल्यों से भरे एक अच्छे व सच्चे समाज की स्थापना करना या पुनर्रचना करना या पुनर्स्थापना करना। समय की आवाज है। यदि यह कहा जाए कि समकालीन कविता हमें "वक्त का चेहरा दिखा रही है तो अनुचित न होगा। आज समकालीन कविता को विभिन्न वादों में विभक्त कर दिया गया है, जैसे—जनवादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, दलितवादी, परन्तु चाहे समकालीन कविता को किसी भी वाद में विभक्त किया जाए, उसका स्वरूप, प्रकृति के तेवर वही होते हैं।"

इन्हीं तेवर के साथ समकालीन दलित कवियों के अब तक अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से कुछ दलित कवियों की सूची 'हंस' के 'सत्ता' विमर्श और दलित अंक में प्रकाशित हुई है जो निम्नलिखित हैं : 'गूँगा नहीं था मैं', 'तिनका-तिनका आग' (जयप्रकाश कर्दम), 'सदियों का संताप', 'बस्स! बहुत हो चुका' (ओमप्रकाश वाल्मीकि) 'एकलव्य' (माता प्रसाद), 'आग और आन्दोलन' (मोहनदास नैमिशराय), 'सतह से उठते हुए' चेतना के स्तर (डॉ. एन. सिंह), 'यातना की आँखें' (दयानन्द बटोही), 'सुनो ब्राह्मण' (मलखान सिंह), 'हार नहीं मानूँगा' (ईश कुमार गंगानियाँ), 'टुकड़े-टुकड़े दंस' (कुसुम वियोगी), हीरामन, 'किनारे भी मंझधार भी कम्पिला' (धर्मवीर भारती), 'क्रौंच हूँ मैं', 'नई फसल' (श्यौराज सिंह बेचैन), 'नियति नहीं यह मेरी' (सुदेश तनवर), 'शब्द थके जरूर हैं' (चिरंगी लाल कटारिया), 'सवालों का सूरज', 'दखल देती कविता' (पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी), 'अनुभूति से अभिव्यक्ति तक' (विपिन बिहारी), 'पदचाप' (रजनी तिलक), 'बिरसा' (जिया लाल आर्य), 'पुश्तैनी पीड़ा' (तेजपाल सिंह तेज), 'दलित पचासा' (एस.आर. विद्रोही), 'अम्बेडकर शतक' (सोहनपाल सुमनाक्षर)। हालाँकि यह सूची अधूरी है। इसमें कई काव्य संग्रहों का उल्लेख नहीं है, जैसे'मुक माटी की मुखरता' (पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी), 'यह तुम भी जानो' (सुशीला टाकभौरे), 'आजाद हैं हम' (न.आर. सागर), 'आक्रोश' (सी.वी. भारती), 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती' (कंवल भारती), 'प्रयास' (सूरजपाल चौहान), 'मेरा गाँव', (टी.पी. सिंह), 'सूर्यांश' (सुखबीर सिंह), 'शोषित कहे पुकार के' (भीम सेन 'संतोष'), 'पतंग और चरखी', (मुकेश मानस), 'इरादे तभी करवट लेते हैं' (चन्द्रमान), 'ऐसा कोई शब्द हो' (गोविंद प्रसाद), 'ये कौन लोग हैं', (राकेश प्रियदर्शी), 'देर-सवेर', 'फूलों के सौरभ-सी' (वेद प्रकाश), 'अँखुए', 'अंकित हूँ मैं' (सुरेश चन्द), 'ईश्वर बनाम मनुष्यता' (मुसाफिर बैठा), 'अंतिम संग्राम' (भीमराव गणवीर) आदि अनेकों काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। इसके साथ ही इस बीच कई कवि एवं कवयित्री भी उभर कर सामने आई हैं, जिन्होंने दलित कविता को समृद्धि प्रदान की है। इस कड़ी में देवनारायण पासवान देव, उत्तिमा केशरी, निर्मला, पुतुल, अनिता भारती, सुनीता खोखा, रूपनारायण सोनकर, सुशील कुमार 'शीलू', सुनील 'पागल', राज वाल्मीकि, राजेन्द्र बड़गुजर, अनिल कुड़िया। अरुण कुमार गौतम, देवी सिंह, कृष्णपाल परख, शिवनाथ 'शीलवोधी', बुद्धशरण 'हंस', जयप्रकाश लीलवान, महेन्द्र बेनीवाल आदि का भी नाम उल्लेखनीय है।

आज की दलित कविता पर मराठी का प्रभाव उतना नहीं है जितना कि पहले था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी की समकालीन दलित कविता ने अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक जमीन तैयार कर ली है। इन कविताओं में हमें इतिहास बोध देखने को मिलता है इसमें कवि हिन्दू संस्कृति को नकारता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'बस्स! बहुत हो चुका' में लिखते हैं :

"मुर्दा संस्कृति की लाश पर/मँडराती चील जश्न मनाएगी / जिसके पंखों के साये में/संस्कृति की तकिया बनाकर/शिकारगाह में अधलेटा आदमखोर/निकल रहा है/दाँत में फँसे मांस के रेशे/नुकीले खंजर से।"[9] इस कविता में हिंसा की संस्कृति को नकारा गया है। कवि को विश्वास है कि ऐसी संस्कृति हिंसक पशु-पक्षियों का भोजन बनकर नष्ट हो जाएगी। हिंसा का जवाब हिंसा नहीं है ऐसा जयप्रकाश कर्दम ने भी माना है, परन्तु ब्राह्मणवादियों ने कभी अहिंसा को महत्त्व ही नहीं दिया।

"अहिंसा है/रास्ते पड़ी मोहल्ले की कुतिया, जिसे/कोई भी, कभी भी/लतिया कर निकल जाय/नहीं करता वह प्रतिवाद/अहिंसा के कारण।"[10] हिंसा की इस संस्कृति के खिलाफ अपनी संस्कृति के विकास की बात करता है। श्रमण संस्कृति है। "लिखेंगे/पुनः इतिहास श्रमण संस्कृति का/तुम्हारी

ही व्यवस्था की/नंगी पीठ पर।"[11] जब दलित कवि श्रमण संस्कृति लिखने की बात कर रहे होते हैं तब ब्राह्मणवादी रामराज स्थापना की बात करने लगा। रामराज्य का विरोध करते हुए आर.एन. सागर लिखते हैं : "जीवन कारा बन जाएगा/सारे हक छिन जाएँगे/रामराज्य जब आएगा/ जीते-जी मर जाएँगे।"[12]

रामराज्य का मतलब है वर्णव्यवस्था एवं स्मृति शास्त्रों का पुनः मजबूती से समाज व्यवस्था पर लागू होना और वेद, पुराण गीता, रामायण का सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक व्यवस्था का आगमन। इस व्यवस्था से अस्पृश्यता और जातिवाद का बोलबाला होना, इसीलिए कविता कहती है : "समाज को प्रगतिशील बनाना है। जाति के जहर को मिटाना है, तो/उन तथाकथित धर्मग्रन्थों को आग लगानी होगी, और/नकारना होगा/वर्णित उस ईश्वर को/जो कर्मानुसार/फल देता है और मोक्ष भी।"[13] समकालीन दलित कविता में विद्रोह है। यह विद्रोह अन्याय, अत्याचार और शोषण पर टिकी व्यवस्था के प्रति। इस व्यवस्था को टिकाए रखने वाली संस्कृति के प्रति। तभी तो विद्रोही कवि मन कह उठता है : "तो सुनो वशिष्ठ!/द्रोणाचार्य, तुम भी सुनो!/तुम्हारे अति/तुम्हारे आस्थाओं पर थूकते हैं।"[14]

वशिष्ठ और द्रोण के अत्याचारों का शिकार हुए शम्बूक एवं एकलव्य सहित अन्य के प्रति दलित कैसी श्रद्धा रखता है। इस कविता में व्यक्त हुआ है : "हे महामानव शम्बूक, तुम आज भी मरे नहीं हो/जीवित हो हमारी स्मृतियों में जीवित हो मेरी आशाओं, आकांक्षाओं में/जो खड़ी हो उठी है बार-बार, लगातार/टकराने को उन व्यवस्थाओं से/रोकती है जो हमारे विकास के पथ!"[15]

ब्राह्मणवादी–सामन्ती व्यवस्था ने जो सलूक 'शंबूक' के साथ किया था वही 'एकलव्य' के साथ भी, वही कर्ण के साथ भी। एकलव्य अपनी साधना ज्ञान के बल पर श्रेष्ठ धनुर्धर बना। यह वर्णव्यवस्था का, हिन्दू संस्कृति का विरोध था। इसीलिए इस व्यवस्था के रक्षक द्रोणाचार्य ने छल से दाहिना अँगूठा गुरु-दक्षिणा में माँग लिया। और एकलव्य ने अँगूठा दान दे दिया। द्रोण ने एकलव्य के साथ ऐसा क्यों किया? इस पर दलित कविता कहती है :

"यह द्रोणाचार्य को/द्रोणाचार्य की जाति का/उनके द्वारा निर्मित व्यवस्थाओं को बर्दाश्त न था।"[16]

इस तरह अँगूठा दान देने पर कोई प्रतिकार नहीं करने पर 'एकलव्य' से सवाल भी पूछा जाता है : "तुम्हें भोला भंडारी कहूँ या ज्ञानी मूर्ख/जो अँगूठा काटकर/दे बैठे एक ऐसे गुरु को/दक्षिणा में/जिसने तुम्हें नहीं सिखाया था/क-ख-ग भी/धनुर्विद्या का।"[17]

आजादी के पैंसठ वर्ष बीत जाने के बाद भी गाँवों में जो सामन्ती व्यवस्था कायम है और दलित-मजदूरों की कैसी स्थिति है, इसकी तस्वीर सूरजपाल चौहान की कविता 'मेरा गाँव' में उजागर हुआ है : "उसका खेत उन्हीं का बैल/औरं उन्हीं का है ट्यूबवेल/मेरे हिस्से मेहनत आई/उनके हिस्से है आराम/मेरा गाँव कैसा गाँव।"[18]

खेलने-कूदने और पढ़ने की उम्र में सरकार की कुव्यवस्था के कारण बाल-श्रमिक बनते बच्चों की दशा को शब्दों में ढालकर कर्मशील भारती ने मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। 'बाल-श्रमिक' कविता उनके काव्य संग्रह 'कलम को दर्द कहने दो' में दर्ज है।

"मालिक को सन्तुष्ट और खुश/देखने को/तपती दुपहरी/कड़कती ठंड और/लगातार बारिश में/दिन भर सामर्थ्य से अधिक श्रम/करते-करते बाल श्रमिक के/कोमल लेकिन अल्प विकसित हाथ/जो सही मायने में/अभी विकसित होना चाहते हैं।"[19]

दलित कवि यथास्थिति बनाए रखने वाली रचनाओं के खिलाफ विद्रोह करता है। वह धर्मशास्त्रों के शब्दों को बहेलियों का जाल समझता है। वह पाखंड की जगह आत्मसंधान को महत्त्व देते हुए कर्मकांड का विरोध करता है। इसकी झलक हमें ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में देखने को मिलता है :

"तुम्हारे रचे शब्द/तुम्हें ही डसेंगे साँप बनकर/गंगा किनारे कोई वटवृक्ष ढूँढ लो/कर लो भागवत का पाठ/आत्मतुष्टि के लिए/कहीं अकाल मृत्यु के बाद/भयभीत आत्मा/भटकते-भटकते/किसी कुत्ते या सूअर की मृत देह में/प्रवेश न कर जाय/किसी डोम या चूहरे के घर/पैदा न हो जाय/चूहरे या डोम की आत्मा/ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है/मैं नहीं जानता/शायद आप जानते हों।"[20]

मिथकों का प्रयोग करते हुए प्रतिरोध का स्वर बुलन्द करता कवि अतीत में हुए दलितों के साथ छल और प्रपंच को पहचान चुका है। अब वह धार्मिक अंधविश्वासों से मुक्त हो चुका है :

"धरती और आकाश के बीच/टूटकर गिरता है कोई नक्षत्र/ अँधेरी रात में/किसी कर्ण की सिसकियाँ/ऊँघ-ऊँघ जाति हैं/ शम्बूक की अभिशप्त हत्या/और एकलव्य के साथ/किए गए छल को साथ लिए/मेरी पीढ़ी/जंगलों, पहाड़ों, नदियों और नालों में/खोज रही है/गत विगत के बीच मौन शिलाएँ।"[21]

जातिवाद आज भी व्याप्त है। दलितों के गाँव जलाए

जाते हैं, उनकी बहू-बेटियों के साथ आज भी बलात्कार होता है। आज भी जाति के नाम पर न्याय नहीं मिलता। फिर भी ब्राह्मणवादी कहते हुए हर चौक-चौराहे पर मिल जाते हैं अब जात-पात कहाँ है। ऐसे लोगों की खबर जमकर दलित कवि ने लिया है 'गूँगा नहीं था मैं' में :

"झूठे हैं वे लोग/जो कहते हैं कि देश में/जातिवाद आखिरी साँसें ले रहा है।/धोखेबाज हैं वे लोग/जो कहते हैं कि/अस्पृश्यता का जनाजा निकल चुका है/मक्कार हैं वे लोग/जो कहते हैं कि/वर्ण व्यवस्था अप्रासंगिक हो चुकी है।/जब तक स्मृतियाँ रहेंगी,/रामायण, गीता और वेद रहेंगे,/तब तक वर्ण सुचिता रहेगी/अस्पृष्यता रहेगी जातिवाद रहेगा।/समाज में विघटन और विद्वेष रहेगा।"[22]

देवनारायण पासवान देव कोशी अंचल के स्थापित दलित कवि हैं उनकी कविताओं में मनुवाद का नकार है, दलित जीवन की व्यथा है, और अपमान का दंश है। इसलिए कवि पूछते हैं :

"तेरे रसीले गान, मेरे किस काम के/जो हो सके हैं आज तक न मेरे अपने/और कर सके चरितार्थ ना ही मेरे सपने।"

उन तमाम कवियों से जिनकी कविताओं में दलित वेदना न होने पर सवाल खड़ा करते हुए पूछते हैं :

"कहो तो तेरे गीत में/कहाँ है मेरी वेदना जिस वेदना का भार/मैं ढोता रहा हूँ और जिस कपस में/रात-दिन जीता रहा हूँ?/सुनो/ ऐ मनु पुत्र!"

ऐसे कवियों को दलितों की उन गंदी बस्तियों को दूर से ही दिखा रहे हैं, जहाँ आज भी विकास नाम की चिड़ियों की चहचहाहट नहीं है :

देख लो यह मेरी बस्ती दूर तुझसे/बस अकेली गन्दगी में सड़ रही है/भय-भूख से मर रही है/आज भी अकुला रही है/गुलामी के अन्धकार में माँग रही रोशनी/आने को खुली बयार में (एक मनु-पुत्र के नाम, हशिए की आवाज, अक्टूबर 2012, पृष्ठ 43)।

आज दलित-मुक्ति की चेतना न केवल कविताओं का सृजन कर रही है, बल्कि अपने प्रतिमानों पर, अपनी भाषा पर भी जोर दे रही है। श्याम लाल शर्मा ने 'दलित सौन्दर्यशास्त्र' शीर्षक कविता में लिखा है : "अपनी बानी कह रैदास। अपनी 'साखी' बोल कबिरा।... 'उनको निर्धारित/करने दें। भाषा-शैली/मूर्धन्य ये लोग/चदरिया/जिनकी मैली। रामविलासों 'नामवरों' की बहसों में मत उलझ झकीरा।"[23] अपनी 'बाणी' कहने के लिए रैदास और 'साखी' कहने लिए के कारण कबीर जिस तरह सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों के अगुआ बने हुए हैं, उसी तरह रामविलास जी और नामवर जी प्रगतिशील लेखन के पहरुआ हैं। इसीलिए इन दोनों ने ही उसी परम्परा को चुना, जिसमें 'निराला जी' अँधेरे का ताला खोलने वाले में धोबी-पासी-तेली-चमार का नाम लेते हैं। प्रगतिशील आलोचना के शिखर पुरुष रामविलास शर्मा जी ने 'श्रेष्ठियों के देवता' में लिखते हैं : 'अंधकूप में पड़े हुए तुम/मढ़े हुए सोने से अनुपम/ऊँची छत, खम्भे पर खम्भा/मन्दिर क्या है एक अचम्भा।' यहाँ सीधे तौर पर मन्दिर और मन्दिर में बैठा कथित भगवान का ही तो विरोध है। इसी तरह हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने अपनी पुरानी मान्यताओं को खारिज करते हुए 'दलित साहित्य' धारा को स्वीकार किया है और भारत रत्न डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय सम्मान को प्राप्त किया है। इसी सम्मान समारोह के अवसर पर उन्होंने कहा है : 'दलित साहित्य उगता हुआ सूरज है।' आगे और कहते हैं कि 'जिस तरह कबीर को 'हरि' मिले हैं। वैसे ही आज मुझे डॉ. अम्बेडकर के रूप में 'हरि' मिले हैं।' भारत में निराला-रामविलास-नामवर-शमशेर-नागार्जुन-मुक्तिबोध आदि साहित्यकारों की लम्बी शृंखला है, जिनका जन्म दलित जाति में नहीं होने के बाद भी दलितों की मुक्ति की लड़ाई को आगे बढ़ाने का काम किया है। इनका संघर्ष कितना गहरा है, इसे शमशेर बहादुर सिंह की कविता से समझा जा सकता है :

"मैं वह गुट्ठल काली कड़ी वाला बैल हूँ। जो अकेला धीरे-धीरे छह मील खींचकर ले जाते हुए/ठेले में ऊपर तक लदा हुआ माल।...आँखें बाहर की निकाली हुई/त्योरी चढ़ी हुई, काँधे जोर लगाते हुए/रानें भरी हुई गर्म पसीने से तर, मगर जोर लगाती हुई/क्यों और किसके लिए/अपनी शाम के, अपनी सुबह के/बँधे हुए/चारे के लिए/उसे मीठी उस से नमकीन और प्यारी चीज/दुनिया में और कोई है क्या?/मेरा मालिक भी शायद एक अन्य दो टाँगों पर खड़ा/...बैल है—एक गंदा-सा नाटा-सा बैल।...यह सारी दुनिया मुझे बैल मालूम होती है। बाँ ....बाँ...बाँ!"[24] ध्वनि मनुष्यता के लिए हाहाकार है और विषमता के लिए संगीत कविता की इसी पृष्ठभूमि पर दलित मुक्ति के स्वर गूँजते हैं। आर्थिक विषमता का शिकार मानव सामाजिक समता के लिए लड़ रहे योद्धाओं के प्रतिपक्ष में कैसे खड़ा हो सकता है? क्योंकि दलित हों या अन्य जाति के गरीब दोनों दमित हैं। इसीलिए दोनों ही दमितों के हित की बातें करते हैं, शमशेर—"एक-जनता का/दुःख एक/...हवा में उड़ती पताकाएँ अनेक।"[25]

वेद प्रकाश वेद ने एक कविता के माध्यम से जनता के दुख को देखा है जो एक है गहरा है। दुख इतना गहरा कि

चेहरे पर पड़ी संघर्ष की लकीरों को सब्जी बेचने वाला सहज ही पहचान जाता है—"ये लोग तो/दुकानदार समझकर/आगे बढ़ जाते हैं/गुल्लक फोड़ने के समाचार/मेरे शहर में/अखबार में नहीं, चेहरे पर पढ़े जाते हैं।"[26] अभावों के हाथों पलने वाले सुविधाओं के गुलाम नहीं मुसीबतों का सामना करने में सक्षम होते। अभावों में जीते हुए दमित इतना मजबूत हो चुका है कि आग, पानी, बर्फ और वक्त के सामने नंगे होने की कठोरता उसने प्राप्त कर ली हैं यातनाएँ सहने के अटूट सिलसिले से ही पाई है, उन्होंने शक्ति—इस सम्बन्ध में कुमार अम्बुज की कविता बयाँ करती है : "धूल भरे लोगों के लिए/बहुत परिचित है धूल का संसार/वही नष्ट होने से बचाते हैं/वे अपने बीज और धूल को उपजाऊ मिट्टी में बदलते हुए/मिट्टी से सने हुए वे/इस कठोर सर्दी में हँसते हैं/स्पंदित करते हैं समय का वाद्-यंत्र/धूल का संगीत/वैभव के सन्नाटे में गूँजता है।"[27]

रेणु मांटी की उभरती हुई कवयित्री उत्तिमा केसरी की कविताएँ श्रम से जुड़ी दलित स्त्रियों के सच को इस तरह सामने लाती है :

"बुझ-सी गई है। मानो उसने/अब तक नहीं सुना है। चिड़ियों का संगीत/हवा की ठंडी सीत्कार/न ही महसूस की है उसने/बारिश की बूँदों से/उठती/मांटी की सौंधी खुशबू को।" (वह औरत से उद्धृत), उत्तिमा जी की इस कविता में दर्ज है श्रम करने वाली स्त्रियाँ प्रकृति के सौन्दर्य को भी महसूस करने से वंचित हैं। 'माँ' कविता में स्मृतियों से मुक्त नहीं होने का दर्द है : "जो सात घोड़ों पर सवार हो। सात रंगों की/पहुँचा जाते हैं/घर की मुँडेर पर/मेरे और चिड़ियों के/जगने के साथ/"क्योंकि उसकी मुक्ति और संकल्पना की भावनाओं को स्मृतियों की पीड़ाओं ने जकड़ रखा है जो 'एक मुट्ठी आसमान' कविता तक आते-आते शब्द सृजन के जरिये अभिव्यक्ति पाने को आतुर हो उठती है : मैं भी/अपने शब्द सृजन के लिए। ढूँढ़ती हूँ अन्तस में/थोड़ी सी जगह/लिख सकूँ/विस्तार से/अनंत प्रेम कहानियाँ/सदियों तक/सिर्फ उनके लिए।"[28] बहुत सारे दलित लेखक, चिन्तक स्त्री को भी दलित ही मानते हैं। परन्तु स्थापित दलित कवयित्री रजनी तिलक इनसे इनकार करती हुई 'औरत-औरत में अन्तर है' में कहती और मानती है—"एक सताई जाती है स्त्री होने के कारण/दूसरी सताई जाती है स्त्री और दलित होने पर/एक तड़पती है सम्मान के लिए/दूसरी तिरस्कृत है भूख और अपमान से/एक पायलट है तो दूसरी शिक्षा से वंचित है/एक सत्तासीन है तो दूसरी निर्वस्त्र घुमाई जाती है...।"

वेदना और करुणा की कवयित्री महादेवी नारी की इस अन्तर को सम्पूर्णता में बहुत पहले पहचान चुकी थी, तभी तो वह कहती है :

'अलि! मैं कण-कण को जान चली,
सबका क्रंदन पहचान चली।"

खड़ी बोली हिन्दी के जनक एवं आधुनिक काल के साहित्यिक प्रणेता भारतेन्दु का काल दलित साहित्य लेखन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है या नहीं रहा है, इस विवाद में परे बिना ही यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु ने छुआछूत का विरोध किया है : "बहुत हमने फैलाए धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म।" यह क्रम रामचन्द्र शुक्ल, पन्त प्रसाद, निराला एवं महादेवी की रचनाओं में दलित भावनाएँ अभिव्यक्त होते हुए दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रांगेय राघव, शिवमंगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ अग्रवाल, धूमिल, गोरख पांडेय, नाथूरामशर्मा शंकर, डॉ. राज कुमार वर्मा आदि कवियों तक आती हैं। इन कवियों ने दलितों-शोषितों के दुख-दर्द, अत्याचार, अनाचार, छुआछूत जैसी समस्याओं को आधार बनाकर काव्य की रचना की, जिससे दलितों में चेतना जाग्रत हुई। आगे चलकर इस अभियान को जारी रखने वालों में आलोक धन्वा, अरुण कमल, लीलाधर मंडलोई, मंगलेश डबराल, असद जैदी, राजेश जोशी, ज्ञानेन्द्र पति, कुमार अम्बुज, उदय प्रकाश, हेमन्त शेष, एकान्त श्रीवास्तव, नरेन्द्र जैन, सत्यपाल सहगल, हेमन्त कुकरेती आदि समकालीन कवियों का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें हम सिर्फ इसलिए नहीं नकार सकते कि इनका जन्म दलित जातियों में नहीं हुआ है। इनकी कविताओं को सहानुभूति का नाम देकर खारिज नहीं किया जा सकता। यदि खारिज होता है तो गैर-दलित कार्यों में लगे लेखकों, साहित्यकारों की रचना भी तो सहानुभूति ही व्यक्त करता है, क्योंकि जो भी लेखक साहित्यकार है उनके लिए चौराहे पर जूता बनाता 'मोची', सड़क पर झाड़ू लगाता और शौचालय साफ करता 'भंगी' के प्रति वेदना और विद्रोह के फूटे हर शब्द भी तो मात्र सहानुभूति ही है। इतना बूझने-समझने के बाद भी यदि दलित साहित्यकार-चिन्तक गैर दलितों के साहित्य को 'सहानुभूति' का नाम देकर उसे खारिज करते हैं, तो ऐसे तमाम लोगों को मैं 'वितंडावाद' का समर्थक मानता हूँ। ये संवाद से भागने वाले लोग हैं। ऐसे लोगों से इस आलेख के माध्यम से कुछ सवाल करना चाहता हूँ कि क्या 'रामायण' के रचयिता वेदव्यास के साहित्य को दलित साहित्य माना जा सकता है? यदि 'कृष्ण' डंके की चोट पर गुण और कर्म के आधार पर चार वर्णों के निर्माण की घोषणा करते हैं तो इसमें ब्राह्मण कहाँ

दोषी है? वाल्मीकि ऋषि को पंजाब, हरियाणा और दिल्ली के 'भंगी' अपना पूर्वज मानते हुए धूम-धाम से जयन्ती मनाते हैं। वैसे कुछ विद्वान उसे बहेलिया जाति का मानते हैं। यदि रामायण, महाभारत, वेद, पुरान में दलितों-स्त्रियों के खिलाफ विषवमन किया गया है तो उसमें ब्राह्मणों क्या दोष है? ठीक इसके विपरीत ब्राह्मण होकर भी चर्वाक, सिद्ध सरहदपाद, राहुल सांकृत्यायन, निराला, श्रीधर पाठक, नागार्जुन, मुक्तिबोध, आदि ने ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष किया है। ऐसा इसलिए सम्भव हो सका है कि ब्राह्मण एक जाति है और ब्राह्मणवाद एक विचारधारा और विचारधारा का समर्थक सवर्ण-अवर्ण कोई भी हो सकता है। और ब्राह्मणवाद विरोधी भी।

सच्चाई तो यह है कि जहर का प्याला समता चाहने वाले किसी भी जाति में जन्म लेनेवाला पीना पसन्द नहीं करता इसीलिए एक ओर रेणु की धरती पर कवि भोलानाथ आलोक अपनी कविता में सवाल करते हैं : "राजपूतनी की कोख से जन्म लेने का मेरा कसूर बताओ" तो वहीं दूसरी ओर अंग की धरती से कर्ण आवाज देता है : "किन्तु मनुज क्या करे? जन्म लेना तो उसके हाथ नहीं/चुनना जाति और कुल अपने वश की बात नहीं।" यही कारण है कि डॉ. अम्बेडकर ने कहा है : "हमारी नजर ब्राह्मणत्व पर है लेकिन ब्राह्मण लोग हमारे दुश्मन नहीं हैं। ब्राह्मणत्वग्रस्त लोग हमारे दुश्मन हैं।" (महार सत्याग्रह के समय व्यक्त विचार, वर्तमान साहित्य, अप्रैल, 2009, पृष्ठ-18 पर उद्धृत) और अन्त में कहना चाहूँगा कि दलितों-शोषितों की मुक्ति के लिए मार्क्सवादियों और अम्बेडकरवादियों को समन्वय का रास्ता दोनों तरफ से ढूँढ़ना चाहिए। इसके लिए सार्थक संवाद हो दोनों तरफ के लेखकों-चिन्तकों को अपने पूर्वग्रह को छोड़कर इन बातों पर ध्यान देना चाहिए और कार्यरूप में लाना चाहिए कि— मार्क्सवाद यदि मेहनतकशों की मुक्ति का विज्ञान है तो अम्बेडकरवाद भारतीय सामाजिक व्यवस्था में शोषित जनों की मुक्ति का रास्ता है। दोनों विचारधाराओं में एकता नहीं होना, दलितों-मजदूरों के साथ एक षड्यंत्र है, धोखा है। ■

सन्दर्भ

1. पूनम सिंह द्वारा उद्धृत, अविधा, मई 2010, पृ. 26
2. संजय कुमार द्वारा उद्धृत, वर्तमान साहित्य, अप्रैल 2009, पृ. 75
3. वही।
4. डॉ. तेज सिंह, अम्बेडकर साहित्य का समाजशास्त्र, प्रथम संस्करण-2007, पृ. 126
5. श्रीधर ग्रन्थावली, पृ. 4
6. कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 113
7. अछूतों की पुकार-7
8. अछूतों की पुकार-11
9. विमल थोराट, दलित चेतना साहित्य, सम्पादक रमणिका गुप्ता, पृ. 127
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्स! बहुत हो चुका, पृ. 46
11. जय प्रकाश कर्दम, गूँगा नहीं था मैं, पृ. 13
12. कुसुम वियोगी, टुकड़े-टुकड़े दंश, पृ. 21
13. आर.एन. सागर, आजाद हैं हम, पृ. 50
14. जय प्रकाश कर्दम, गूँगा नहीं था मैं, पृ. 66
15. मलखान सिंह, सुनो ब्राह्मण, पृ. 48
16. बी.सी. भारती, आक्रोश, पृ. 45
17. वही, पृ. 44
18. श्याम सिंह 'शशि', एकलव्य और अन्य कविताएँ, पृ. 21
19. हंस : सत्ता विमर्श और दलित, अगस्त 2004, पृ. 190
20. डॉ. राजेन्द्र बड़गूजर द्वारा उद्धृत, बयान, जनवरी-2011, पृ. 40
21. वही, पृ. 44
22. ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्स बहुत हो चुका, पृ. 48
23. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सदियों के संताप से उद्धृत पृ. 48
24. संकल्प : कविता दशक, सम्पादक : केदारनाथ सिंह पृ. 3 से 5
25. समकालीन हिन्दी कविता—ए अरविंदाक्षण द्वारा उद्धृत, पृ. 45
26. हँस लिया फँस लिया, वेद प्रकाश, पृ. 55
27. संकल्प : कविता दशक, सम्पादकः केदारनाथ सिंह, पृ. 175
28. डॉ. तेज सिंह, अम्बेडकरवादी साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 134

छत्तीसगढ़ मित्र और हिन्दी नवजागरण

रमेश अनुपम

माधवराव सप्रे ने जनवरी सन् 1900 से छत्तीसगढ़ के पेण्ड्रा से 'छत्तीसगढ़ मित्र' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। शुद्ध सरल हिन्दी भाषा की मासिक पुस्तक 'छत्तीसगढ़ मित्र' के सम्पादक-द्वय थे पं. रामराव चिंचोलकर तथा माधवराव सप्रे बी.ए. और इसके प्रकाशक थे वामन बलीराम लाखे।

माधवराव सप्रे सन् 1899 में पेण्ड्रारोड गए। पेण्ड्रारोड के राजकुमार को अंग्रेजी पढ़ाने के लिए एक ट्यूटर की आवश्यकता थी। पेण्ड्रा रियासत के राजकुमार जब रायपुर के राजकुमार कॉलेज में पढ़ रहे थे, तब माधवराव सप्रे ही उन्हें ट्यूशन पढ़ाया करते थे। राजकुमार जब अध्ययन के पश्चात् वापस पेण्ड्रारोड लौट आए तब अपनी हिन्दी सुधारने के लिए पेण्ड्रारोड के राजकुमार ने उन्हें पचास रुपए मासिक के वेतन पर ट्यूटर नियुक्त कर पेण्ड्रारोड बुला लिया। पेण्ड्रारोड में पचास रुपए माहवार की नौकरी पा जाने पर माधवराव सप्रे ने हिन्दी की एक मासिक पत्रिका निकालने की योजना बनाई और इस तरह जनवरी सन् 1900 में पेण्ड्रा रोड से 'छत्तीसगढ़ मित्र' का प्रथम अंक प्रकाशित होकर आया। 'छत्तीसगढ़ मित्र' का मूल्य जिसका आकार रायल आठपेजी और पृष्ठ संख्या 32 से 40 तक रहती थी, साधारण ग्राहकों के लिए डेढ़ रुपया, राजा महाराजाओं तथा जमींदारों के लिए पाँच रुपया और विद्यार्थियों के लिए सवा रुपया वार्षिक रखा गया था।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रथम अंक में एक नियमावली प्रकाशित की गई। इस नियमावली में तीसरे क्रम की यह नियमावली 'छत्तीसगढ़ मित्र' के उद्देश्य पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। इस नियमावली में माधवराव सप्रे ने लिखा, "छत्तीसगढ़ विभाग में विद्या की वृद्धि करने के लिए, विद्यार्थियों को द्रव्य की सहायता पहुँचाने के लिए और हिन्दी भाषा की उन्नति करने के लिए यथामति यथाशक्ति तन-मन-धन से प्रयास करना, यही इस पुस्तक के प्रकाशकों का मूल उद्देश्य है।"

'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रवेशांक में ही 'आत्म परिचय' में माधवराव सप्रे ने नियमावली में प्रकाशित अपने उद्देश्यों को ही जैसे विस्तार दिया है। 'आत्म परिचय' में माधवराव सप्रे लिखते हैं—"जिस मध्यप्रदेश में लोकशिक्षा का परिमाण बिल्कुल कम है और उसके जिस विभाग (छत्तीसगढ़) में वह केवल शून्यवत है, वहाँ विद्या-वृद्धि के लिए आधुनिक नूतन मार्ग निकाले जाएँ, भाषा के सुलेखकों को उत्तेजन दिया जाए, ग्रन्थ प्रकाशित करनेवाली सभाएँ बनाई जाएँ और समाचार पत्र तथा मासिक पुस्तक प्रसिद्ध किए जाएँ, यह हमारा अन्तिम उद्देश्य है।"

उपर्युक्त उद्धरण में माधवराव सप्रे मध्यप्रदेश में (छत्तीसगढ़

[illegible] वसु-4, [illegible] कॉलेज कैम्पस, रायपुर, छत्तीसगढ़-492010

सहित) जो हिन्दी भाषा-भाषियों का एक वृहद प्रदेश था, वहाँ विद्या वृद्धि के व्यापक प्रचार-प्रसार करने के लिए नूतन मार्ग प्रशस्त करने की बात करते हैं। नई-नई शालाएँ स्थापित करने तथा विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता प्रदान कर शिक्षा को बढ़ावा देने की कल्पना करते हैं। ग्रन्थ प्रकाशित करनेवाली मण्डलियों का गठन करने, ग्रन्थ लिखने वालों को प्रोत्साहित करने, ग्रन्थ परीक्षक सभाओं का निर्माण करने तथा समाचार पत्रों एवं मासिक पत्रिका के प्रकाशन को वे हिन्दी समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते हैं।

हिन्दी नवजागरण सहित भारतीय नवजागरण में भी समाज सुधारकों एवं लेखकों ने विद्यालय खोलने, समाचार पत्रों एवं मासिक पत्रों का प्रकाशन करने के कार्य को सर्वाधिक महत्व दिया है। इन्हीं माध्यमों के द्वारा हमारे अग्रदूतों ने नवजागरण के दुरूह कार्य को सम्भव बनाने की चेष्टा की है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्ट जैसे लेखकों ने पत्रिकाओं एवं समाचार के माध्यम से हिन्दी समाज को जगाने और नवजागरण के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। इन पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों के माध्यम से शिक्षा को बढ़ावा देने, समाज को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परिचित करवाने, जाति-पाँति, छुआछूत जैसी विषमता को समाप्त करने, अन्धविश्वास की धज्जियाँ उड़ाने, स्त्री शिक्षा और समानता के सवाल पर सर्वसम्मत वातावरण बनाने जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दी नवजागरण के इन अग्रदूतों द्वारा ही सम्भव हुए हैं। नवजागरण के ये अग्रदूत समाज-सुधारक न होकर लेखक-पत्रकार पहले थे, जो अपनी लेखनी के माध्यम से समाज को आगे ले जाने के कार्य में मन-प्राण से जुटे हुए थे।

माधवराव सप्रे भी अपने इन्हीं पूर्वज और समकालीन अग्रदूतों की तरह मासिक पत्र के माध्यम से हिन्दी समाज को जगाने का कार्य करते हैं। माधवराव सप्रे दो बार सरकारी नौकरी के प्रलोभन को ठुकरा चुके थे। पहली बार उनके ससुर लक्ष्मीकान्त होवड़े जो उन दिनों रायपुर में एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर के पद पर कार्यरत थे, उन्होंने अपने प्रभाव का उपयोग कर अंग्रेज अधिकारियों को इस बात के लिए सहमत कर लिया था कि माधवराव सप्रे को नायब तहसीलदार के रूप में सीधे नियुक्ति पत्र दिया जाए। किन्तु माधवराव सप्रे ने अपने ससुर के इस अनुरोध को विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया था।

दूसरी बार पेण्ड्रारोड में जब वे राजकुमार के ट्यूटर के रूप में रहकर 'छत्तीसगढ़ मित्र' का प्रकाशन कर रहे थे उन्हीं दिनों बिलासपुर के असिस्टेंट कमिश्नर दो माह के लिए पेण्ड्रारोड आए। उन्हें मराठी भाषा की विभागीय परीक्षा देनी थी, सो उन्होंने दो माह तक माधवराव सप्रे से मराठी भाषा सीखी। माधवराव सप्रे के व्यक्तित्व एवं ज्ञान से प्रभावित होकर उन्होंने सीधे तहसीलदार के रूप में उनकी नियुक्ति का प्रस्ताव उन्हें भेजा। वेतन था—एक सौ तीस रुपए मासिक, पर इस बार भी माधवराव सप्रे ने सरकारी नौकरी के इस भारी-भरकम प्रस्ताव को भी उसी तरह ठुकरा दिया था।

माधवराव सप्रे ने अपने लिए प्रारम्भ से ही कष्टप्रद और असाध्य मार्ग का वरण किया था। वे जीवनपर्यन्त अमृत नहीं गरलपान की इच्छा रखनेवाले मनीषी थे। फूलों नहीं काँटों से भरे हुए पथ के अथक यात्री थे। 'छत्तीसगढ़ मित्र' उनकी इस दीर्घ यात्रा का प्रारम्भिक चरण था। 'छत्तीसगढ़ मित्र' में उन्होंने तीन वर्ष के अल्पकाल में तथा उसके छत्तीस अंकों के माध्यम से जो कर दिखाया, वह हिन्दी पत्रकारिता तथा हिन्दी नव जागरण की दृष्टि से भी अद्भुत और स्मरणीय कार्य है, अतुलनीय तथा अद्वितीय घटना है। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से उन्होंने हिन्दी प्रदेशों में शिक्षा के व्यापक प्रसार से लेकर स्त्री शिक्षा और स्वतंत्रता, भाषा के नूतन परिष्कार, किसानों की दशा, राष्ट्र प्रेम से सम्बन्धित निबन्धों का प्रकाशन कर हिन्दी समाज को जाग्रत् करने का कार्य किया।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रथम वर्ष के पाँचवें अंक मई सन् 1900 में उन्होंने 'कृषि की वर्तमान दशा' शीर्षक से एक सवैया का प्रकाशन किया। सम्भवतः यह उन्हीं की रचना है। इसका प्रारम्भ उन्होंने इस प्रकार किया—

"सम्प्रति की कृषि कुदशालखि, शोक तरंग उठै मनमाहीं।
नाव चलै जिमि नीर निधी पर होत खलावल त्यों उरमाहीं॥
काह भाई! अपनी जननी अस रुष्ट प्रजा पर कष्ट सहाहीं।
भूरि फलप्रद सो फल दा लघु होय गई कछु कारण नाहीं॥"

भारतीय कृषकों की वर्तमान दशा देखकर लिखे गए इस कवित्त में किसानों की वेदना और पीड़ा को व्यक्त किया गया है। कृषि की वर्तमान दशा के बहाने माधवराव सप्रे ने भारतीय किसानों की वर्तमान दशा को इस कवित्त में चित्रित किया है। एक साहित्यिक पत्रिका में इस तरह का क्रान्तिकारी कार्य केवल माधवराव सप्रे के लिए ही सम्भव था। एक साहित्यिक पत्र में किसानों की दुर्दशा पर वे ही लिख सकते थे।

इसी अंक में पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पर एक लेख प्रकाशित किया गया है। इस लेख में लेखक का नाम नहीं है, जिससे प्रतीत होता है कि यह लेख स्वयं माधवराव सप्रे ने ही

लिखा होगा। माधवराव सप्रे ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विषय में अपने इस लेख में लिखा है—"सन् 1854 में इन्होंने 'विधवा विवाह' विषय पर एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की। इस समय ऐसे विषय का प्रतिपादन करना और उस पर कोई पुस्तक लिखने का साहस करना केवल उपहास और निन्दा करा लेने का मार्ग था। पर नहीं, जो बात उनके स्वाभिमानी मन को प्रशस्त मालूम हुई उसका शास्त्रोक्त रीति से मंडन करना ही उन्होंने अपना कर्त्तव्य कर्म समझा।"

इस लेख के माध्यम से माधवराव सप्रे भारतीय नवजागरण के एक प्रमुख अग्रदूत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, जिनका नाम राजराममोहन राय के साथ ही अत्यन्त सम्मानपूर्वक लिया जाता है, उनके द्वारा चलाए गए एक महती अभियान विवाह के बारे में नए सिरे से हिन्दी समाज को परिचित करवाने का काम कर रहे थे।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के अपने लेख में पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पर लिखते हुए माधवराव सप्रे आगे कहते हैं, 'सुहृदय पाठकों को मालूम हुआ होगा कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का चरित्र कितना निर्मल और अनुकरणीय है। इनका पहिराव प्राचीन काल के वंग पंडित का सादा और स्वच्छ रहता था। सत्य देशाभिमान और भूतदया किसे कहते हैं यह तो इन्हीं को ज्ञात था। किसी काम को करने में सिर्फ हलचल मचा देना ही अच्छा नहीं, किन्तु देशबन्धुओं की ओर से प्रशंसा न रखकर, शान्त और निष्कपट होकर लोकहित का कार्य सम्पादन करना, इसी में सचमुच बढ़ाई है। इनकी समझ ठीक ऐसी ही थी।'

माधवराव सप्रे द्वारा सन् 1900 में प्रकाशित यह लेख जो 'छत्तीसगढ़ मित्र' के चार पृष्ठों में प्रकाशित है, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के व्यक्तित्व और उनके द्वारा भारतीय नवजागरण के क्षेत्र में दिए गए महत्वपूर्ण योगदान की याद दिलानेवाला अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख है।

भारतीय नवजागरण के केन्द्र में भारतीय नारी की स्वायत्तता और स्वतंत्रता प्रमुख मुद्दा था। राजा राममोहन राय सती प्रथा का विरोध करके और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर विधवा विवाह को प्रोत्साहित करके भारतीय नारी को भी पुरुष प्रधान समाज में सम्मानपूर्वक जीने की लड़ाई लड़ रहे थे। भारतीय नारी शिक्षित हों, उन्हें पुरुषों के समान समानता का दर्जा मिले इसकी लड़ाई दयानन्द सरस्वती सहित भारतीय नवजागरण के हमारे अनेक अग्रदूत लड़ रहे थे।

माधवराव सप्रे 'छत्तीसगढ़ मित्र' में प्रारम्भ से ही नारी शिक्षा और समानता सम्बन्धित महत्वपूर्ण सवालों को अपने लेख के माध्यम से उठा रहे थे। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के वर्ष-1, अंक-9, सितम्बर सन् 1900 के अंक में माधवराव सप्रे का एक लेख है 'नारी शिक्षा'। इस लेख में दो पात्र आपस में रोचक ढंग से वाद-विवाद संवाद करते हैं। एक नारी शिक्षोत्साही है और दूसरा नारी विरोधी। नारी शिक्षोत्साही के मुँह से माधवराव सप्रे कहलाते हैं—"कहिए क्या यह महान् लज्जा की बात नहीं है कि जिस देश के पुरुष अनेक वेद शास्त्र विशारद सर्वगुण विभूषित हों वहाँ की स्त्रियाँ ऐसी मूर्ख और जंगली दशा में रहें। सच तो यह है कि यह उनका दोष नहीं, किन्तु पुरुषों का ही दोष है क्योंकि विद्या का प्रचार न होने से उनको तो यह ज्ञात भी नहीं कि उनका कर्तव्य क्या है?"

अपने इस लेख का प्रारम्भ ही माधवराव सप्रे इन शब्दों से करते हैं कि प्रथम यह वर्णन हो चुका है कि हमारे देशहित साधन को विभिन्न शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है और जब तक विविध प्रकार की शिक्षा तथा मानसिक, क्रमिक, धार्मिक, नैतिक, राजकीय और औद्योगिक इत्यादि संग ही प्रदान न की जावेगी, यह देश कभी उन्नति के सोपान पर पद न रखेगा। यहाँ देश शब्द का अर्थ देशवासी है और देशवासी कहने से नर और नारी दोनों ही का ज्ञान होता है, इसलिए विविध शिक्षाओं का उल्लेख करने के पहले इस बात का निर्णय करना अत्यावश्यक जान पड़ता है कि स्त्रियों को भी शिक्षा देनी उचित है या नहीं। यदि हमारे देश में स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करने की प्रथा प्रारम्भ ही से होती तो इस प्रश्न का आविर्भाव कदापि न होता, परन्तु हमारे देश के बहुत से मान्य पुरुष भी स्त्री शिक्षा के विरोधी हैं, इसी कारण यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः अशिक्षित हैं।

सन् 1900 में हमारी सामाजिक स्थिति कैसी थी? औपनिवेशिक भारत में ज्ञान-विज्ञान को लेकर हमारे समाज में किस तरह की कूपमंडूकता थी, स्त्रियों की शिक्षा को लेकर हमारे विचारों का मॉडल क्या था? यह सब माधवराव सप्रे के इस लेख के माध्यम से भली-भाँति समझा जा सकता है। हिन्दी प्रदेशों में स्त्री शिक्षा की स्थिति क्या थी, पुरुषप्रधान समाज में स्त्रियों को लेकर हमारे मन में किस तरह के विचार उमड़-घुमड़ रहे थे? किस तरह हमारा समाज स्त्री-विरोधी समाज की प्रेतछाया से निकलने के स्थान पर उससे और अधिक प्रभावित होता जा रहा था? माधवराव सप्रे इन सारे विषयों को लेकर इस लेख में अपनी चिन्ता को प्रकट करते हैं और स्त्री-शिक्षा तथा समानता के पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं।

छत्तीसगढ़ के एक अल्पज्ञात कस्बे पेण्ड्रारोड से सन् 1900 से 'छत्तीसगढ़ मित्र' जैसे मासिक पत्र के सम्पादन प्रकाशन का जोखिम उठानेवाले और स्त्री-शिक्षा के पक्ष में सीधे-सीधे तथा खुल्लम-खुल्ला लेख लिखनेवाले माधवराव सप्रे के साथ हिन्दी

साहित्य के कर्णधारों ने कभी न्याय नहीं किया। हिन्दी नवजागरण पर सर्वाधिक चर्चा करनेवाले मनीषियों ने भी न तो माधवराव सप्रे पर और न ही उनके द्वारा हिन्दी नवजागरण के क्षेत्र में किए गए महत्त्वपूर्ण कार्यों पर कभी अपनी कलम की स्याही को व्यर्थ करना जरूरी समझा।

माधवराव सप्रे ने निरन्तर 'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से नारी शिक्षा की पुरजोर वकालत की। वे जानते थे कि नारी शिक्षा के बगैर इस देश में जागृति नहीं आ सकती है। स्त्रियों के शिक्षित हुए विना यह समाज और देश कभी जाग नहीं सकता है और जो देश या समाज नहीं जागेगा वह स्वाधीनता के स्वप्न भी भला किस प्रकार देख पाएगा। यह माधवराव सप्रे भली-भाँति जानते थे।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के अगले अंक (अंक-10, अक्तूबर, 1990) में पुनः इस लेख 'नारी शिक्षा' का दूसरा भाग प्रकाशित किया गया है। इस लेख में भी पूर्व की भाँति नारी शिक्षोत्साही और नारी शिक्षा विरोधी के मध्य संवाद है। इस अंक में नारी शिक्षोत्साही नारी-शिक्षाविरोधी से संवाद करते हुए नारी शिक्षा के पक्ष में अपनी बात कहते हैं—"स्त्रियों की शिक्षा प्रदान करने से पुरुषों की शिक्षा में भी उन्नति होना सम्भव है क्योंकि ऐसे समय में अशिक्षित रहना पुरुषों के लिए बड़े लज्जा की बात होगी। यदि स्त्रियाँ अधिक जानें तो पुरुषों को अवश्य अधिक जानना होगा और लोक में शिक्षा पाने की परिपाटी हो जाएगी। इससे सिद्ध होता है कि स्त्रियों का शिक्षित रहना ही अच्छा है।"

इस लेख का अन्त माधवराव सप्रे इस प्रकार करते हैं—"इसके पश्चात् दोनों प्रतिवादी एक-दूसरे से हृदय मिल प्राण समान मित्र हो गए।" अर्थात् नारी शिक्षा विरोधी नारी शिक्षा का पक्षधर हो गया। जीत नारी शिक्षोत्साही की हुई। इस प्रकार माधवराव सप्रे 'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से सहज सरल और रोचक भाषा में हमारे समाज की जागृति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नारी शिक्षा जैसी गम्भीर समस्या को न केवल तत्परतापूर्वक उठा रहे थे बल्कि उसके पक्ष में जनमत भी तैयार कर रहे थे।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह कोई हँसी-मजाक या आसान कार्य नहीं था। अज्ञानता में डूबे हुए हिन्दी समाज को ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाने की चेष्टा करना कोई छोटी-मोटी बात नहीं थी। भारतीय नारी व अछूतों के बारे में सोचना ही उस समय अधर्म की कोटि का कार्य माना जाता था। स्त्री शिक्षा को लोग हेय दृष्टि से देखते थे तथा इसे समाज के लिए घातक मानते थे। अज्ञानता और पुरातनपन्थी परम्पराओं में जकड़े हुए भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा की बात करना या उसका पक्ष लेना ही समाज से बहिष्कृत हो जाना था। ऐसे विकट समय में माधवराव सप्रे 'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रकाशन वर्ष सन् 1900 से ही नारी शिक्षा के पक्ष में जनमत बनाने का कार्य कर रहे थे, जिसके लिए माधवराव सप्रे जैसे लेखक, पत्रकर सुधारक की जितनी भी प्रशंसा की जाए वह कम होगी।

भारतीय नवजागरण की भाँति हिन्दी नवजागरण में भी नारी शिक्षा और समानता के सवालों को गम्भीरता से उठाया गया है। समाज के जागरण में इसे प्रमुख स्थान दिया गया है। भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण दोनों ही नवजागरण में यह अद्भुत समानता थी कि भारतीय नारी के उत्थान के प्रश्न को सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न माना गया। यह एक सपना सा लगता है कि माधवराव सप्रे छत्तीसगढ़ के एक सुदूर गाँव पेण्ड्रा रोड में बैठकर 'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से सम्पूर्ण हिन्दी भाषी समाज में नारी उत्थान का अलख जगा रहे थे।

स्त्री शिक्षा और स्त्री पुरुष समानता को लेकर माधवराव सप्रे 'छत्तीसगढ़ मित्र' में लगातार लेख लिखते हुए और बहस करते हुए दिखाई देते हैं। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के सन् 1902 के सितम्बर-अक्तूबर अंक में 'पुरुषों के कर्तव्य' नाम से एक लेख प्रकाशित है—यह लेख सौभाग्यवती श्रीमती चन्द्रप्रभा बाई का है जो मूल रूप से मराठी मासिक मनोरंजन में प्रकाशित हुआ है। माधवराव सप्रे ने इस लेख का हिन्दी अनुवाद स्वयं किया है। यह लेख चूँकि एक स्त्री द्वारा लिखा गया है इसलिए भारतीय स्त्रियों की व्यथा और पीड़ा का सटीक चित्रण है। माधवराव सप्रे का हिन्दी अनुवाद इस तरह है : 'इधर कई सौ वर्षों से समाज में यह मत प्रचलित हो गया है कि स्त्री जाति मनुष्य जाति से नीची है, स्त्री किसी प्रकार के सम्मान पाने का अधिकार नहीं रखती, वह अपने पति की सेवा करके घर में दासी की बाई रहे इत्यादि। स्त्री का यह धर्म ही है कि वह अपने पति की सेवा करे, परन्तु क्या यह अच्छी बात है कि इसके बदले पति अपनी स्त्री का निरादर करे और अपशब्दों से उसके कोमल अन्तःकरण को दूषित कर उसे लात या डंडे से मारे।'

आगे सन् 1902 के नवम्बर अंक में भी इस लेख के शेष हिस्से को 'छत्तीसगढ़ मित्र' में प्रकाशित किया गया है। यह लेख एक तरह से सुचिन्तित तथा विचारणीय लेख है। नवम्बर में प्रकाशित इस लेख में पुरुषों को कठघरे में खड़े करने का प्रयास किया गया है, जो उचित ही है। इस लेख में स्त्री-शिक्षा के लिए दोषी समाज और पुरुषों की खबर ली गई है—'बहुत

से लोग कहा करते हैं कि इस देश की स्त्रियाँ अशिक्षित होती हैं। हाँ, यह बात सच है कि हमारे यहाँ ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम हैं जो लिखना-पढ़ना अच्छी तरह जानती हों पर यह दोष किसका है? क्या उन पुरुषों ने जो अपनी व्यस्तता में स्त्रियों की सदैव निन्दा किया करते हैं, कभी अपनी बहन, बेटी या पत्नी को स्वयं शिक्षा देने का कुछ उपाय किया है? यदि स्त्रियों को उनके पति के द्वारा प्रतिदिन एक घंटे तक भी शिक्षा मिले तो बहुत कुछ सुधार हो सकता है। पर यह सुधार करे कौन? हमारे देश के पुरुषों को इतना अवकाश ही नहीं।'

नारी शिक्षा को लेकर सम्पूर्ण हिन्दी नवजागरण में इतनी बेचैनी, इतनी चिन्ता और कहाँ दिखाई देती है? बावजूद इसके माधवराव सप्रे और उनके द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'छत्तीसगढ़ मित्र' की चर्चा हिन्दी नवजागरण के क्षेत्र में अब तक क्यों नहीं है? यह हमारे लिए सचमुच आश्चर्यजनक है।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के अप्रैल सन् 1901 के अंक में माधवराव सप्रे का एक लेख प्रकाशित है। नाम है 'सृष्टि निरीक्षण'। पर माधवराव सप्रे का 'सृष्टि निरीक्षण' कुछ अपूर्व और अनोखा है। सृष्टि को देखने की दृष्टि दूसरों से अलग और विशिष्ट है। 'सृष्टि निरीक्षण' में भी अवसर मिलते ही वे भारतीय नारी की अशिक्षा के सवाल को उठाने से नहीं चूकते। यहाँ भी उनका दृष्टान्त कुछ चुटीला, मनोरंजक पर हृदयग्राही है। उनके तर्क अकाट्य हैं, विचार, चिन्तन-मनन योग्य। देखिए—"इसी (स्त्री शिक्षा और शिशु शिक्षा) के अभाव में हम लोगों में सृष्टि के विषय में अज्ञान और उदासीनता भरी हुई है। आंग्ल माता और बालक तथा हिन्दू माता और बालक की इस विषय में तुलना कर देखिए तो सत्य स्थिति आप ही आप प्रकट हो जाएगी जब कोई हिंदू बालक अपनी माता से प्रकृति के किसी दृश्य अथवा किसी पदार्थ के विषय में कुछ पूछता है तो बेचारी माता जवाब देते-देते हैरान हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब बादल गरजते हैं और बालक पूछता है कि यह क्या हो रहा है तो माता कहती है कि बेटा, आसमान में हाथी दौड़ रहे हैं और जब बालक पूछता है कि माँ आसमान में हाथी कहाँ से आए तो जवाब मिलता है कि इन्द्र महाराज के हाथी हैं। बालक की जिज्ञासा तीव्र होती है। वह इस प्रकार के जवाब से सन्तुष्ट नहीं होता।"

'छत्तीसगढ़ मित्र' के अक्टूबर 1901 के अंक में एक छोटी-सी टिप्पणी माधवराव सप्रे की प्रकाशित हुई है। यह टिप्पणी 'छत्तीसगढ़ मित्र' के ग्राहकों के लिए है। एक तरह से उनके लिए अपील है। इस छोटी सी टिप्पणी में माधवराव सप्रे स्वदेश प्रेम की चर्चा करना नहीं भूलते हैं। स्वदेश प्रेम माधवराव सप्रे के मन में जैसे कूट-कूट कर भरा हुआ है। वे 'छत्तीसगढ़ मित्र' के ग्राहकों के लिए प्रकाशित इन दस पंक्तियों की व्यंग्य प्रधान टिप्पणी 'मतलब की बातें' में लिखते हैं—"देशाभिमान कोरी बातों में नहीं है। जो अपने देश के लिए शारीरिक मेहनत करता है। जो देश कार्य में पूरा-पूरा तन मन लगाता है और जो स्वदेशहित साधनार्थ केवल धन ही नहीं किन्तु जीव भी अर्पण कर देता है वही देश का सच्चा प्रेमी है। चिराग का उजाला तभी तक रहता है जब तक उसके तेल में बत्ती जला करती है। क्या हमारे हिन्दुस्तान में ऐसे चार आदमी हैं कि जो अपने देश का प्रकाश फैलाने के लिए उसके स्नेह (तेल) में अपने को दिन-रात जलाया करते हैं।"

माधवराव सप्रे के मन में स्वदेशप्रेम का अर्थ था जो स्वयं को देश के लिए अर्पित कर दे। धन से ही नहीं, तन और मन से भी। स्वयं तन-मन-धन से राष्ट्रप्रेमी थे। हिन्दी नवजागरण में राष्ट्रप्रेम, स्वदेश प्रेम से बढ़कर कोई और नहीं। हिन्दी नवजागरण में हिन्दी नवजागरण के जिन अग्रदूतों ने स्वदेश प्रेम की उत्कंठा को हिन्दी समाज में जन्म दिया, पल्लवित और विकसित किया उनमें माधवराव सप्रे और उनका मासिक पत्र 'छत्तीसगढ़ मित्र' भी एक है। माधवराव सप्रे ने 'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से स्वदेश प्रेम को अलग-अलग रूपों में चित्रित किया है और स्वदेश प्रेम, देशभक्ति उनके लिए जैसे सर्वोच्च मूल्य हैं।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के मार्च 1902 के अंक में उनका एक लेख है 'यह विद्रोह नहीं देशभक्ति है।' यह स्कॉटलैंड के एक क्रान्तिकारी नायक सर विलियम वालेस पर केन्द्रित है। स्कॉटलैंड के इतिहास की एक सच्ची घटना को उन्होंने अपने इस लेख का आधार बनाया है। अपने इस लेख को उन्होंने 'एक ऐतिहासिक सत्य घटना' कहा है। वे अपने इस लेख का प्रारम्भ इन शब्दों में करते हैं—"स्कॉटलैंड का राजा तृतीय अलेक्जेंडर जब परलोक सिधारा तो उस समय इंग्लैण्ड के राजा प्रथम एडवर्ड ने स्कॉट लोगों पर अपना साम्राज्य स्थापित कर दिया। स्वराज्य के समय स्कॉट लोगों को बहुत कम कर देना पड़ता था और सब कर्मचारी को स्वदेशी होने के कारण किसी प्रकार का अन्याय या कष्ट नहीं होता था। इससे वहाँ की सब प्रजा सुख और चैन से रहती थी। परन्तु ज्यों ही वह देश एडवर्ड प्रथम के अन्धकार में आया त्यों ही उसने लोगों पर कई नए कर लगाए और अंग्रेज अफसरों को वहाँ भेजकर सख्ती करना आरम्भ किया।"

अब इस उद्धरण को भारत के सन्दर्भ में रूपान्तरित करके देखें। यहाँ भी इंग्लैण्ड का ही प्रभुत्व था। यहाँ भी

बेइन्तिहा कर जनता पर लगाए गए थे। अंग्रेज अफसर यहाँ भी सख्ती कर रहे थे। माधवराव सप्रे जैसे अपने इस ऐतिहासिक लेख में स्कॉटलैंड को एक रूपक के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। स्कॉटलैंड की जगह भारत को रखकर देखने से इस उद्धरण में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। स्कॉटलैंड और भारत की परिस्थितियाँ जैसे एक-दूसरे में घुल-मिल जाती हैं। इस ऐतिहासिक लेख के अन्त में माधवराव सप्रे लिखते हैं—"अंग्रेज सरदारों ने वालेस के अपराधों की जाँच और उस पर राजद्रोह का अभियोग लगाया। अपनी यह दशा देख वालेस ने उत्तर दिया कि एडवर्ड मेरा राजा नहीं है और न मैं उसकी प्रजा हूँ। इसलिए मुझ पर जो अभियोग लगाया जाता है, वह विद्रोह नहीं स्वदेश भक्ति है।"

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि माधवराव सप्रे विद्रोह को स्वदेश भक्ति की संज्ञा दे रहे हैं। स्कॉटलैंड के इतिहास से एक सच्ची और प्रामाणिक घटना को विषयवस्तु बनाकर लिखते हुए वे विद्रोह और स्वदेशभक्ति को एक मानते हैं। तत्कालीन भारत की परिस्थितियों पर, इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो उस पराधीन समय में जो भारतवासियों द्वारा स्वाधीनता के लिए जो कुछ भी उद्यम किया जा रहा था, उसे अंग्रेज विद्रोह मानते थे, जबकि देशवासी इसे स्वदेश भक्ति मानते थे। माधवराव सप्रे अपने इस निष्कर्ष के माध्यम से हिन्दी समाज में स्वदेश भक्ति का ही जैसे शंखनाद कर रहे थे। हिन्दी समाज को राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए प्रेरित कर रहे थे। उन्हें राष्ट्र की भक्ति का पाठ पढ़ा रहे थे। कभी इतिहास की घटना के द्वारा तो कभी भारतीय नवजागरण के अग्रदूतों पर लेख लिखकर, तो कभी स्वतंत्र लेखों के माध्यम से।

'छत्तीसगढ़ मित्र' में माधवराव सप्रे बाबू सत्येन्द्र नाथ टैगोर, दादाभाई नौरोजी, ऐनी बेसेंट, स्वामी विवेकानन्द की जीवनी भी प्रकाशित कर रहे थे। स्वामी विवेकानन्द के विषय में लिखते हुए माधवराव सप्रे ने कहा, 'शोक है कि अब वह विशाल मूर्ति हमारी दृष्टि से अलग हो गई। हाय! अमेरिका में जाकर हिन्दुस्तान के धर्म का डंका बजाने वाला अब इस संसार में नहीं है। भारत का धर्म-दीप बुझ गया। कार्यभूमि का एक सच्चा संन्यासी समाधिस्थ हो गया। हिन्दुस्तान की गिरती दशा में जिसने अपने भाइयों को नींद से जगाकर सचेत किया वह अवतारी पुरुष धर्म के आकाशों में दैदीप्यमान तारे की नाई एक बार चमक लुप्त हो गया।'

'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रकाशन के तीन वर्षों में (जनवरी 1900 से दिसम्बर 1902) वे हिन्दी समाज को नए सिरे से तथा बहुविध तरीकों से जगाने का ही कार्य कर रहे थे। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के कुल छत्तीस अंक इसके साक्ष्य हैं कि माधवराव सप्रे ने किस प्रकार अपने लेखों और सम्पादकीय कौशल से वृद्ध एवं निष्प्राण हिन्दी समाज में प्राण फूँकने का कार्य किया, उसे गहरी नींद से जगाने और ज्ञान-विज्ञान के पथ की ओर आगे बढ़ाने का कार्य किया।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रकाशन के इन तीन वर्षों में माधवराव सप्रे को बहुत अधिक घाटा उठाना पड़ा। छत्तीसगढ़ के प्रकाशन के पहले वर्ष 175 रुपए तथा दूसरे वर्ष 118 का घाटा माधवराव सप्रे को उठाना पड़ा। इतना भारी कर्ज चुका पाना माधवराव सप्रे के बूते की बात नहीं थी। सो काफी दुख के साथ उन्हें दिसम्बर 1902 के 'छत्तीसगढ़ मित्र' के अन्तिम अंक के साथ विदा लेना पड़ा। पेण्ड्रारोड छोड़कर उन्हें नागपुर जाना पड़ा। पर 'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रकाशन के इन तीन वर्षों में लगातार 36 अंक प्रकाशित कर माधवराव सप्रे ने एक कीर्तिमान रच दिया था। कहना न होगा कि हिन्दी नवजागरण के क्षेत्र में 'छत्तीसगढ़ मित्र' और उसके सम्पादक माधवराव सप्रे की अप्रतिम भूमिका को भुला पाना हमारे लिए सदैव एक कठिन कार्य होगा। ■

वह कुलीन मैथिली की कन्या
फिर-फिर सुनने लगी वह आवाज...
'हम भी मछली, तुम भी मछली
दोनों ही उपभोग की वस्तु हैं'..."

• नागार्जुन, 'तालाब की मछलियाँ'

मैथिली लोकगीत और स्त्री

अभिषेक रोशन

भारतीय समाज स्त्री को चौखट और चारदीवारी में कैद रखनेवाली और उसे उपभोग की वस्तु माननेवाली मानसिकता का समाज रहा है। इस समाज में परिवार की कुलीनता की सीमा स्त्री की गुलामी से तय होती रही है। स्त्री की आत्माभिव्यक्ति, उसके आचार-विचार और व्यवहार समाज की तथाकथित नैतिकता और भेदधर्मी कायदे-कानून द्वारा तय होते रहे हैं। इस चौखट-चारदीवारी और कायदे-कानून की कठोर उपस्थिति में समाज की कुछ ऐसी लोक-परम्पराएँ भी विकसित होती रही हैं जो स्त्री की गुलाम और गुमनाम जिन्दगी में एक समय और सीमा तक ही सही, उसकी आत्माभिव्यक्ति, उसके आचार-विचार और व्यवहार में खुलेपन का साध्य और साधन रही हैं। किसी भी समाज की लोक-परम्परा उस समाज के लोकविश्वास, लोक-व्यवहार और लोक भ्रमों के द्वारा विकसित होती है। इस लोक परम्परा को जीवन्त और जाग्रत् रखने का सबसे सशक्त माध्यम लोकगीत होता है। ये लोकगीत समाज की आशा-निराशा, संघर्ष-सपने लोक-विश्वास और लोक भ्रम के गीत-संगीत होते हैं जहाँ जिन्दगी जीने की झंकार होती है। किसी समाज या समुदाय की लोक परम्परा और लोकगीत में उस समाज या समुदाय के आचार-विचार और व्यवहार की झलक होती है। इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन लोक-परम्पराओं और लोकगीतों के माध्यम से स्त्री समाज द्वारा लादी गई बन्दिशों में ढील आती है, उसकी पीड़ा और प्रताड़ना को अभिव्यक्त करने का एक माध्यम मिलता है। यह अकारण नहीं है कि लोकगीतों का अधिकांश हिस्सा स्त्री कंठ के ही आभरण हैं और उसी के द्वारा परम्परा में जीवित है। मैथिली लोकगीतों के सन्दर्भ में यह बात सौ फीसदी सही जान पड़ती है।

मैथिली लोकगीत की समृद्ध और समुन्नत परम्परा रही है। ये लोकगीत मैथिल समाज के विभिन्न उत्सवों, त्योहारों और समाजों के विभिन्न आचार-विचार से सम्बन्धित हैं। इन लोकगीतों में जीवन के यथार्थ की झलक मिलती है। मिथिला क्षेत्र में कुछ लोक-परम्पराएँ ऐसी भी हैं जो स्त्री की घुटन और बन्दिश भरी जिन्दगी में राहत प्रदान करती हैं। मैथिल समाज में पुत्र-जन्म, छठी या बरही के समय 'सोहर' गाने की परम्परा है। सोहर के गीत उल्लास और उमंग के

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी एवं भारत अध्ययन विभाग, अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, तारनाका, हैदराबाद-500007

गीत हैं, पर इस गीत के माध्यम से स्त्री-जीवन की सच्चाई सामने आती है। मैथिली के एक सोहर में निःसंतान और परिवार में प्रताड़ित स्त्री की पीड़ा उभरकर सामने आई है। इसके दुःख और प्रताड़ना की प्रगाढ़ता को पति की अनुपस्थिति और बढ़ा देती है। पति कमाने के लिए 'विदेस' गया हुआ है, ऐसे में वह अपने दुःखों का बयान किससे करे। वह पक्षी से अपना संवाद स्थापित करती है–

"आरे-आरे प्रेम चिड़इया झरोखा चढ़ि बोल रे।
ललना, पिया मोरा गेल विदेस विदेसे गर छाओल रे॥
सासु मोरा निसिदिन मारए ननद गरियावए रे।
ललना, गोतनि कएल तरमेन बझिनया गरछओलोत रे॥..."

पति की अनुपस्थिति और निःसंतानता स्त्री की पीड़ा और प्रताड़ना को और कठोर बना देती है। वह पक्षी में अपने प्रति सहानुभूति पाती है और उससे अपनी आपबीती सुनाती है। यह लोक मान्यता है कि कौए का बोलना किसी प्रिय के आगमन का सूचक होता है। मिथिला के समाज में भी यह लोकमान्यता व्याप्त है। वह स्त्री कौए को बोलते देख खुश होती है और उससे पूछती है कि हे कौए! मेरे पिताजी आ रहे हैं या मेरे भाई? इस सोहर में कौए का जवाब उस दुःखी को शान्ति पहुचौंनेवाला है। कौआ कहता है कि–

"नए तोरा रानी हे बबा अयता नए तोरा भया अयता रे।
ललना, होरिल सगुनमा लए अइली त बोलिया बर सोहावन रे।।"

कौए द्वारा पुत्र-प्राप्ति का आश्वासन निःसंतान स्त्री के दुःखों को हल्का करता है। मैथिली के अनेक सोहरों में स्त्री की व्यथा, सास की प्रताड़ना, ननद की गाली के प्रसंग उल्लिखित हैं। लोकगीतों में लोक-दृष्टि की प्रधानता होती है, यहाँ अभिजन दृष्टि का अभाव रहता है। इसलिए इन लोकगीतों में लोक में प्रतीक, मान्यता की प्रधानता होती है। स्त्री की बाईं आँख का फड़कना किसी शुभ संकेत का सूचक माना जाता है। मिथिला के एक 'चैतावर' गीत में एक भाभी अपनी ननद से कहती है कि "बाईं आँख मोरा फरके ही ननदी, पिया आजु अयातह।" स्त्री के दुःख और दर्द के अनेक कारण हैं। परिवार चलाने के लिए पति को परदेस जाकर पैसा कमाना पड़ता है। पत्नी अकेली विरह में तपती है। मैथिली के अनेक लोकगीतों में विरह में तपती स्त्री का चित्रण है। गौरतलब है कि इस विरह का कारण सामाजिक कम, आर्थिक ज्यादा है।

मैथिली के लोकगीत स्त्री-जीवन के दुःख-दर्द को अभिव्यक्ति देते नजर आते हैं। समाज और परिवार की बन्दिश के दबाव के बीच ये गीत स्त्री की आत्माभिव्यक्ति, उसके दुःख और प्रताड़ना का सजीव और मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं। मैथिली में 'समदाउनि' नामक लोकगीत गाने की परम्परा है। यह लोकगीत बेटी की विदाई के समय गाया जाता है। इस गीत में माँ-बेटी के बीच स्नेह और ममत्व का मार्मिक और करुण वर्णन मिलता है। स्त्री-जीवन की यह सच्चाई है कि उसे अपनी माँ का घर छोड़ दूसरे घर जाना पड़ता है। बिल्कुल नए और अनजाने परिवेश में उसे अपने-आपको स्थापित करना पड़ता है। 'समदाउनि' लोकगीत में इस स्थिति और परिस्थिति की यथार्थ अभिव्यक्ति मिलती है और स्त्री-जीवन की सच्चाई सामने आती है। मैथिली के एक समदाउनि गीत की एक पंक्ति है–

"धिया क जनम जनि दियह विधाता,
धिया डूबथि बिच धार..."

'धिया डूबथि बिच धार' अर्थात् लड़की बीच मँझधार में डूब जाती है। इस पंक्ति में स्त्री-जीवन के दुःख की अभिव्यक्ति हुई है, पर साथ में यह इस समाज-व्यवस्था पर सवाल भी उठाती है जो लड़की के जीवन को नारकीय बनाती है और उसकी पीड़ा और प्रताड़ना का कारण बनती है। मैथिली के 'समदाउनि' गीत अपनी मार्मिकता के लिए विख्यात हैं। बेटी की विदाई के समय पूरा समाज तो रो ही रहा है पर उसके साथ-साथ पशु-पक्षी भी रो रहे हैं–

"हाथी जे रोवै रामा रोवै हथिसरवा
घोड़ा जो रोवै घोड़सरवा हे सखिया..."

किसी भी लोक की सामाजिकता मात्र मनुष्यों से नहीं, बल्कि पशु-पक्षी और जीवन जगत् से जुड़े अनेक प्रसंगों से पूरी होती है। मैथिली लोकगीत इस बात का अद्भुत और अचूक प्रमाण है।

मैथिली के लोकगीत संवादधर्मी हैं। इस गीत में स्त्री मुखर है, उसपर संकोच की छाया मात्र नहीं है। वह तथाकथित सामाजिकता और लोक-लाज को त्यागकर अपने दिल की बात करती है। आम जिन्दगी में पत्नी अपने पति के साथ बिताए रोचक प्रसंगों की चर्चा करने में संकोच करती है, पर वह इन गीतों में खुलकर बिल्कुल झरने के समान अपने भावों को व्यक्त करती है। मैथिली के एक 'चैतावर' गीत में एक स्त्री अपनी सखी से कहती है कि रात 'पिया' घर आएँगे, मैं उनके गले से लिपट जाऊँगी-

"रात होत पिया घरवा में अयातह,
सेजिया झारि गले लपटायताह रामा..."

लोकगीत लोक-संस्कृति का प्रतिबिम्ब होता है और लोक-संस्कृति में श्रम की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। मैथिली

के लोकगीत समाज के श्रम की संस्कृति को उजागर करते हैं। ये गीत बैठे ठाले आरामतलब लोगों के गीत नहीं हैं। इसलिए उक्त पंक्ति में पति के रात में घर आने की बात कही गई है। पति दिन में खेत-खलिहानों में काम करता है, पत्नी भी घर और बाहर के अनेक कामों में व्यस्त रहती है। पत्नी और पति का आपसी मिलन रात को ही सम्भव हो पाता है, इसलिए पत्नी कहती है कि रात को तो फुर्सत मिलेगी और पति पास आएँगे ही, तब उनसे अपने प्रेम का उद्धार करूँगी। मैथिली के अनेक लोकगीतों में पत्नी के विरह की व्यंजना हुई है, इन गीतों से पता चलता है कि पति कमाने के लिए बाहर (विदेस) गया है, न कि शिकार खेलने या अन्य मौज-मस्ती के लिए।

हमारे समाज की व्यवस्था कुछ ऐसी है जिसमें स्त्री पर तरह-तरह की पाबन्दियाँ होती हैं। वह खुलकर बोल नहीं सकती, अपने मन से कहीं आ-जा नहीं सकती। मिथिला समाज में कुछ ऐसी लोक-धारणाएँ हैं जो स्त्री पर लोक-लाज के बन्धन को ढीला करती हैं। उसके जीवन में हास-परिहास के अवसर लाती हैं। मिथिला में विवाह-संस्कार से सम्बन्धित गीतों में एक गीत 'डहकन' है। इस गीत मे वधू पक्ष की स्त्रियाँ वर पक्ष के लोगों को गाली देती है। इस 'डहकन' लोकगीत में महिलाओं की मुखरता देखते बनती है। जिस स्त्री समाज पर दिन-रात लोक-लाज का पहरा रहता है, वह 'डहकन' गीत गाते समय बिल्कुल खुलकर अपनी भावनाओं को व्यक्त करती है। यद्यपि इस गीत में अश्लीलता का पुट भी रहता है, पर इसके माध्यम से स्त्री अपने जीवन में हास-परिहास का मौका निकाल लेती हैं। जिस स्त्री को बचपन से ही पुरुषों के सामने संकोच और शीलता का पाठ पढ़ाया जाता है, उसे पुरुषों से मुँह नही लगाने की सलाह दी जाती है, वह मुखर होकर वर पक्ष के लोगों से गाली के द्वारा हास-परिहास करती है। गाली भर ये गीत पुरुष समाज की तथाकथित और उसके द्वारा निर्मित लोक-लाज पर एक करारा प्रहार हैं। एक 'डकहन' गीत की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

"चन्दा छिप गेल लाल कोठरया में।
फलाँ छिनरो के गाल छनि पूआ समान,
फलाँ रसिया मलि मलि कए भए गेल नेहार।
फलाँ छिनरो के छाती छनि बेल समान,
फलाँ रसिया मलि-मलि कए भए गेल नेहाल।..."

मैथिली लोक-परम्पराओं में कुछ परम्पराएँ ऐसी हैं जो स्त्री समाज को चौखट-चारदीवारी से बाहर निकलने का मौका देती हैं। मिथिला क्षेत्र के लोकगीतों में 'बटगवनी' गीत प्रमुख है। गाँव की स्त्रियाँ किसी मेले, त्योहार या पनघट के पथ पर जाते समय 'बटगवनी' गीत गाती हैं। वे एक-दूसरे के गले में हाथ डालकर गाँव के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होते हुए इस गीत को गाती हैं। इससे रास्ते की दूरी का पता नहीं चलता और वे आपस में इस गीत के माध्यम से अपने मन की बात करते हुए मेले या त्योहार के स्थान तक पहुँच जाती हैं। 'बटगवनी' के ये गीत स्त्री समुदाय में आपस में हास-परिहास का मौका देते हैं। बटगवनी के गीत में प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण होता है। इन गीतों में स्त्रियाँ खुलकर अपने प्रेम की चर्चा करती हैं। बन्दिश भरे समाज में प्रेम का गीत गाना प्रकारान्तर से उस बन्दिश को नकारना है। इन गीतों में स्त्री की स्वच्छन्द प्रवृत्ति की इच्छा उभरकर सामने आती है।

मैथिली समाज में ऐसे लोकगीत बहुत हैं जहाँ स्त्री के जीवन से जुड़े प्रसंगों, प्रताड़नाओं, और पीड़ाओं का चित्रण हुआ है। हालाँकि ये गीत बन्द समाज में बन्द स्त्री और उससे सम्बन्धित गीत हैं, फिर भी यहाँ भावों की तीव्रता और आकुलता तथा स्वच्छन्द जीवन की लालसा की अभिव्यक्ति बड़े सजीव और संजीदा तरीके से की गई है। ■

इस लेख में उद्धृत अधिकांश लोकगीत डॉ. महेश अवस्थी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'हिन्दी के लोकगीत' से लिये गए हैं।

जनचेतना के वैतालिक : भूपेन हजारिका और बाबा नागार्जुन

अनुशब्द

जब रचनाकारों में समय-बोध, इतिहास-बोध और जातीय चेतना जीवन्त हो और जमीन से सम्पृक्तता हो तो उनकी रचना धर्मिताएँ सगी-सहोदर प्रतीत होती हैं। ऐसी स्थिति में दिक् और काल कोई खास मायने नहीं रखते। यही वजह है कि कबीर, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, गालिब, निराला और असम के शंकर देव, विष्णुप्रसाद, राभा, ज्योतिप्रसाद अगरवाला इत्यादि अतीत हो जाने के बाद अभी भी व्यतीत नहीं हुए हैं। वे आज पहले से भी अधिक अपने लगने लगे हैं। आत्मीय सूझने लगे हैं। इसी वजह से टॉल्सटॉय, गोर्की, पाब्लो नेरुदा इत्यादि विदेशज होते हुए भी देशज प्रतीत होते हैं। इसके बरक्स कामू, काफ्का, सार्त्र, दोस्तोवस्की का तबका दूर का ढोल तो है ही, पन्त प्रसाद, अज्ञेय, निर्मल वर्मा अपनी सरजमीं के तथा समकालीन होते हुए भी पराए प्रतीत होते हैं और परायेपन के शिकार नजर आते हैं। दरअसल, इतिहास-बोध तथा ऐतिहासिक चेतना के अभाव का ही यह प्रभाव है कि वे आज अजायबघर की वस्तु बनते जा रहे हैं। और बहुत हद तक हो भी गए हैं। इस जगह यह भी खुलासा कर देना लाजिमी है कि रचनाकार और इतिहासकार की ऐतिहासिक चेतना में फर्क होता है। इतिहासकार की मुख्य चिन्ता होती है कि क्या सच है और साहित्यकार की पहली और आखिरी जिज्ञासा होती है कि क्या सच नहीं है। यानी कि साहित्यकार की जेहाद तथाकथित सच के खिलाफ होती है। अतीत के स्थापित महाख्यानों के प्रति आक्रोश एवं विद्रोह की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक ईमानदार तथा वफादार लेखक अपने आप के प्रति उतना ही निर्मम होता है जितना वह अपने अतीत और वर्तमान के प्रति। वह अपनी सर्जरी करने में भी नहीं चूकता। इसी को अंग्रेजी में 'एन्काउंटर विद सेल्फ' कहते हैं। ऐसे लेखकों के लिए हमारे कबीर, गालिब और निराला आज भी मिसाल हैं और मशाल भी। इस विजन और एंगिल से भूपेन दा और बाबा नागार्जुन जितने सामयिक हैं उतने ही समान्तर भी। यह समान्तरता ज्यामितिक नहीं है, रागात्मक तथा संवेदनात्मक है। हमारी आलोचना आजकल आजीजी से कह रही है कि कविता का कवि के जीवन से कोई लेना-देना नहीं है। खासकर, वह आलोचना जो इलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त से प्रभावित है। मगर हमारे गुरु विश्वनाथ त्रिपाठी बराबर कहा करते थे कि कवि की जो जिन्दगी है, उसके जीवन के जो अनुभव हैं, जिन स्थितियों में उसका जीवन रहा है कविता में उससे तालमेल ढूँढ़ना, कहीं ताल-मेल न मिले तो यह कहना कि ताल-मेल नहीं है, यह काम मुझे ज्यादा मुनासिब लगता है, संगत और वैज्ञानिक लगता है। कारण कि कोई भी साक्षात् जीवन्त स्थिति सामने आ जाती है तो वह 'फेनामिनन' बन जाती है।

सहायक प्रोफेसर हिन्दी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, नपाम, असम

गुरुवर त्रिपाठी का यह नजरिया स्व-अनुभूति तथा सह-अनुभूति के विमर्श की तीसरी आँख है। मेरा आग्रह है कि फिलवक्त भूपेन दा और नागार्जुन के काव्य को इसी नजर से देखना बेहतर होगा।

मीर ने कभी कहा था 'दिल हुआ है चिराग मुफलिस का' और सही कहा था। इसकी नजीर भूपेन दा और नागार्जुन हैं। नागार्जुन ने तो रवीन्द्रनाथ टैगोर से कहा था :

"पैदा हुआ था मैं
दीन-हीन-अपठित कृषक-कुल में
आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से
कवि! मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का
हरा हुआ नहीं कि चरने को दौड़ते
जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष में"

नागार्जुन की तरह 'पुश्त-दर-पुश्त' की दरिद्रता/कटहल के छिलके जैसी जीभ से भूपेन दा का लहू तो नहीं चाटती आई है लेकिन, अभाव का आसव ठेठ बचपन से ही पीते-पीते वे भी सयाने हुए थे। एक साक्षात्कार में उन्होंने निःसंकोच कहा है कि किशोरावस्था में ही पिता सेवानिवृत्त हो गए थे। उनको केवल 130 रुपए पेंशन मिलती थी जिसके द्वारा हम 12-13 लोगों की गुजर-बसर होती थी। बहुत ही जद्दोजहद से शिक्षा हासिल की और अध्यापन से अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ की। कलकत्ता मेरे लिए अत्यन्त ही निर्मम एवं निष्ठुर जगह साबित हुई, कारण कि अमेरिका से पी-एच.डी की डिग्री हासिल करने के बावजूद 'दो गज जमीं न मिली कूचे यार में'। उनकी गरीबी या विपन्नता की दूसरी ऋणात्मक भूमिका यह भी है कि उनकी रचनात्मकता की आधी ऊर्जा बुनियादी जरूरतों की पूर्ति में ही खर्च हो गई। उन्होंने डॉ. कैलाशचन्द्र से साक्षात्कार में बहुत ही खेद और दुःख के साथ व्यक्त किया है कि "जीवन की आवश्यकताओं की दौड़ में मेरा आधा जीवन बिना सृजन के बीत गया। यही दुःख है। यहाँ न्यूनतम जरूरतें पूरी हो जातीं तो शायद ज्यादा सृजन कर पाता।"

आरम्भ में हर किसी के जीवन में दुविधा, संशय और अनिश्चय की स्थिति आती है और भटकाव की भी, जिसको गालिब ने लक्ष्य किया है–

'चलता हूँ थोड़ी दूर हरेक तेज रौ के साथ
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं'

इन दोनों कवियों की जीवन-दिशा के निर्धारण में अपने समय और समाज के दो-तीन युगान्तरकामी पुरुषों का योगदान रहा है। नागार्जुन आरम्भ में बौद्ध-दर्शन से प्रभावित थे तथा अतीत के प्रवचन के प्रति सचेष्ट थे। संयोग से उनका परिचय राहुल सांकृत्यायन तथा सहजानन्द सरस्वती से हुआ। उनकी प्रेरणा से मार्क्सवाद तथा किसान-आन्दोलनों से सरोकार स्थापित हुआ। सच कहा जाए तो जीवन के इसी मुकाम पर जनकवि के रूप में उनका बपतिस्मा हुआ। बाद में कबीर, तुलसी, भारतेन्दु और निराला से रचनात्मक ऊर्जा हासिल करते रहे। लगभग ऐसे ही सन्दर्भो से भूपेन दा का साबका पड़ा था। अपने कई साक्षात्कारों में उन्होंने जिक्र किया है कि वे जनजातियों के क्रान्तिकारी तथा सांस्कृतिक नेता विष्णुप्रसाद तथा कवि एवं महान् स्वतंत्रता सेनानी ज्योतिप्रसाद से अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित थे। उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए भूपेन दा ने लिखा है कि 'बिकॉज ऑफ माई क्लोज कॉन्टेक्ट विद देम इन माई यूथ आइ एम व्हाट आइ एम टुडे।' साहित्यिक दीक्षा पॉल रॉबसन से मिली थी। संगीत के माध्यम से क्रान्ति का सबक भी इन्हीं से प्राप्त हुआ था। उन्होंने अपनी पहली कक्षा में भूपेन को बताया था कि 'गिटार इज नॉट ए म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट, इट इज ए सोशल इंस्ट्रूमेंट। विद वन स्ट्रिम ऑफ गिटार यू कैन स्टीयर द प्रोसेस ऑफ एन एंटायर नेशन' और उसी दिन से भूपेन दा का संगीत सामाजिक परिवर्तन का औजार बन गया। दरअसल, यह बात उनकी अन्तश्चेतना का अंग बन गई थी कि 'तीन मिनट का गीत भी क्रान्ति कर सकता है।' यकीनन जीवन की सन्ध्या तक वे समाज और संस्कृति में क्रान्तिकारी हस्तक्षेप के लिए साहित्य और संगीत का इस्तेमाल करते रहे। नागार्जुन भी मजदूर-किसान संस्कृति के कवि थे और वाकई गाँव और जनपद की धरती पर कविताओं की फसल उगाते थे। इसलिए अपनी दीनता और गरीबी का हवाला देते हुए टैगोर से निवेदन करते हैं कि 'कलम ही मेरा हल है, कुदाल है।' यानी कि यही मेरे रचनात्मक संघर्ष का औजार है एवं आजीविका का एकमात्र हथियार भी। गरज कि अपने-अपने परिवेश की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक हस्तियों से निर्दिष्ट होकर नागार्जुन तथा भूपेन दा ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति का आह्वान किया है। उन दोनों की ही क्रान्ति-चेतना जितनी सचेत है, उतनी ही अचेत भी। अचेत इस मायने में कि गरीबी, दुःख दैन्य उनका अपना भोगा हुआ यथार्थ था और सामाजिक परिवर्तन का उपक्रम एक स्वाभाविक कार्यक्रम था। उनके अचेतन का एजेंडा था। इन दोनों क्रान्तिकारी रचनाकारों के केन्द्रीय विचारों पर बात करने से पहले क्रान्ति की प्रकृति को समझना आवश्यक है। आमतौर पर हमारे जेहन में उन खूनी क्रान्तियों के लिए जगह है जो आर्थिक और राजनीतिक बदलाव के लिए इतिहास की सुर्खियो में दर्ज हैं, लेकिन क्रान्ति हमेशा नॉनवेजिटेरियन ही नहीं होती, वह वेजिटेरियन भी होती है। जिस औजार से गाँधी

ने और कांग्रेस ने स्वतंत्रता हासिल की वह विश्व इतिहास में बेमिसाल है। मगर वह क्रान्ति नहीं है, वह सत्ता-परिवर्तन है। अगर उदार शब्दावली में कहा जाए तो वह केवल राजनीतिक क्रान्ति थी। किसी भी सूरत में वह सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्रान्ति नहीं थी। यही कारण है कि एकाध दशक में ही आजादी चन्द लोगों की जरखरीद चेरी बन गई। आम जनता से वह गाफिल हो गई, देश के वंचितों एवं प्रवंचितों के लिए बेगानी हो गई। यह मोहभंग, स्वप्न-भंग बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का सामाजिक यथार्थ है। इसलिए वर्ग-चेतना के आग्रह पर जन-सामान्य की मुक्ति, आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न से छुटकारा प्रगतिशील तबके का केन्द्रीय सरोकार बन गया। नतीजतन, प्रगतिशीलों के जीवन और लेखन का एकमात्र उद्देश्य सामान्य लोगों के सुख-दुःख से तादाम्य-स्थापन हो गया। उनके जीवन से गहरी संसक्ति और अनुरक्ति उन कवियों की प्रेरणा-भूमि बन गई। कारण कि 'क्रान्ति किसी और की नहीं, प्रेम की ही आत्मजा है। और, प्रेम वह जो सामाजिक चेतना से जुड़कर क्रान्तिकारी हो जाता है। हकीकत यह है कि दुनिया की कोई भी क्रान्ति बिना प्रेमभावना के सम्भव नहीं हुई है।' यह प्रेमभावना ही क्रान्ति की ध्वजा है। इस मायने में भूपेन दा तथा नागार्जुन इस क्रान्ति-ध्वजा के सशक्त तथा सार्थक स्तम्भ तो हैं ही।

इन दोनों रचनाकारों ने अलग-अलग विधाओं के द्वारा समाज-परिवर्तन तथा शोषितों एवं वंचितों की सुरक्षा का यत्न किया है। भूपेन दा मूलतः गीतकार थे। उन्होंने गीतों के माध्यम से लोकहित एवं जनहित की साधना की है। उनका व्यक्तित्व केवल गीतकार तक ही सीमित नहीं था। उनकी दखलन्दाजी सिनेजगत और पत्रकारिता में भी यथेष्ट थी। मगर इन क्षेत्रों में गीत-संगीत ही उनके संघर्ष के माध्यम थे, क्रान्ति के सूत्रधार थे। यानी भूपेन दा शब्दों और स्वरों के द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक तात्पर्यों एवं बदलावों को आमन्त्रित करते थे। कारण कि उनकी प्रतिबद्धता असम और देश की बदहाल और तंगहाल जिन्दगी को खुशहाल करने की थी। उनकी सम्पूर्ण मानसिकता, वैचारिकता और सर्जनात्मकता जनता के यक्ष-प्रश्नों से अनुशासित और नियन्त्रित होती थी। उन्होंने स्पष्ट लफ्जों में इजहार किया है कि 'आइ एम गवर्न्ड बाय द प्रोब्लम्स ऑफ ह्यूमन बीइंग...एंड इन्वॉल्व्ड इन बिल्डिंग ब्रिजिज अक्रॉस ह्यूमन माइन्ड्स।' अपने इस सदाशय को कई गीतों में व्यक्त भी किया है: उन्होंने 1939 में यानी किशोरावस्था में अपने कृतित्व की साधारण प्रतिज्ञा व्यक्त की थी–

'अग्निजुगर फिरिङति मइ	(अग्नियुग की चिंगारी हूँ मैं
नैंतून असम गढ़िम	नया असम गढूँगा
सर्वहरार सर्वस्व पुनर फिराई	आनिम सर्वहारा का सर्वस्व पुनः लौटाऊँगा
नैंतुन असम गढ़म	नया असम गढूँगा
नर कंकालर अस्त्र साजि	नर-कंकाल का अस्त्र बनाकर
शोषणकारीक वधिम	शोषणकर्ता का वध करूँगा
अन्तर भेदि मी बोवाम	सबके हृदय भेदकर प्रेम की धारा बहाऊँगा
भेदाभेदर प्राचीर भाडि	भेदभाव के प्राचीर को तोड़कर
साम्यर सरग रचिम	समानता का स्वर्ग रचूँगा)

जाहिर है, यह कविता भूपेन दा के कवि-कर्म का घोषणा-पत्र है, उनके धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र का श्वेत-पत्र है। ठीक इसी प्रकार मार्क्स की विचाराधारा से अनुप्राणित कविताएँ नागार्जुन ने भी लिखी हैं–

'झूठ-मूठ सुजलाँ-सुफलाँ
गीत न अब हम गाएँगे
भात-दाल-तरकारी
जब तक नहीं पेटभर खाएँगे
इनको हम दफनाएँगे
गाँव-गाँव पाँतर-पाँतर को
भूस्वर्ग बनाएँगे'

अपनी इस प्रसिद्ध कविता में उन्होंने अपनी शतधा प्रतिबद्धता, सम्बद्धता तथा आबद्धता को रेखांकित किया है। वे इस कविता में अपने को 'बहुजन समाज की अनुपल प्रगति' के निमित्त प्रतिबद्ध बताते हैं और 'सचर-अचर सृष्टि से सम्बद्ध एवं 'स्वजन-परिजन के प्यार की डोर में' आबद्ध मानते हैं। इस प्रकार इन दोनों पक्षधर हस्ताक्षरों का प्रस्थान-बिन्दु एक ही है, भाषा का ही अन्तर है। दोनों की पक्षधरता सामाजिक प्रतिष्ठानों एवं सत्ता-प्रतिनिधानों के लिए हाशिए पर फेंक दी गई जनता की जलालत और जहालत से मुक्ति तथा उनके प्राप्तव्यों की पैरवी करती है। समाज में फैली आर्थिक विषमता को दूर करना चाहती है एवं रोटी से खेलनेवाले हाथों को तोड़ देना चाहती है। ऐसे हाथों के प्रति नागार्जुन में आक्रोश और नफरत का भाव है। यही आक्रोश तथा क्षोभ उन्हें जीवन तथा लेखन दोनों में ही रचनात्मक एवं सकारात्मक ऊर्जा देता है–

'नफरत की भट्ठी में
तुम्हें गलाने की कोशिश ही

मेरे अन्दर बार-बार ताकत भरती है
प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है अपने ऋषि का'

भूपेन दा भी इसी प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर अपने को उसी तृतीय श्रेणी का यात्री मानते हैं जिसमें हजारों मजदूर-किसान सफर करते हैं। वे प्रथम और द्वितीय दर्जे के संभ्रान्त तथा कुलीन यात्रियों को हिदायत देते हैं कि यह ट्रेन हम लोगों के आँसुओं की भाप से ही चलती है। अतीत में हमने ढेर सारे आँसू बहाए हैं, वे सारे आँसू अब भी हमारे सीने में घनीभूत हैं। यहाँ भूपेन दा जिस आँसू की बात कर रहे हैं वे जयशंकर प्रसाद के आँसू नहीं हैं, ये आँसू गालिब के हैं जिसे उन्होंने 'लहू' से संज्ञापित किया है। जो आँख से ही न टपका, तो फिर लहू क्या है। ये आँसू क्रान्ति को आमन्त्रित करते हैं, भ्रान्ति को नहीं, संघर्ष को आवाज देते हैं, विमर्श को नहीं। क्योंकि अब आर-पार की लड़ाई है, सन्धि-समझौते की गुंजाइश कहाँ। इसलिए वे मजदूरों का आह्वान करते हैं :

'ढाक् तो माथो वाजना नहय	(ढोल सिर्फ एक वाद्ययंत्र नहीं है
ढाक! तहँतर अस्त्र	ढोल तो तुम लोगों का अस्त्र है
सोसक हंतक नाङठ कर	शोषक वर्ग को निर्वस्त्र करो
काढ़ि सिंहतर वस्त्र'	छीनकर उनका वस्त्र
(एक) नोतुन समाज	एक नया समाज गढ़ने का
गोढ़िवलोड़ पन कोरिलि	प्रण किया है तुमने
जाक् जाक् तेजाल घोंरार	सैकड़ों वेगवान घोड़ों की
चिंयर मारिलि	चिंघाड़ की तरह साहस दिखाया है तुमने।)

भूपेन दा क्रान्तिदृष्टा कवि हैं। भविष्य की आहट को पहले ही भाँप लेते हैं। आज उन्हें इस बात का शदीद एहसास है कि ब्रह्मपुत्र की लहरें सोई नहीं हैं, वे जाग चुकी हैं, पूरी शक्ति और स्फूर्ति के साथ। वे जल की लहरें नहीं है, आग की लपटें हैं। इसलिए वे कहते है—

'सोवा बज्रनिनादर प्रतिधनि'	(वह देखो वज्रनिनाद की प्रतिध्वनि
भोइया-पर्वते वाजे	पहाड़-समतल पर गुँजती हुई
संग्रामी सुस्थ प्रकास	संग्रामी स्वस्थ प्रकाश
बोलिस्थ संजम माजे	वलिष्ठ संयम के माध्यम से
प्रचंड अवहेला,	प्रचंड अवहेलना की
प्रचंड अवहेला एड़वार नाहिवइ	इस बार गुंजाइश ही नहीं होगी
जीवनको कोरि वोलिदान	जीवन को भी करके वलिदान
आजि ब्रह्मपुत्र होल वह्निमान।	आज ब्रह्मपुत्र है वह्निमान।)

वर्ग-संघर्ष की जो धड़कन भूपेन दा के दिलोदिमाग में मिलती है, उसकी ही अनुगूँज वावा नागार्जुन के कानों में गूँजती है। बाबा भी कम संवेदनशील नहीं थे। वे भी हर चीज को सूँघते चलते थे, चाहे वह चीज देश की हो या विदेश की। आजादी के तुरन्त बाद के माहौल को चीन्हते हुए चेतावनी देते हैं, उस समय के नेतृत्व को आगाह करते हैं :

'होशियार, कुछ देर नहीं है लाल सवेरा आने में
लाल भवानी प्रकट हुई सुना कि तेलंगाने में'

वावा नागार्जुन और भूपेन दा की सबसे बड़ी खासियत यह है कि दोनों सही मायने में जनवादी और लोकोन्मुखी कवि हैं। नामवर सिंह ने एक जगह दर्ज किया है कि जन-साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करनेवाले सामान्य जन का साहित्य है। इसलिए जन-साहित्य लोक-साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोक-साहित्य जहाँ जनता के लिए जनता का साहित्य है, वहाँ जन-साहित्य जनता के लिए विशेष द्वारा रचित साहित्य है अर्थात् जन साहित्य शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा वह साहित्य है जो सह-संवेदन के फलस्वरूप सामान्य जन के लिए अभिव्यक्त होता है। इसलिए जन-सामान्य के सुख-दुःख, आशा, आकांक्षा, हर्ष-विषाद, जय-पराजय, आक्रोश-प्रतिशोध, जीवन-संघर्ष; इन दोनों रचनाकारों के केन्द्रीय विषय हैं। दोनों ही साहित्यकारों के रचना-लोक में मजदूर-किसानों, दुखितों-पीड़ितों, मेहनतकश लोगों की भरपूर रिहाइश है। ये दोनों ही इनके किसी भी आन्दोलन में सीधी-साझीदारी करते हैं। पाँच सितारा होटलों और वातानुकूलित कमरों में बैठकर चिलचिलाती धूप में जलते मजदूर-किसानों का जायजा नहीं लेते। महँगी शराब के प्याले में क्रान्ति का सोडावाटर डालकर उफान नहीं पैदा करते थे, ये ऐसे कवियों एवं लेखकों को लानत भेजते हैं और सबक देते हैं कि अब भी वक्त है, चेत जाओ, नहीं तो इतिहास की धारा तुम लोगों को अतीत के कूड़ेदान में डाल देगी। नागार्जुन अपनी 'माँजो और माँजो' शीर्षक कविता में समकालीन कलावन्तों और रचनाकर्मियों पर मारक व्यंग्य करते हैं और अपने व्यंग्य से प्रमाणित करते हैं कि 'गुलाब की पत्तियों में भी धार होती है'—

'दूध-सा धुला लिबास है तुम्हारा
निकले हो शायद चौरंगी की हवा खाने
बैठना था पंखे के नीचे अगले डब्बे में

ये तो बस इसी तरह
लगाएँगे ठहाके, सुरती फाँकेंगे
सच-सच बतलाओ, अखरती तो नहीं इनकी सोहबत।
जी तो नहीं कुढ़ता घिन तो नहीं आती?'

सफेद 'एलिनिएशन' के शिकार प्रयोगवादी एवं नई कवितावादियों को ललकारते हुए कहते हैं—

'माँजो और माँजो, माँजते जाओ
लय करो ठीक, फिर-फिर गुनगुनाओ
मत करो परवाह-क्या है कहना
कैसे कहोगे, इसी पर ध्यान रहे...'

ऐसे कवियों-रचनाकारों को वे 'पक्षधर' नामक कविता में नसीहत देते हैं :

'इतर साधारण जनों से अलहदा होकर रहो मत
कलाधर या रचयिता होना नहीं पर्याप्त है
पक्षधर की भूमिका धारण करो
विजयिनी जनवाहिनी का पक्षधर होना पड़ेगा..
अगर तुम निर्माण करना चाहते हो
शीर्ण संस्कृति को अगर सप्राण करना चाहते हो।'

तो, ठीक इसी के समान्तर भूपेन दा अपने कलाकार मित्रों से आग्रह करते हैं—

'काहिनी एटि लिखा सेवारे विसये	(एक कहानी लिखो जनसमान्य के बारे में
कोइछिलो बह-बहु बार	कहा था मैंने अनेक बार
बन्धु लिखक, तुमि नुसुनिला	बन्धु लेखक, पर तुमने अनसुना कर दिया
देखुवाला मायो अहंकार	दिखाया केवल अहंकार
तेतियातो तुमि लिखि गोला	तब तो तुम लिखते गए
मिछा कथा मिछा नायकर	झूठे नायक की झूठी कहानी
बन्धु लिखक, तोमार लिखाखिनि	बन्धु लेखक, तुम्हारा लेखन है
मिछा कथा मिछा कल्पनार	झूठी कल्पना की झूठी कहानी
जि काहिनी तुमि निलिखिला	जो कहानी तुमने नहीं लिखी
ताक इतिहासर समये लिखिले	उसे इतिहास के समय ने लिखा
मोरेइ माजत सहस्र मानवर	मेरे भीतर के सहस्र मनुष्यों के
युजर जोवार तुमि नेदेखिला।'	संग्राम की लहर को तुमने नहीं देखा।)

भूपेन दा इतिहास में दर्ज राजा-महाराजों तथा महन्तों एवं सामन्तों की परी-कथा नहीं लिखते थे, वे तो आम आदमी की मुक्ति-कथा लिख रहे थे, उनके संघर्ष की जीवन्त पटकथा लिख रहे थे, उस साहस और संघर्ष की महागाथा जिसमें गंगा और ब्रह्मपुत्र की धारा को भी पलटने की ताकत होती है :

'पाहँरि पेलालो	(भुला दी मैंने
बुरंजीय गोवा	इतिहास की गाई हुई
सामन्त जुगरे कथा	सामन्ती युग की कथा
समयर साहँरे	समय के साहस से
लिखि जाम आजि मइ	लिखूँगा आज मैं
मानुहर मुकुतिर कथा'	मानव-मुक्ति की कथा)

लेकिन जनमुक्ति की पूरी कथा आँसुओं से नहीं लिखी जा सकती है, खून-पसीने से ही लिखी जा सकती है। वह भी अकेले नहीं, सामूहिक प्रयास से। कारण कि उसे क्षितिज के फलक पर नहीं, भारत के मानचित्र पर लिखना है, फर्श पर नहीं, अर्श पर लिखना है। इसीलिए भूपेन दा मनुहार करते हैं—

'We all together will see
The dawning of the night of peril
Only together can we reach our goal'

भूपेन दा की तरह बाबा नागार्जुन भी आम जनता के दुःख-दर्द और पीड़ा से अपनी रचनाओं की जमीन तैयार करते हैं एवं उनके दैनंदिन जीवन के संघर्ष में अपनी भागीदारी से उसे ठोस और पुख्ता बनाते हैं। तेलंगाना का विद्रोह हो, या मजदूरों का आन्दोलन, जूलियस रोजनवर्ग का संघर्ष हो या वियतनाम की जनता का मुक्ति-संघर्ष, बाबा की संवेदना दुनिया के श्रमशील एवं संघर्षशील लोगों के साथ है। उनकी सोच का क्षितिज इतना व्यापक है कि वे अपने हृदय की सारी आस्तिकता से कहते हैं :

'मैं तुम्हीं को अपनी यह शेष आस्था अर्पित करूँगा
मैं तुम्हारे लिए ही जियूँगा, मरूँगा
मैं तुम्हारे ही इर्द-गिर्द रहना चाहूँगा
मैं तुम्हारे ही प्रति अपनी वफादारी निबाहूँगा
आओ, खेत-मजदूर और भूमिदास नौजवान
आओ, खदान-श्रमिक और फैक्ट्रीवर्कर नौजवान
आओ, कैम्पस के छात्र और फैकल्टियों के नवीन-प्रवीण प्राध्यापक
हाँ, हाँ तुम्हारे ही अन्दर तैयार हो रहे हैं
आगामी युगों के लिबरेटर'

इसी प्रकार भूपेन दा की साझीदारी का क्षेत्रफल भी बड़ा है। उन्होंने भी समयिक घटनाओं और प्रसंगों से अपनी काव्यानुभूति को समृद्ध किया है। असम का भाषा आन्दोलन

हो या अस्तित्व आन्दोलन, भारत-चीन आक्रमण हो या बंगलादेश का स्वतंत्रता-संग्राम, इन्दिरा गाँधी का स्वेच्छाचारी शासन हो या बिहार का अकाल—इन सारे सामयिक सन्दर्भों पर गीत लिखे हैं। नागार्जुन की तरह ही तात्कालिकता का आग्रह भूपेन दा की भी रचना-संवेदना में पर्याप्त है। पर इन सामयिक रचनाओं में भी शाश्वतता की संजीवनी है। ये रचनाएँ कालजीवी होते हुए भी कालजयी हैं। राजनीतिक सन्दर्भों में सबसे ज्यादा गीत भूपेन दा ने असम के जातीय एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों पर लिखे हैं। 'आमि असमिया नहओ दुखीया, रिम जिम रिम जिम बरषुणे..., आजि ब्रह्मपुत्र हॅल बह्निमान, आरखी वाहिनीरे' कुशासन रक्षा किछुदिनहे करिबे पारि, जय-जय असमीर नँतुन पुरुष, समयर गात आजि गणातांत्रिक तेजर कलंक इत्यादि कई लोकप्रिय गीत उल्लेखनीय हैं।

इन दोनों कवियों ने जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन में क्रान्ति की सुगबुगाहट पाई थी और उसमें पूरी तन्मयता से शिरकत की थी। इन्दिरा गाँधी के तानाशाही प्रशासन की घोर निन्दा करते हुए भूपेन दा ने इस विषय पर नागार्जुन की तरह की कई कविताएँ लिखी हैं जिनमें आह, आह, ओलाइ आह, मुक्तिकामी लक्षजनर, राइज आजि मौंवरीया...' रचनाएँ प्रमुख हैं। इन रचनाओं को भी वही जनप्रियता प्राप्त है जो नागार्जुन के 'इन्दु जी इन्दु जी क्या हुआ आपको' या इससे पहले ब्रिटेन की महारानी के आगमन पर लिखी गई थी, 'आओ रानी ढोएँगे हम पालकी, यही हुई है राय जवाहर लाल की।' जिस आपातकाल में भारत के क्षितिज पर सूरज भी सहमकर उगता था, डरता-डरता किरणें बिखेरता था। सत्य को लकवा मार गया था। वह लम्बे काठ की तरह पड़ा रहता था। 'सारा दिन, सारी रात' तब इन्होंने इन्दिरा को सम्बोधित किया था।

'रानी महारानी आप
नवाबों की नानी आप
नफाखोर सेठों की अपनी सगी माई आप
काले बाजार की कीचड़ आप, काई आप।

सून रहीं गिन रहीं
एक-एक ताप को
हिटलर के घोड़े की, हिटलर के घोड़े की
छात्रों के खून का नशा चढ़ा आपको।'

इस प्रकार निर्भीकता से और जोखिम मोल लेकर बाबा ने किसी को नहीं बख्शा। जिसने अपने बाप को न बक्शा वह कांग्रेसियों, साम्यवादियों, चीनियों एवं सोवियतों को क्या बक्सेगा। इसी प्रकार भूपेन दा ने भी किसी को नहीं छोड़ा। जहाँ कहीं अनीति देखी, अत्याचार देखा, उसके विरुद्ध बिना किसी भय के अपनी आवाज बुलन्द की है। और बुलन्दी से शोषितों एवं उत्पीड़ितों के पक्ष में खड़े हो गए हैं। उनकी संघर्ष की एक झलक पंक्तियों में देखी जा सकती है :

'प्रतितो ख्यन	(प्रत्येक क्षण (है एक)
भयाल रन	भीषण रण
निज मनेइ लाले माति	जिसका मेरे मन ने स्वयं आह्वान किया
थेकि थेकि	ठोकर खाकर
सिकि सिकि	जो सीखा है मैंने
कोरिलो गान विसर बाति'	उसी से अपने गीतो में है दर्द भरा।

कबीर को सबसे ज्यादा निर्भीक कवि कहा जाता है। उनकी अक्खड़ता को अप्रतिम माना जाता है। लेकिन मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि उन्होंने अपने व्यंग्य का आलम्बन अपने सम्राट को कभी नहीं बनाया है। शहंशाह की खिल्ली उड़ाने का दुःसाहस नहीं किया है। मगर नागार्जुन और भूपेन दा ने अपने तानाशाह को भी खरी-खोटी सुनाई है। संकट की घड़ी में कबीर के अवलम्ब राम हैं। पर इन दोनों के तो बेचारी जनता ही है। गरज कि इन दोनों महाकवियों की आत्माएँ परम ईमानदार व्यक्तियों की आत्माएँ हैं, निश्छल और संघर्षपूर्ण आत्माएँ। ये दोनों ही ऐसे बुद्धिजीवी हैं 'जो न तो किसी के राज्य में रहते हैं और ही किसी के अन्न पर पलते हैं। स्वराज्य में विचरते हैं और अमृत पीकर जीते हैं।' (प्रसाद) ये दोनों स्वभाव से यायावर थे। एक तो यात्री नाम से प्रसिद्ध थे ही दूसरे भी ताजिन्दगी यायावर ही रहे।

'मइ एटि जाजाबर	(मैं एक यायावर
धरर दिहिंडे दिपाडे लवरो	धरती के चारों ओर घूमूँ
निबिचारि निजा घर।	नहीं ढूँढूँ अपना घर
बहु जाजाबर लक्ष्यविहीन	अनेक यायावर लक्ष्यविहीन होते हैं
मोर पिछे आछे पण	पर मेरे मन में है प्रण
रडर कनि जंतेइ देखिछों	खुशियों की किरण जहाँ भी देखी
मगाड़ दियार मन'	बाँट देने का है मन।)

इन दोनों कवियों की यात्राओं का लक्ष्य था, जगह-जगह के सामान्य जनों से अन्तरंगता स्थापित कर उनकी निजी अनुभूतियों को काव्यानुभूति में बदल देना। यह इनके बाएँ हाथ का खेल था। दोनों के पास इतनी प्रबल एवं प्रखर भाषिक संवेदना थी

कि बहुवचनात्मक अनुभवों को एकवचन तथा एकवचनात्मक को बहुवचन में तब्दील करने में कोई खास मशक्कत नहीं करनी पड़ती थी। इस कलात्मक महारत के अलावा उनकी यायावरी का एक और धनात्मक बिन्दु था। वह यह कि इस यायावरी ने ही इन दोनों को एक योद्धा का कलेजा तथा एक कवि का विद्रोही स्वभाव प्रदान किया था। बाबा को नामवर जैसे नामवर समीक्षक ने 'साधारण के असाधारण कवि' के रूप में नवाजा था तो भूपेन दा के कवि-कर्म और जीवन-शैली ने यह कहने का दर्प नहीं, आत्मविश्वास पैदा किया था कि :

'मइ जीयाइ आछो	(जिन्दा हूँ मैं
समयर आगे-आगे	समय से आगे
आत्मप्रत्ययर बावे	आत्मविश्वास के कारण
साधारनर माजतेइ थाकिम	साधारण के बीच ही रहूँगा
असाधारन भावे।'	असाधारण की तरह।)

इसी आत्मविश्वास के साथ बाबा नागार्जुन भी कहते हैं :

'नए गगन में नया सूर्य जो चमक रहा है
यह विशाल भूखंड आज जो दमक रहा है
मेरी भी आभा है इसमें

पकी-सुनहली फसलों से जो
अबकी यह खलिहान भर गया
मेरी रग-रग के शोणित की
बूँदें इसमें मुस्काती हैं।'

बूँद-बूँद पसीने से ही नहीं, रग-रग के शोणित से सिंचित पकी-सुनहली फसलें और गंगा-ब्रह्मपुत्र की सारस्वत लहरें नए सूर्य की नई रौशनी से चमकाएँगी। भूपेन दा और नागार्जुन की कविताएँ इसी विश्वास के साथ आज भी जिन्दा हैं और हम सभी उनकी क्रान्तिधर्मी कविताओं के साथ जनवादी क्षतिज के संधान के प्रति संजीदा हैं। काव्य-सभ्यता में किंचित् अन्तर के बावजूद इनकी काव्य-संस्कृति इतनी व्यापक, इतनी संक्रामक और इतनी समान्तर है कि 'को बड़ छोट कहत अपराधू।' इन दोनों ही कवियों ने 'जनता के हृदय जिया' था और 'जीवन विष पिया था।' आज भी इन दोनों का कोई सानी नहीं है। इन दोनों को अलग-अलग पढ़ते समय गालिब का यह शेर बार-बार जेहन में 'हॉन्ट' करता है :

'रेख्ते के एक तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब
कहते हैं, अगले जमाने में कोई मीर भी था।'

इसलिए मामोनी रायसम की ये संस्मरणात्मक पंक्तियाँ केवल भूपेन दा के लिए ही सटीक और सार्थक नहीं हैं, बल्कि नागार्जुन के कवि-व्यक्तित्व के लिए भी उतनी ही सार्थक तथा सन्दर्भवान हैं :

'भूपेन दा, योर वॉयस
इज द वॉयस दैट कैन एन्टर द हर्ट
बट नोज नो पाथ ऑफ रिटर्न
भूपेन दा विदाउट योर वॉयस
आइ कैन नॉट ड्रॉ
अ मैप ऑफ मदरलैंड
आइ कैन नॉट।'

आमने - सामने : सोबती और हशमत

निरंजन देव शर्मा

दोहरी भूमिका का निर्वाह करनेवाले चरित्र सिनेमा में अब तक हमने देखे हैं, पर लेखन में अपने समान्तर अपना ही प्रतिरूप विकसित करना कृष्णा सोबती जैसे शब्द-साधक के लिए ही सम्भव है। यों तो एक बड़ी रचना को जन्म देने के लिए लेखक को स्वयं नया जन्म लेना पड़ता है, पर अपना प्रतिरूप विकसित करके अपने समकालीनों को ही नहीं बल्कि स्वयं को जाँचना हिन्दी साहित्य की दुनिया में एक नई घटना है। कृष्णा सोबती पाठकों को चौंकाने के लिए ऐसा नहीं करतीं, बल्कि उनकी इस उपलब्धि को एक लेखक की निरन्तर शब्द साधना के विस्तार के रूप में देखा जाना चाहिए। ऐसी साधना, जिसमें लेखक अपने व्यक्तित्व के समान्तर एक अलग शख्सियत के रूप में विकसित होता है, जो विवेकसम्मत दृष्टि से अपने आसपास के परिवेश को जाँचता है। कृष्णा सोबती 'शब्दों के आलोक में' प्रकाशित एक साक्षात्कार में अपने और हशमत के अन्तर की पहचान कुछ यों करती हैं—

> *"...यह एक ही व्यक्ति में से उठी दो आवाजें थीं। मुझे यह जानना था कि वह एक-दूसरे से कितनी अलग थीं। इसके पेश्तर कि मैं हशमत के नाम का खाता खोलूँ, इसकी शिनाख्त भी जरूरी थी कि सोबती की आवाज और हशमत के अन्दाज़ में दो मुख़्तलिफ़ रंग ही नहीं, अलग-अलग कोण और नैरेटिव की उठान भी मौजूद हो।...व्याकरण के अनुसार यह केवल 'ई' और 'आ' का अन्तर नहीं था।"*

सोबती के ये हशमत साहित्य की दुनिया से जुड़े लोगों का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि हशमत की नजर से खुद को भी तौलते हैं। ऐसा नहीं कि साहित्यिक इदारों से बाहर के लोग यहाँ नहीं हैं, खानदानी नानबाई मियाँ नसीरुद्दीन और टैक्सी ड्राइवर जग्गा सिंह के रेखाचित्र भी यहाँ मौजूद हैं। दिल्ली की महानगरीय संस्कृति से बाहर गाँव की चौपाल में लोकतन्त्र की स्थिति का जायजा 'इंकलाब ख्वाब नहीं' नामक शब्दचित्र में मौजूद है तो 'समाजवादी किटी पार्टी' जैसे विषय पर भी हशमत की पारखी नजर जाती है। दरअसल, 'हम हशमत' का पहला भाग एक कोलॉज की तरह है, जिसमें लेखकों, गैर-लेखकों पर रेखाचित्र हैं तो सामाजिक इकाइयों पर भी रोचक शब्दचित्र मौजूद हैं।

संस्मरण या रिपोर्ताज़ या शब्द कोलॉज

'हम हशमत' एक संस्मरणात्मक किताब है, पर हम क्या इसे महज संस्मरण कहकर टाल सकते हैं। हम इसे महज रेखाचित्रों का संकलन

प्रिंसिपल, भारत भारती स्कूल, ढालपुर, कुल्लू-175101 (हि.प्र.)

भी नहीं कह सकते। इस किताब में लेखकों के लेखन के उद्धरण, कविताएँ, आलोचना और साक्षात्कार भी शामिल हैं। देखें तो 'हम हशमत' का पहला भाग संस्मरण विधा के अधिक निकट है और दूसरा भाग इस विधा की सीमाओं का अतिक्रमण करता जान पड़ता है। जिस तरह से सोवती का कथा लेखन साहसिक प्रयोगों के लिए जाना जाता है, कहानी और उपन्यास की सीमाओं को विस्तार प्रदान करता है, उसी तरह से यह पुस्तक भी प्रयोगों से अछूती नहीं है और किसी भी विधा का विस्तार कही जा सकती है।

'हम हशमत' अपने आप में एक अनूठी किताब शृंखला है। अब तक तीन भाग सामने आ चुके हैं। किताब के पहले दो भागों में अपने समेत कुल जमा उनतालीस रेखाचित्र, संस्मरण और आलोचनात्मक व्यंग्य शामिल हैं। कहीं केन्द्र में व्यक्तित्व है और कहीं व्यक्ति का रचनात्मक अवदान और कहीं लेखन की प्रासंगिकता की पहचान। कहना जरूरी है कि सोवती के अन्दर एक आलोचक भी मौजूद है, जो लेखक और लेखन के अन्तर्सबंधों और अन्तर्विरोधों की गहन पड़ताल करता है। इस तरह से अपने समकालीनों के लेखन पर टिप्पणी करने का यह शिल्प भी हिन्दी में अपनी तरह का पहला प्रयोग है। यह संस्मरणात्मक किताब लिखते हुए सोवती किसी भी पूर्वग्रह से स्वयं को मुक्त रखने के लिए अपने समान्तर हशमत नाम के लेखक को गढ़ती हैं। मियाँ हशमत लेखक के अन्दर जन्म ले चुका एक दूसरा लेखक है, जो लेखकों की दुनिया को देखने की पैनी दृष्टि रखता है। ऐसा करते हुए हशमत अपने समकालीन लेखकों के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं की पड़ताल करने की छूट तो हासिल कर ही लेते हैं। ऐसे प्रयोग इस किताब को और कृष्णा सोवती को लेखक के तौर पर विशेष दर्जा दिलाते हैं।

किताब का पहला भाग निर्मल वर्मा के संस्मरण से शुरू होता है, और अन्त मनोहर श्याम जोशी पर लिखे रेखाचित्र से होता है। हशमत से सोवती की मुलाकात का भी एक प्रसंग अन्त में है। कृष्णा सोवती के व्यक्तित्व को समझने और उन्हें लेखक के तौर पर जानने के नजरिये से इसका अपना महत्त्व है। दूसरा भाग नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी और अज्ञेय से होता हुआ कमलेश्वर तक को छूता है। अगर गैर-लेखक यहाँ मौजूद हैं तो भी कहीं-न-कहीं साहित्य और कला की दुनिया से ही जुड़े हुए हैं। हशमत में मूर्तिकार रमेश पिटेरिया के साथ बिताई शाम का लेखा-जोखा है तो लेखकों की दुनिया का प्रकाशन जगत् से सन्तुलन साधती शीला सन्धू भी यहाँ मौजूद हैं।

निर्मल से नामवर तक

हशमत के पहले भाग की शुरुआत निर्मल वर्मा से होती है तो दूसरा नामवर सिंह पर लिखे संस्मरण से। अनायास नहीं है कि एक ने हिन्दी कहानी को नई भाषिक काया दी तो दूसरे ने आलोचना के माध्यम से उससे नएपन की पहचान दी। इन दोनों घटनाओं का एक ही समय में घटित होने का ऐतिहासिक महत्त्व है। आलोचकीय उपेक्षा या नकार कहानी के विकास में आए महत्त्वपूर्ण मोड़ को बाधित कर सकता था। पहले शब्दचित्र 'निर्मल वर्मा' में सोवती उनके लेखन के कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं को छूती हैं। वातावरण के साथ आन्तरिक द्वंद्व का तादात्मय बिठाने की यह अनूठी कला ही हिन्दी कहानी की नई इबारत गढ़ती है।

हशमत बखूबी निर्मल वर्मा के लेखन की इन खूबियों की ओर इशारा करते हैं, पर उतने ही ठंडेपन से यह भी इशारा कर देते हैं, कि निर्मल वर्मा से इस दुनिया की वास्तविक तसवीर उभारने की दरकार थी।

> *"सोचा निर्मल से यह तो कहते जाएँ कि प्यारे दोस्त, शाम भले ही कन्सर्ट पर जाओ, बीथोविन सुनो, रविशंकर, अली अकबर खाँ—मगर जो तुम्हारी गली में थूथनी उठाए सुअर घूम रहे हैं उन्हें भी तो देखो। कुछ गौर करो। तुम्हारी लाजवाब कलम से कोई यथार्थ तो उभरे। कोई एक यथार्थ। जिन्दगी से जिन्दगी तक जुड़ा हुआ।"*

निर्मल वर्मा के गद्य को कविता के नजदीक मानते हुए सोवती उनके लेखन को ऐसे वर्ग का साहित्य मानती हैं जिसकी साहित्यिक अभिरुचियाँ परिष्कृत हो चुकी हों। साथ ही यह भी जोड़ती हैं—"ऐसा कहना निर्मल की रचनात्मक सीमाओं की ओर इशारा करना नहीं है बल्कि उसकी विशेषताओं का जायजा लेना है।" सोवती कहानी विधा के शिल्प का नया रूप प्रदान करने को निर्मल वर्मा की बड़ी उपलब्धि मानती हैं, पर यथार्थ पर उनके दृष्टिकोण को लेकर कहती हैं—"निर्मल यथार्थ से अलग एक और दूसरी दुनिया बना डालने की सामर्थ्य रखते हैं।" ऐसा कहकर वह निर्मल वर्मा के कथा साहित्य का विश्लेषण करने के सूत्र आलोचक के हाथ छोड़ देती हैं। चाहे तो इस पक्ष के समर्थन में आगे बढ़ें या विपक्ष में। हशमत के माध्यम से अपनी स्पष्ट राय देकर आलोचना को आगे बढ़ाने का काम तो वह करती ही हैं। उनकी यह प्रखर आलोचनात्मक दृष्टि आगे भी अज्ञेय, नामवर सिंह, नेमिचन्द्र जैन और अशोक वाजपेयी आदि के प्रसंगों में देखी

जा सकती है।

हिन्दी में आलोचना की स्थिति से आज हर कोई वाकिफ़ है। इसी स्थिति पर व्यंग्य करता एक शीर्षक है–"लेखक ठोक-पीटकर, टन-टना कर देखा जाए" यह नामवर सिंह पर लिखा गया संस्मरण है। यही संस्मरण इस किताब का सबसे महत्त्वपूर्ण संस्मरण बन पड़ा है। किताब के उनचास पृष्ठों में पसरा यह सबसे लम्बा संस्मरण हिन्दी साहित्य के शलाका पुरुष नामवर सिंह के साहित्यिक व्यक्तित्व के हर पहलू को पकड़ता है। नामवर जी की विलक्षण आलोचकीय दृष्टि, उनके द्वारा स्थापित किए गए नए प्रतिमानों की सीमाएँ, प्रगतिशील लेखक संघ का निर्विवाद नेतृत्व, खेमे और गढ़ के प्रति प्रतिबद्धता, किलेबन्दी का चालाकी भरा हुनर, उनकी गम्भीर चुनौतीपूर्ण चुप्पी, कौन-सा पक्ष ऐसा है नामवर सिंह के लेखकीय व्यक्तित्व का जिसे कृष्णा सोबती हशमत के रूप में नहीं पकड़तीं। जहाँ नामवर सिंह द्वारा साहित्यिक जगत् में पसन्दीदा लेखकों के पक्ष में ही बिगुल बजाने की बात सोबती करती हैं, वहीं उनकी विलक्षण आलोचना दृष्टि की भी पहचान करती हैं। उनके व्यक्तित्व निर्माण में उनकी ग्रामीण पृष्ठभूमि और मेधावी छात्र जीवन का हवाला भी यहाँ मौजूद है। उनके आलोचकीय व्यक्तित्व पर सोबती की एक टिप्पणी–

> *"यहाँ याद कर लेना दिलचस्प होगा कि नामवर के आसपास प्रतिद्वन्द्वी न हो तो उनका तापमान जरूर नॉर्मल से नीचे उतर आएगा। कोई भी विरोधी पक्ष उन्हें इतना अधिक सुहाता है कि वह पूरी तनातनी को बनारसी पान की गिल्लौरी में समेटे रहते हैं। एक खास तेज के साथ इनकी तुनकमिजाजी मात्र इनकी चुप्पी में लक्षित होती है।"*

नामवर सिंह की दृष्टि विचारधारा के पक्ष में कभी लचीला रुख नहीं अपनाती। वामपन्थी लेखन की कमजोरियों पर नामवर सिंह को उद्धृत करते हुए हशमत कहते हैं–

"... वामपन्थी लेखक की सबसे बड़ी बाधा है नकारात्मक रुख की प्रधानता। व्यवस्था विरोध पर विशेष बल देने के कारण लेखक वस्तुतः एक विरोधी लेखक होने की नियति को स्वीकार कर लेते हैं, जबकि उसका ऐतिहासिक दायित्व शासक वर्ग के साहित्य के विकल्प में एक उच्चतर साहित्य का विकल्प प्रस्तुत करना है।" सम्भवतः इसी बारीक रेखा की पहचान न कर पाने के कारण बहुत से प्रतिभाशाली लेखक सिद्धान्त में रचना को फिट करने की जबरन कोशिश करते हैं। इस जिद्द के चलते वह मुकाम पाने से चूक जाते हैं, जिसके वे हकदार हो सकते थे। नामवर सिंह की निष्पक्ष आलोचना दृष्टि के साथ-साथ यह उद्धरण इस विडम्बना की ओर भी इशारा करता है कि ऐसी खुली सोच के अध्यक्ष की मौजूदगी के बावजूद कुछ लोग 'प्रगतिशीलता को ऐसा सिद्धान्त मानकर रचना करते हैं जो नकारात्मक रुख को ही 'वाद' की विशेषता मान बैठते हैं। साहित्य में जिस तरह से विचारधारा या प्रगतिशीलता जैसे शब्द विचार विशेष के लिए रूढ़ हो गए हैं उससे साहित्य में दोहराव और ठहराव की स्थिति बनती रही है। कथा साहित्य में भी इस रूढ़ि के चलते जड़ता की स्थिति बनती रही। प्रगतिशील धारा के वाहक लेखकों द्वारा उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी गईं पर कहानी के कथ्य में एकरूपता के चलते शिल्प और कथा ढाँचे में भी एकरूपता आती चली गई। इन धाराओं के कुछ आलोचकों और सम्पादकों द्वारा रचे गए मानदंडों ने भ्रम की जो स्थिति उत्पन्न की वह किसी-न- किसी तरह से हर पीढ़ी के नए लेखकों की सोच को एक विशेष दायरे में बाँधने के लिए भी जिम्मेदार रही है; इससे साहित्य में नएपन की ओर बढ़ने की सम्भावनाएँ क्षीण होती चली जाती हैं। फिर भी कुछ लेखक नया रचने और सही मायनों में प्रयोगशील रहने की दिशा में प्रयासरत रहे हैं कि साहित्य की जमीन एकफसली होकर बंजर न हो जाए। जीवन का वितान बहुत बड़ा और विविध है। इसलिए एक बड़े रचनाकार की दृष्टि भी जीवन के विभिन्न पहलुओं की ओर जानी चाहिए। मनुष्यता के अर्थ को व्यापकता में देखा जाना चाहिए और मानवीय मूल्यों में आते परिवर्तन को भी चिन्हित किया जाना चाहिए।

मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता को नामवर सिंह की दृष्टि से हशमत ने परखा है तो सोबती का अपना पक्ष भी यहाँ मौजूद है। इस तरह हशमत एक आलोचक के रूप में कृष्णा सोबती के प्रतिरूप बनकर 'हम हशमत' में उभरे हैं।

इसी संस्मरण का एक रोचक प्रसंग, 'वे अपने लिए अदद त्रिदेव जुटा लेते हैं' उप शीर्षक से मौजूद है। किस्सा बच्चन ग्रन्थावली के प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी द्वारा विमोचन समारोह से जुड़ा है। सोबती ने गाँधी और बच्चन परिवार के एक-एक सदस्य का जो रेखाचित्र कुछ ही पंक्तियों में प्रस्तुत किया है, वह शब्दों की ताकत से पाठक के सामने ऐसे उपस्थित हो जाता है मानो आप स्वयं उस आयोजन में बैठे हर चीज जाँच रहे हों। अति विशिष्ट लोगों की उपस्थिति में उभरे वातावरण में नामवर सिंह के वक्तव्य की विशिष्टता को हशमत की दृष्टि मंच पर कौंध की तरह देखती है। *"दोस्तो, हमने अपनी आँख से यह मंजर देखा कि शब्दों के सम्प्रेषण से नामवर सभागार में बैठे हर उस व्यक्ति के साथ जुड़ गए जो सरकारी बिरादरी से हट कर लेखकीय अस्मिता को गम्भीरता से बचाए रखता है,*

रखना चाहता है।" वाद-प्रतिवाद के माध्यम से जो व्यंग्य इस संस्मरण में पैदा किया गया है वह गहरा है। साहित्य की दुनिया के यह सच तीखे होने के बावजूद व्यंग्य की धार चढ़कर कड़वाहट नहीं घोलते, पर सच पर से पर्दा जरूर हटा देते हैं। यही यहाँ उद्घाटित होता है।

अशोक वाजपेयी पर लिखा हशमत का टुकड़ा अधिकतर उन्हें लेकर प्रचलित सच-झूठ पर से पर्दा उठाता है। इस रेखाचित्र में उनकी कविताओं का आकलन भी प्रस्तुत किया गया है और आलोचना से हशमत की शिकायतों और अपेक्षाओं का लेखा-जोखा भी। भारत-भवन का पूरा माहौल यहाँ अपनी खूबियों और ख़ामियों के साथ एक दिलचस्प किस्से के माध्यम से उभरता है। अशोक वाजपेयी की कविताओं को हशमत कुछ यों आँकते हैं–*"सहज सीधी पंक्ति के गूढ़ार्थ में एक सुसंस्कृत संस्कार का उद्भव और अन्तरंगता के सन्सर्ग की व्याप्ति। अशोक न दार्शनिक बेचारगी से ग्रस्त हैं, न मृत्यु से त्रस्त, न बाहर के शोर से, न अन्दर के कोलाहल से, जिस आन्तरिक दृष्टि की विराटता को अभिव्यक्त करते हैं उसकी एकान्तिकता उनके अपने में संचित है, वही सृष्टि के विराट् में भी, यही सत्यतम है।"*

साहित्य की दुनिया के ये दो विपरीत ध्रुव, नामवर सिंह और अशोक वाजपेयी सम्भवतः साहित्य संसार को पूर्णता भी प्रदान करते हैं। कृष्णा सोबती ने भी दोनों दिग्गजों को आँकने में कहीं चूक नहीं की है। जहाँ उन्होंने नामवर सिंह की आलोचना के महत्वपूर्ण पक्षों को उभारते हुए 'कविता के नए प्रतिमान' से उनकी आलोचना के उद्धरण लिये हैं वहीं अशोक वाजपेयी की कविताओं की बाकायदा आलोचनात्मक व्याख्या उन्होंने स्वयं की हैं। इस दृष्टि से भी हशमत का अपने समकालीनों को परखने के नजरिये से अलग महत्व है।

उनके अन्दर का आलोचक अपने समकालीनों पर संस्मरण लिखते हुए अक्सर मुखर हो जाता है और किसी लेखक के रचनात्मक लेखन पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए किसी तरह का कृत्रिम सन्तुलन साधने का प्रयत्न उनके यहाँ नहीं है, जो लेखकीय सम्बन्धों के लेन-देन की प्रवृत्ति के चलते लेखकीय गरिमा की आँच को कम करे। भीष्म साहनी के महत्वपूर्ण उपन्यास 'तमस' पर उनकी टिप्पणी–

> *"तमस" में विश्वास करने के कारण मौजूद हैं कि भीष्म ने इस ख़ौफ़नाक घटना को बड़ी बारीकी से निथारा है और फैले हुए इतिहास और उसके राजनीतिक सन्दर्भ की लीक देकर कुछ ही दिनों को ढाँचे से बाँधने की कोशिश की है और इसमें शक नहीं कि यह एक बड़ी कोशिश थी। कोई भी बड़ी कोशिश महज कोशिश नहीं होती। उसके पीछे आस्थाएँ, संस्कार और मूल्य होते हैं जिनसे भीष्म जैसा जागरूक व्यक्ति बँधा होता है, 'कमिटेड' होता है।*

दूसरी ओर विभाजन पर लिखे गए यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' की सीमाओं पर सीधे हशमत के माध्यम से बात न करके नेमिचन्द्र जैन की आलोचना के माध्यम से पाठक के लिए बड़े उपन्यास की दरारों में झाँक सकने का मौका दिया है। उपन्यास की आलोचना की बहुत समृद्ध परम्परा हमारे पास नहीं रही है। ऐसे में आलोचना कर्म पर स्वस्थ और स्पष्ट दृष्टि रखनेवाले लेखक नेमिचन्द्र जैन की आलोचना दृष्टि के महत्व को सोबती ने बखूबी रेखांकित किया है।

नेमिचन्द्र जैन की आलोचनात्मक पुस्तक 'अधूरे साक्षात्कार' छद्म आलोचना-समीक्षा के युग में एक साफ-सुथरी पठनीय किताब है। कृष्णा सोबती की पैनी नजर आलोचना के गिरते स्तर और लेन-देन के लाभकारी धन्धे पर रही है। 'हम हशमत' में ही नहीं, बल्कि 'सोबती-वैद संवाद' में भी यह बेचैनी मुखर हुई है। लेखन की इस स्थिति पर नेमिचन्द्र जैन की बेबाक राय को भी सोबती ने इस लेख में उद्धृत किया है। स्वयं नेमि जी की आलोचना दृष्टि को स्पष्ट करते हुए सोबती कहती हैं– *"आलोचक के रूप में नेमि जी के पास कड़े अनुशासन से उभरी एक ठंडी तीखी शैली है जो सर्जक की निपुणता से कृति के आर-पार देखती है।"*

साहित्य में रूप और कथ्य को लेकर चलने वाला विवाद कहीं-न-कहीं भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है। भाषा के प्रति अतिरिक्त सजगता बरतने वाले लेखक पर रूपवादी होने के आक्षेप लगते रहते हैं। कहानी कहना एक कला है। कहानी लिखना एक कला है। इस कला में विशिष्टता हासिल करने के लिए लेखक का भाषा के प्रति संवेदनशील होना स्वाभाविक है। यह इस कला के प्रति लेखक की सजगता और समर्पण का भी प्रमाण है। यह सजगता केवल शब्दों से उत्पन्न नहीं होती, बल्कि कथ्य के चयन और घटनाक्रम के निर्वहन के प्रति भी लेखक को सजग रहना होता है। कथ्य से न्याय करने की क्षमता भाषा के सजग प्रयोग से ही सम्भव है। पाठक कथारस का आनन्द भी ले और कथ्य की प्रासंगिकता भी पाठक तक सम्प्रेषित हो पाए, यह चुनौती एक सजग लेखक के सामने हमेशा मौजूद रहती है।

खेमों में बँटी आलोचना और विशेष रूप से किताबों की समीक्षा की राजनीति किसी से छिपी नहीं है। अपवाद हर जगह होते हैं, पर अब स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि लेखक

स्वयं ही अपना स्तुति गान करवाकर पत्र-पत्रिकाओं को समीक्षा भेज देते हैं। निश्चित रूप से यह स्थिति दयनीय है और आलोचना की भूमिका के लिए घातक। नेमि जी की आलोचना दृष्टि का सोबती की नजर में कितना महत्त्व है इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि नामवर सिंह की 'कविता के नए प्रतिमान' सहित 'राग दरबारी', 'झूठा सच', 'आत्महत्या के विरुद्ध' आदि पुस्तकों पर नेमि जी की टिप्पणियों को उन्होंने उद्धृत किया है।

'हशमत दो' में सोबती की सोच को झकझोरने वाले मन्टो हैं। 'अ से अरविंद' के बहाने एक बार फिर प्रकाशन जगत् को उसकी खूबियों-खामियों के साथ टटोला गया है। वैसे सम्पादक कन्हैयालाल नन्दन भी यहाँ मौजूद हैं। नाटककार-कवि उमाशंकर जोशी को तो बाकायदा उनके साक्षात्कार के माध्यम से समझा गया है। राजेन्द्र सिंह बेदी, 'जहाज' और 'बर्फ' जैसी कहानियों के लेखक सत्येन कुमार, मंजूर एहतेशाम, श्रीकान्त वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और कमलेश्वर तक मौजूद हैं। यद्यपि सभी समकालीनों का मौजूद होना न तो जरूरी है और न ही सम्भव, फिर भी यदि किसी का न मौजूद होना अखरता है तो वह है विवादों से घिरे रहनेवाले 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव, जिनका जिक्र भीष्म साहनी के घर बिताई 'एक शाम' नामक संस्मरण में नाममात्र को आता है। व्यंग्य की यह पैनी धार कई और जगहों पर इतनी विलक्षण है कि आश्चर्य होता हैं। नामवर सिंह वाले संस्मरण में लेखकों की दुनिया में संक्रामक रोग की तरह मौजूद 'जी हुजूरियत' की परम्परा पर कटाक्ष पठनीय है। कुल मिलाकर हशमत कहीं भी जा सकते हैं, किसी भी घटना, या आम आदमी का रेखाचित्र खींच सकते हैं, साक्षात्कार कर सकते हैं, आलोचनात्मक व्याख्या और चाहें तो व्यंग्य भी। तब किस तरह हम हशमत को संस्मरण या रेखाचित्र मात्र कह सकते हैं। सोबती ने कहानी और उपन्यास के ढाँचे में भी अभिनव प्रयोग किए हैं तो फिर इस तरह की पुस्तक में यह संभावना कैसे छूट जाती।

पानबाई से नानबाई तक

हशमत की नजर जैसे दिल्ली की व्यवस्था पर जाती है वैसे ही कुछ ऐसे आम और साधारण चरित्रों पर भी, जो हशमत की कलम का स्पर्श पाकर खास हो जाते हैं। यह केवल चरित्रों का खाका भर खींचना नहीं है, बल्कि मानवीय मूल्यों और जनसाधारण के सरोकारों की पहचान भी है। नागार्जुन से सम्बन्धित संस्मरण की भूमिका में मंडी हाउस के इलाके का चित्रण है। वहाँ पान लगानेवाली अल्लारक्खी को सोबती अपनी कहानी के मंचन का आमन्त्रण देती हैं तो उसकी प्रतिक्रिया केवल पान लगानेवाले की नहीं, बल्कि हमारे समाज की साहित्य और कलाओं के प्रति सोच का भी प्रतिनिधित्व करती है।

> *"दोस्तो, हमने उसको और उसके मियाँ को अपना नाटक देखने की दावत दी तो बोली—अपना तो काम का वक्त होता है साहिब! इतवार को कभी-कभार फिल्म देख लिया करते हैं। यह तो बताइए 'तमाशा' आपका कुछ काम का भी होगा।"*

इस विडम्बना की ओर हशमत का सीधा इशारा नहीं है, पर हकीकत भी तो यही है। यहाँ 'तमाशा' शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य के समाज से सम्बन्धों की स्थिति पर कटाक्ष तो करता ही है।

नानबाई का तो कहना ही क्या। जो इंसान अपनी कला में पारंगत होता है और ढिठाई की हद तक ईमानदार भी, वह नानबाई की तरह ही खुद्दार होता है। हशमत का यह प्रसंग बहुत ही जीवन्त बन पड़ा है। छप्पन प्रकार की रोटियाँ बनाने के लिए मशहूर पुरानी दिल्ली के खानदानी नानबाई का यह जीवन्त रेखाचित्र है। पारम्परिकता कोई जड़ चीज तो नहीं, पर उसके छूट जाने की पीड़ा कम भी तो नहीं। नानबाई का गम उसके समय की रफ्तार में उसके हुनर के कद्रदानों के गुजर जाने से जुड़ा है। *"उतर गए वो जमाने और गए वो कद्रदान जो खाने-पकाने की कदर करना जानते थे। मियाँ अब क्या रखा है... निकली तन्दूर से—निगली और हजम।"*

पहले खंड के अन्त में अपने लेखन पर सोबती की टिप्पणियाँ न केवल रोचक हैं, बल्कि उनके लेखन को लेकर पाठक के कई संशय भी दूर करती हैं।

कुछ और शब्दचित्र

लेखकों की दुनिया से बाहर निकालकर जो भी रेखाचित्र और शब्दचित्र सोबती ने मियाँ हशमत के माध्यम से रचे हैं, उनमें एक अलग तरह की उन्मुक्तता देखी जा सकती है। यथार्थ का पुनर्सृजन करते हुए कल्पना को उड़ान देने की छूट यहाँ आसानी से ले सकने के चलते यह सम्भव हुआ।

'इंकलाब ख्वाब नहीं' में भारतीय लोकतंत्र की सबसे छोटी और महत्त्वपूर्ण इकाई 'पंचायत' का वर्तमान स्वरूप उजागर होता है। यह चित्र पंचायत और गाँव की बदल रही आबोहवा का भी जायजा लेता है। यह परिवर्तन के ऐसे दौर को चित्रित करता है, जिसमें एक ओर दौलत और ताकत की

ऐंठ है और दूसरी तरफ ग्रामीण स्तर पर दलितों का अपनी अस्मिता को लेकर जागरण। गाँव या पंचायत के उत्थान के लिए आए फंड डकारने की भ्रष्ट नीयत के फलने-फूलने और आम जनता के माध्यम से उस पर सवाल उठाने की नई पहल भी देखी जा सकती है। कुल मिलाकर यह दृश्य जनतंत्र को उस मुहाने पर खड़ा देखता है जहाँ व्यवस्थागत खामियाँ अपनी जगह मौजूद हैं तो उनके खिलाफ आवाज भी बुलन्द हो रही है।

इससे पहले का संस्मरण 'ख्वाब भी देखा तो ऐसा' राजधानी दिल्ली की परिवहन व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य है। स्वप्न में हशमत पच्चीस वर्ष बाद की दिल्ली में आला दर्जे की परिवहन-व्यवस्था देखकर दंग रह जाते हैं। उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि वह इसी हिन्दुस्तान में हैं। इक्कीसवीं सदी में जैसी व्यवस्था अपेक्षित थी वह स्वप्न ही बनकर रह गई है। स्वप्न के माध्यम से तीखे व्यंग्यात्मक रूप में सोवती ने इस विषय को उठाया है।

"न पान की पीकें, न गंडेरियों के छिलके, न खँखार, न पेशाब की बदबू, न खंबों पर तेल की चिकनाहट। सच पूछिए तो हमें बार-बार यह शक हो कि क्या हम वाकई हिन्दोस्तान में हैं..."

"क्या बसें थीं। क्या सफाई। क्या कंडक्टरों की जुबान की मिठास। क्या चमक-दमक, पाँव के नीचे नोइनोलियम के फर्श-खिड़कियों के परदे-छत पर पंखे।"

"यह ख्वाब नहीं हो सकता, यह हकीकत है हकीकत..."

आजादी के बाद ऐसी हकीकत की अपेक्षा लेखक की ही नहीं, हर जागरूक देशवासी की रही होगी, पर शहरों की परिवहन व्यवस्था का कुप्रबन्धन देखकर लगता है, लोग ऐसा सपना भी देखना भूल चुके हैं। हशमत मानो अपना फर्ज समझकर आधुनिक भारत का ऐसा स्वप्न पाठकों को दिखाते हैं।

'सरदार जग्गा सिंह' भी एक निहायत दिलचस्प शब्दचित्र है। दिल्ली में पंजाब के टैक्सी चालक से साक्षात्कार के रूप में मियाँ नसीरुद्दीन की तरह ही जीवन्त चित्रण। टैक्सी ड्राइवरों के जुमले और जीवन का खिलन्दड़ापन इस शब्दचित्र में मुखर हुआ है। बहुत बारीक ब्योरे हैं, जिनके माध्यम से दिल्ली के आभिजात्यवादी जीवन के दोगलेपन के कई रोचक पहलू उभरकर सामने आते हैं। टैक्सी ड्राइवर का वास्ता ही पैसे वालों से पड़ता है तो उस जिन्दगी के अनुभव उसके पास होंगे ही। हशमत के सरदार जग्गा सिंह से संवाद में नई धनाढ्य पीढ़ी और उसके आचरण का सहज वर्णन रोचक है। वह पाठक के सामने आता है जहाँ वह अपने अनुभव और कल्पना से स्थितियों की विकटता के सही-सही अनुमान लगा सकता है। कई सवालों का जवाब देने से इनकार करते हुए भी ज्यादा खुला जवाब जग्गा सिंह के माध्यम से मिलता है-

"खुलासा हो तो अच्छी बातों का। बुरी बातों का खुलासा क्यों करना। ढका ही रहने दो जी उन्हें।... फर्ज करो, हम देखने लगे सवारियों की करतूतें। आप जानो सब किस्म की सवारियाँ मिलती हैं या तो गाड़ी खड़ी करके उनको सड़क पर ठेल दें और उन्हें ले जाएँ सीधे थाने। पर जी, हम क्यों करें ऐसा? जब पता चलता है यह 'लाइन' ही कुत्ती है।"

पुलिस वालों से सम्बन्धों पर भी कोई टिप्पणी देने से बचते हुए जग्गा सिंह का कहना है—

"पुलिस का क्या पूछोगे हमसे जी, ड्राइवर और पुलिस का तो रिश्ता ही ऐसा है जैसे घर के मर्द और घरवाली का। अब जो भी एक-दूसरे के शिकवे शिकायतें हों वह दूसरों के सामने तो नहीं खुल सकते जी। समझे साहब। ये खुले और बात बिगड़ी।"

इस अनकही के दोनों उद्धरणों में न कहकर भी सब कुछ कह दिया गया है और कहकर भी कुछ नहीं कहा गया। समाज के किसी भी वर्ग के शब्द, जुमले और फिकरे पकड़ने और उनके माध्यम से रोचकता के साथ विश्वसनीयता को कायम रखने में कृष्णा सोवती को महारत हासिल है। कहानी, उपन्यास से लेकर इन शब्दचित्रों तक में सोवती के लेखन के इस मुहावरे का सफल प्रयोग देखा जा सकता है। 'दावत में शिरकत' भी व्यंग्य के माध्यम से लेखक समाज की बारीक हरकतों पर चुटकी लेता है। ऐसा दृश्य प्रचलित संस्मरणात्मक ढाँचे में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं।

इस तरह के शब्दचित्रों में जो लय है वह कुछ साहित्यिक संस्मरणों में देखने को नहीं मिल सकती। आलोचनात्मक पुट आ जाने से वहाँ बौद्धिकता हावी हो जाती है, यद्यपि जहाँ व्यंग्य की धार तेज है वहाँ सन्तुलन बना रहता है।

हशमत के दूसरे और तीसरे भाग में इस तरह के शब्दचित्र नहीं मिलते। पहले खंड के अन्त में हशमत की सोवती से मुलाकात का चित्रण भी है। खुद को और खुद के लेखन को हशमत के नजरिये से जाँचने-परखने का अनूठा प्रयास। *"मिजाज इतना गरीब कि शक होने लगे। दिल इतना अमीर कि अमीरी महज एक सलीका बनकर रह जाए। गुस्सा इतना तेज कि पलक झपकते तेवर खनकने लगें। ठंडापन इतना कि सिर पर से तूफान गुजर जाए और इस पथरीले चेहरे पर शिकन न आए।"*

'हम हशमत' के यह दोनों खंड इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि पाठक को न केवल हिन्दी साहित्य जगत् के एक लम्बे दौर से परिचित कराते हैं, बल्कि इस संसार के कुछ अनुत्तरित प्रश्नों पर तार्किक बहस भी प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पाठक का साक्षात्कार कृष्णा सोबती के लेखन में मौजूद व्यंग्य की पैनी धार से होता है और उनकी गहरी आलोचनात्मक समझ से भी। हिन्दी साहित्य जगत् में यह अपनी तरह का पहला प्रयोगात्मक और रचनात्मक प्रयास है।

बात अभी बाकी है : हम हशमत-3

साहित्य की दुनिया में विवादों का होना कोई नई बात नहीं है। विवाद वैचारिक भी रहे हैं, रचना की प्रासंगिकता पर भी होते रहे हैं और आलोचकीय दृष्टि की भिन्नता के चलते भी भिन्न मत सामने आते रहे हैं। लेकिन सूचना क्रान्ति के युग में चर्चा में बने रहने की मजबूरी से साहित्य जगत् भी बच नहीं पाया है। बाजार में बने रहने और आगे बढ़ने के लिए ऐसे हथकंडे अपनाने से बहुत से लोगों को कोई गुरेज नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में इसकी शुरुआत कुछ स्वीकारोक्तिनुमा संस्मरणों के प्रकाशन से मानी जा सकती है जहाँ कुछ लेखकों ने सनसनीखेज खुलासे करने शुरू कर दिए जो साहित्य जगत् को तो कुछ भी रचनात्मक दे पाने की स्थिति में नहीं थे पर चटपटेपन के चलते पत्रिका की प्रसार संख्या बढ़ाने और दूसरों के जख्म कुरेदने की दृष्टि से जरूर कारगर थे। धीरे-धीरे ऐसे रहस्योद्‌घाटनों का सिलसिला बढ़ा क्योंकि यह पाठक वर्ग को तात्कालिक रूप से आकर्षित करता था और व्यावसायिक दृष्टि से लाभप्रद नजर आता था।

अब स्थिति यह है कि अनावश्यक विवाद धीरे-धीरे स्वीकार्य होने लगे हैं। लेखकों और पाठकों का एक वर्ग ऐसे किस्सों में मजा लेने लगा है। महुआ माजी विवाद इसका ताजा उदाहरण है। स्लोवा वार्नो नामक लेखिका को आलोचक और सम्पादक वर्ग द्वारा हाथों-हाथ लिया जाना और उसके अस्तित्व पर खोजी अभियान चलाया जाना 'सनसजीखेज' प्रस्तुत करने के दौर में बौद्धिक दिवालियेपन का एक और उदाहरण है। बेहतर होता कि उन कहानियों की प्रासंगिकता की जाँच होती। जब लेखक की दृष्टि रचना पर न होकर रचनाकार पर केन्द्रित हो जाए तो साहित्य पर इस तरह के संकट पैदा होते हैं। खतरा यह है कि इस प्रवृत्ति को कहीं साहित्यिक विधा का कोई स्वरूप ही न मान लिया जाए। साहित्य की दुनिया में इस सिलसिले का मुखर विरोध भी कम ही नजर आता है। इधर पाठकों के बजाए ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए कुछ पत्रिकाओं के विशेषांक जिस तरह के नए बाजारवादी मुहावरे और विशेषणों के तहत विज्ञापित किए गए हैं वह पाठक को मोहित करने की नई तरह की ब्रांडिंग का हिस्सा है। बाजार से निपटने की यह प्रवृत्ति किसी भी तरह से साहित्य के हित में नहीं हो सकती।

कृष्णा सोबती को शुरू से ही लेखकीय स्वाभिमान से कोई समझौता न करने के स्वभाव के चलते अक्खड़ और गुस्सैल लेखिका की नजर से देखा जाने लगा था। एक ओर पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता का महिला लेखिका के प्रति नकार भाव और दूसरी ओर अपनी शर्तों पर जीवन जीने का माद्‌दा रखनेवाले लेखक की जिद्‌द। सोबती को लेखकीय स्वाभिमान के सामने जो भी नागवार गुजारा उन्होंने उसका विरोध किया, समझौता नहीं किया। अपने पक्ष के समर्थन में ही नहीं बल्कि साहित्यिक बिरादरी के पक्ष में मजबूती से खड़े होने में कभी कोई संकोच नहीं किया। 'हम हशमत-3' की तासीर इसके पहले दो भागों से थोड़ा अलग है। यहाँ हशमत लेखकों के समाज को हल्केपन से देखने और बिना वजह विवादों को हवा देनेवाले लेखकों-सम्पादकों को आईना दिखाने की मुद्रा में नजर आते हैं। ऐसा करते हुए वह उनके द्वारा लिखे गए विवादास्पद लेखों को आधार बनाते हुए मानो आगाह करते हैं कि साहित्य की दुनिया सब्जी मंडी नहीं है कि जिसकी चाहे जैसी बोली लगा लो। हाल ही के कुछ प्रकरण इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं जिनसे असहमति और विरोध जताते संस्मरण 'हम हशमत-3' में संकलित हैं। विभूति नारायण राय, शम्भूनाथ, रवीन्द्र कालिया तथा विष्णु खरे पर आधारित संस्मरण उनके द्वारा लिखे गए किसी-न-किसी लेख या टिप्पणी के विरोध में उनकी शख्सियत के एक पक्ष के साथ जुड़ते हैं। यह तो शुरू में ही स्पष्ट किया गया है कि सोबती हशमत के रूप में भी संस्मरण विधा का अतिक्रमण करती हैं।

'छह फुटिया हस्ती' शीर्षक से रवीन्द्र कालिया की छवि प्रस्तुत करता स्मृति-चित्र साहित्यिक गलियारों को सचेत करता है कि लेखन और लेखक के स्वाभिमान से कभी समझौता न करनेवाले वरिष्ठ लेखक को कमजोर समझ लेने की गलती नहीं करनी चाहिए। कृष्णा सोबती की तल्खी यहाँ तथ्यों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने की बाजारवादी सोच से उभरे रवैये को लेकर है।

> *"उस्ताद, बाजार संस्कृति की आतंकवादी हलचलों के चलते मानहानि सिर्फ सुविधासम्पन्न लोगों की नहीं होती। शब्द संस्कृति अपने जनतंत्र के लिए भी इस*

अधिकार को बनाए रखना चाहती है। गौरतलब यह भी कि कुछ अधिकार केवल सम्पादक के पास हैं, कुछ लेखक की मदद से भी बने रहें तो बुरा नहीं, क्योंकि इसका सम्बन्ध लेखक के नागरिक अधिकारों से भी है।"

इस स्मृति चित्र के माध्यम से तथ्यहीन विवादों पर हशमत द्वारा तथ्य उपलब्ध कराए गए हैं। 'मयूर' पत्रिका के प्रकाशन से मेहनताने के चेक पर कैंची चला दिए जाने के प्रसंग को काल्पनिक करार देते हुए सोबती कहती है।

"रात मेज पर काम करते-करते वह खत फिर नजर आया। पत्र और पैन से चैक पर क्रॉस मार दिया और एक पंक्ति के खत के साथ चैक को नत्थी कर दिया —यह गुनगुनाते हुए कि बेजुबानी जुबाँ न हो जाए। खत की पंक्ति थी—हशमत डिस्काउंट पर नहीं लिखते।"

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'चन्ना' भारती भंडार से छप रहा था जिसके प्रकाशन को उन्होंने बीच में ही रुकवा दिया। यह जानकारी साहित्य की दुनिया को है कि इस उपन्यास का स्वरूप बाद में जिन्दगीनामा के रूप में उभरा। इस सन्दर्भ को जिन शब्दों में रवीन्द्र कालिया ने प्रस्तुत किया उन पंक्तियों को हशमत ने पुस्तक में उद्धृत किया है—

"यह भी सुना गया कि देश की प्रख्यात प्रकाशन संस्था भारती भंडार ने उनके उपन्यास को प्रकाशित करने का जोखिम उठाया था, मगर पुस्तक के प्रस्तुतीकरण से हशमत इतने क्षुब्ध हुए कि उसका प्रकाशन रुक गया। कई रिम कागज बेकार हो गया।"

कृष्णा सोबती वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए लिखती हैं :

"... हकीकत ठीक इसके उल्टी। उसे दोहरने से कोई फायदा नहीं क्योंकि हुजूर भी उससे बेखबर नहीं। प्रूफरीडर लल्लू लाल जी द्वारा हमारी भाषा का शुद्धिकरण किया गया था जो हमें मंजूर नहीं था। लगभग साढ़े तीन सौ पृष्ठ छप चुके थे सो हमने पहले उपन्यास और लिखित के लिए प्रूफ रीडर साहब को सजा देना ठीक नहीं समझा और अपने तईं कागज प्रिंटिंग के खर्चे का निपटारा कर दिया। ऐसा करने से ही वाचस्पति पाठक जी, लीडर प्रेस के बिन्दा प्रसाद ठाकुर और लल्लू लालजी को कोई खरोंच नहीं आई और न ही हम लोगों के बीच कोई मन-मुटाव या गलतफहमी ही पैदा हुई।"

कृष्णा सोबती के जीवन से जुड़ी कुछ घटनाओं को जिस तरह प्रस्तुत किया गया उनसे क्षुब्ध होकर 'छह फुटिया हस्ती' में सोबती स्थितियों की तह में पाठक को वापिस ले जाती हैं।

भारतीय भाषा परिषद् के इलाहाबाद सम्मेलन में घटी घटना का जिक्र साहित्य समाज में आयोजनों के उस ढाँचे पर भी सवाल उठाता है जिसे हम आज तक ढोते चले आ रहे हैं। जहाँ साहित्येतर ताम-झाम में आयोजक साहित्यकारों की गरिमा का ख्याल रखना तक भूल जाते हैं। ऐसे में कोई एतराज जताए तो अक्खड़ क्यों न कहलाए। समय परिवर्तित हुआ, इस परिवर्तन को सचेत लेखकों के माध्यम से साहित्यिक विधाओं के रूप-विधान में भी चिन्हित किया गया लेकिन साहित्यिक आयोजन कमोबेश एक ही बने-बनाए ढाँचे को दोहराते रहे। आज जमा-जोड़ और खेमों में बँटे साहित्यिक आयोजन श्रोताओं की कमी का रोना रोते हैं। कहीं इसके पीछे आयोजनों का वह जड़ ढाँचा ही जिम्मेदार तो नहीं जहाँ दिखावा ज्यादा है और श्रोताओं की सक्रिय भागीदारी नगण्य।

"मंच ठसाठस भरा था। मंच मर्यादा के हिसाब से दर्शकों और श्रोताओं के निकट वरिष्ठ कवियों की उपस्थिति गौण लग रही थी। मंच पर उस दिन कार्यक्रम परिचय पत्र, उपहार चिन्ह और शॉल बँटने लगे और फिर आ गए नकदी के लिफाफे। सम्मानित होनेवाले कवियों की अवज्ञा- सी लग रही थी। हमने लिफाफा (फेंका नहीं) मेज पर रख दिया और आयोजकों को सम्बोधित कर इस रीति रस्म का विरोध किया जो लेखक समाज के सांस्कृतिक शिष्टाचार को फीका करता दिखता था।"

इस तरह का विरोध जताने के लिए लेखकीय ईमानदारी, प्रतिबद्धता और साहस का होना जरूरी है। कोई दूसरा रास्ता अपनाने के तर्कों के बावजूद ऐसा मुखर विरोध ही किसी परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

एक अन्य घटना का जिक्र है। भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में जी.सी. पांडे अध्यक्ष बनकर आए थे। संगोष्ठी कक्ष में जब उन्होंने कहा कि यह स्थान रचनात्मक लेखकों के लिए नहीं है तो कृष्णा सोबती की ओर से हस्तक्षेप जरूरी था। यह उनका निजी हस्तक्षेप न होकर सभी रचनात्मक लेखकों के पक्ष में उठाई गई आवाज थी, इसलिए आवाज का सम्मान उसी दृष्टि से होना जरूरी है। लेखक होने के नाते अपने स्वाभिमान से समझौता न करना साहित्यिक समाज में इतना आसान भी नहीं, इसकी कीमत चुकाने के लिए एक रचनाकार को तैयार रहना पड़ता है।

'जिन्दगीनामा' के शीर्षक की रक्षा को लेकर बीस वर्ष से

ऊपर मुकदमेबाजी झेलना एक लेखक के लिए आसान काम नहीं। 'सोबती-वैद संवाद' में इस विषय पर बात हो चुकी है। 'मित्रो मरजानी' और 'यारों के यार' जैसी रचनाओं को लेकर भी सोबती को कम विवादों के दौर से नहीं गुजरना पड़ा। भैरोप्रसाद गुप्त अपनी पत्रिका में 'मित्रो मरजानी' का प्रकाशन कर रहे थे, इस बीच कुछ कठिनाइयाँ पैदा हुईं जिनका सम्बन्ध 'सारिका' और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार से जुड़ता है। इसी स्मृति चित्र में भ्रम की स्थिति को स्पष्ट करते हुए सोबती ने स्पष्ट किया है–

> *"नोटिस सारिका के नए सम्पादक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार साहिब को भेज दिया गया। हमारी माँग इतनी ही थी कि पत्रिका गलत बयानी के लिए लेखक से माफी माँग ले।"*
>
> *अगले अंक में माफी माँग ली गई और किस्सा खत्म हो गया!.... कलेजे पर हाथ रखकर कहिए कि इसे आप हमारे झगड़ालूपन की संज्ञा देंगे। क्या ऐसा न करके हमें कुल्हड़ लेकर दर-दर खटखटाना चाहिए था कि हुजूर हमारे साथ हमदर्दी कीजिए, हमारे साथ बेइंसाफी हुई है।*

इसी तरह की कुछ और भी घटनाएँ हैं जिनको रवीन्द्र कालिया के पक्ष से कृष्णा सोबती ने सख्त एतराज व्यक्त किया है। यह घटनाएँ विस्तार से इस संस्मरण के माध्यम से पाठक तक पहुँचती हैं। सोबती का यह संस्मरण पढ़कर पाठक के सामने साहित्य की दुनिया के दो पक्ष उभरते हैं। रवीन्द्र कालिया का संस्मरण पढ़ने की जिज्ञासा भी पैदा होती है। इसके बाद पाठक अपनी राय स्वयं बना सकता है कि हशमत के माध्यम से सोबती की यह प्रतिक्रिया क्यों वाजिब है।

दिल्ली के लेखकों पर शम्भूनाथ के 'जनसत्ता' में प्रकाशित लेख को आधार बनाकर कृष्णा सोबती ने उन पर संस्मरण लिखा है 'प्रभुपाद गुड़ गुलगुले महाराज'। कृष्णा सोबती की आपत्ति शम्भूनाथ द्वारा दिल्ली के हिन्दी लेखकों को 'दिल्लीवादी' विशेषण के तहत किसी षड्यंत्रकारी खेमे में रख दिए जाने को लेकर है। एक ही चश्मे से किसी देश या प्रदेश के लेखक वर्ग को देखने जैसा साधारणीकरण किसी को भी अखर सकता है।

> *"क्या पते की धमक और धसक है गुलगुली पीढ़ी की? महाराज आप ही के शब्दों में दिल्ली के प्रभु संसार में पुरस्कार देने के चार आधार हैं–वृद्धावस्था, जातिवाद, राजनीतिक दल और दारूबाजी, बकौल आप के पुरस्कार चयन का कोई पाँचवाँ कारण नहीं होता।"*

संस्मरण में साहित्य अकादमी की कार्यप्रणाली पर भी चर्चा है। पहला सामसुंग टैगोर साहित्य पुरस्कार प्राप्त करनेवाली राजी सेठ का भी समर्थन इस सन्दर्भ में है कि उन्हें पुरस्कार मिलने का आधार उनकी रचनात्मक प्रतिभा रही है न कि शम्भुनाथ जी द्वारा गिनाए गए चार कारण।

पिछले कुछ वर्षों में साहित्यिक मर्यादा के समर्थन में ही नहीं बल्कि सामाजिक विकृतियों को लेकर भी कृष्णा सोबती जैसी वरिष्ठ लेखिका का हस्तक्षेप सही मायने में लेखकीय प्रतिबद्धता का प्रतिबिम्ब है।

दरअसल संस्मरण विधा का जो स्वरूप 'हम हशमत-3' में उभरा है वह इस विधा का एक अलग रूप प्रस्तुत करता है। एक तरफ कुछ ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्हें हशमत करीब से पहचानते हैं और उनके व्यक्तित्व के मानवीय गुणों और लेखकीय अवदान के अछूते पहलुओं को रेखांकित करते चलते हैं। दूसरी ओर वह साहित्यिक हस्तियों में मौजूद ऐसी प्रवृत्तियों को भी रेखांकित करते हैं जिसके चलते साहित्य की दुनिया में भ्रामक विवाद पैदा करने का चलन शुरू हुआ। गहरी साहित्यिक समझ और साहस के साथ कृष्णा सोबती ने ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध किया है। यह हशमत का भी नया रूप है जो इससे पहले के भागों में देखने को नहीं मिलता।

'बाज आए मुहब्बत से उठा लो पानदान अपना' शीर्षक शेर में हशमत की वैचारिक टकराहट विभूति नारायण राय से हुई है। नया ज्ञानोदय में प्रकाशित उनके इन्टरव्यू में 'छिनाल' शब्द के प्रयोग से महिला लेखकों के प्रति ध्वनित होते रवैये का साहित्यिक हल्के में व्यापक विरोध हुआ। इसी पुरुषवादी मानसिकता को कठघरे में खड़ा करता यह संस्मरण पुनः एक रचनाकार की प्रतिबद्धता को रेखांकित करता है।

> *"हम आपको यकीन दिलाना चाहते हैं कि हमारी चिन्ता और विरोध आपके प्रति नहीं मुख़ालफ़त मात्र 'छिनाल' शब्द के प्रति भी नहीं–उस अलोकतान्त्रिक, वैचारिक मानसिक और सांस्कृतिक रणनीति को ले कर है जो आज की तारीख में 'बराबरी' के लोकमत के विपरीत जाती है। पूरे साहित्य में मची इस खलबली का मतलब यह न जान लीजिए कि आपकी लेखक बिरादरी मदहोशी में आपका विरोध कर रही है!..."*

'छोटे उस्तादों के बड़े उस्ताद' शीर्षक से विष्णु खरे को नसीहत देता शब्दचित्र हिन्दी के वरिष्ठ रचनाकारों को हल्केपन में लिए जाने की प्रतिक्रियास्वरूप सामने आया है।

> *"...तनिक अपने भाषाई मुहावरे पर तो गौर करें। आपके हास्यास्पद जुमले को क्या कहा जाए कि*

निर्मल वर्मा और अज्ञेय ज्ञानपीठ सम्मान ले उड़े। वाह साहिब वाह, जो भारत का उच्चतम साहित्यिक सम्मान होने का दर्जा अर्जित कर चुका है, उसे हमारे अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे दो विशिष्ट लेखक ले उड़े।"

साहित्यिक बिरादरी को इस तरह के हल्केपन में लेना हशमत साहब को कतई गवारा नहीं। हशमत का यह भाग बाजारवादी तेवर अपना चुके लेखकों को आगाह करता है कि आपकी इन हरकतों पर कृष्णा सोबती जैसा वरिष्ठ रचनाकार चुप्पी साधे नहीं बैठ सकता। कई तरह के जुगाड़ों और बाजार के दबावों को महसूस करता लेखक समाज ऐसे मुद्दों को लेकर अधिकतर चुप्पी साधे रखना हितकर समझता है। आखिर इन सब मुद्दों पर कलम चलाना संस्थानों-प्रतिष्ठानों की पदवियों, पुरस्कारों-सम्मानों आदि के गणित को कभी भी बिगाड़ सकता है। लाभ-हानि के गणित से मुक्त होकर ही कोई लेखक साहित्य की दुनिया में हशमत सा हस्तक्षेप कर सकता है।

आलोक मेहता के सम्मान समारोह के माध्यम से उभरा स्मृति चित्र भी साहित्य की दुनिया में उभर रहे बाजारवादी मुहावरों पर नकेल कसता है।

हि.प्र. विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे साहित्यकार जयदेव को उनके गुजर जाने पर सोबती ने बहुत अपनेपन से याद किया है। जयदेव का निश्छल और निस्वार्थ व्यक्तित्व बहुत खूबी से उभरा है। इस तरह के लोग दुनिया में कम होते हैं जिनका बिछुड़ जाना जीवन में रिक्तता का बोध कराता है। समरहिल, बालूगंज, चौड़ा और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान भी मानो जयदेव की उपस्थिति के साथ जिन्दा हो उठते हैं। एक अच्छे और सच्चे दोस्त को इससे बेहतर श्रद्धांजलि और क्या हो सकती है।

हशमत–तीन में सोबती ने एक बार फिर से निर्मल वर्मा जैसे भाषा के चित्रकार को याद किया है। उन्हें लगता है कि निर्मल के साहित्य का एकान्त उन्हें भारतीय सामाजिक यथार्थ तक पूरी तरह पहुँचने नहीं देता।

"वैचारिक स्तर पर निर्मल के गद्य ने हमारी भाषा को वह व्यक्ति दिया जो संयुक्त भारतीय परिवार के सदस्य के रूप में विलग हो अपना निज का समय स्थित करता है और अकेलेपन में ही उसे जीना चाहता है। अज्ञेय सिर्फ रचित में अकेलापन बुनते ही नहीं उसे स्वीकार करते हैं, निर्मल का व्यक्ति भीड़ को छोड़कर पूरे दृश्य को लोप कर अकेलेपन की स्थितियाँ बुनता है।"

साहित्य की दुनिया में लेन-देन के सम्बन्धों पर आधारित जो समीक्षा संस्कृति पनपी है वह हमारी सामाजिक, राजनैतिक स्थितियों से अलग नहीं है। इसी संस्मरण में हशमत इस दलदल की ओर इशारा करते हैं। वह आलोचना की स्थिति पर निर्मल वर्मा के बहुमूल्य विचार उद्धृत करना नहीं भूलते।

"जब किसी साहित्य में सार्थक, जीवन्त और संयत समीक्षा पद्धति मुरझाने लगती है तो उसके साथ अनिवार्यतः एक परजीवी वर्ग, एक साहित्यिक माफिया पनपने लगता है।"

जिन रचनाकारों को पुनः जाँचने का प्रयास सोबती ने हशमत के माध्यम से किया है उनमें निर्मल वर्मा के बाद जिस कवि-लेखक का नाम आता है वह अशोक वाजपेयी हैं। रश्मि वाजपेयी का चरित्र भी साथ उभरता है जिनके साथ और व्यक्तित्व के खुलेपन ने अशोक वाजपेयी की साहित्यिक दुनिया को उनके गिर्द फलने-फूलने का भरपूर मौका दिया। एक कवि, आलोचक और विचारक के तौर पर अशोक वाजपेयी का आलकन करने में साहित्यविदों के सामने उनका ब्यूरोक्रेटिक व्यक्तित्व आड़े आता रहा। शब्द सत्ता पर अशोक वाजपेयी के विश्वास के चलते उनके लेखक को आलोचकों द्वारा एक खाँचे में बाँधकर देखा गया।

लेकिन गौर करें, अशोक वाजपेयी नीम प्रबुद्धों द्वारा कैसे देखे जाते रहे हैं। सुधीश पचौरी द्वारा सम्पादित 'पाठ कुपाठ' में 'वह मेरी ईर्ष्या' शीर्षक तले वाजपेयी का खाका किस तरह खींचा गया है।

"अशोक वाजपेयी एक ऐसा कल्चरल एक्टिविस्ट है जो पिछले तीस सालों से हिन्दी वालों को हलकान-परेशान किए है।"

वह रूपवादी है
वह कलावादी है
प्रतीकवादी है
वह सत्ता का प्रतीक है
वह नौकरशाह है
वह रीतिवादी है...

इस संस्मरण में अशोक वाजपेयी के चरित्र के अनेक कोणों को उभारते हुए और उनकी कविताओं का हवाला देते हुए हशमत पाठक के सामने इस कवि की एक छवि प्रस्तुत करते हैं। कई बार पाठक किसी लेखक को ठीक से पढ़े-समझे बिना विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई छवि को ही उसकी वास्तविक छवि समझ बैठता है। कृष्णा सोबती पाठक के सामने एक नया कोण प्रस्तुत करती हैं जो आपको अशोक वाजपेयी को पढ़ने और उनके योगदान को समझने में मदद करता है।

"उनकी कविता पंक्तियों का सहज, बनीला कल्पना-लोक सुधि पाठक को उच्चारण कर दोहराने को उत्साहित करता है। इसलिए वह मात्र पांडित्य और वैराग्य की कविता नहीं। जीवन के तत्काल और यथार्थ का स्पर्श करती, शब्दों में लहराती भारतीयता के आत्मिक ध्वनि-संसार की तरंगें हैं। उनकी पंक्तियों का सहजपन आपके अन्तर को ध्वनित करता है।"

अशोक वाजपेयी की अफसर छवि के साथ उनके कवि के घालमेल को भी यह संस्मरण अलगाता है। यहाँ प्रशासनिक अधिकारी होने के नाते भारत-भवन जैसी संस्था के स्वरूप को साकार करने के महत्त्व की पहचान की गई है और विश्व कविता तथा विभिन्न कलाओं की गहरी जानकारी होने के नाते साहित्य और कला के संसार को भी समृद्ध कर रहे उनके योगदान को सोबती ने रेखांकित किया है। चौथे लेखक हैं सत्येन कुमार। 'सत्येन के घर की वह शाम और सुबह' शीर्षक से तीन महत्त्वपूर्ण लेखकों के मिलन के दृश्य के मध्य सत्येन का व्यक्तित्व उभरता है। मंजूर एहतेशाम और कृष्णा सोबती के बीच उभरे संवाद में गद्य लेखकों की रचना प्रक्रिया की बारीकियों को भी समझा जा सकता है। सत्येन का लेखन ही नहीं दिल भी अमीर है। उनके जैसे दोस्त का चले जाना किसी को भी अखरेगा।

"... उस हिन्दी लेखक के घर की चुपीती सी बरकत और गर्माहट जरूर रही होगी जहाँ मौजूद तीन लिखाड़ी उस शाम के बाद तीन अच्छे उपन्यास पेश कर सके— 'छुट्टी का दिन', 'सूखा बरगद' और 'दिलो दनिश'।"

विभाजन और विस्थापन की पीड़ा से गुजरने वाली पीढ़ी में देवेन्द्र इस्सर को याद किया है। सम्भवतः साहित्य ही है जो इस ऐतिहासिक दुर्घटना के आर-पार देख सकने की मानवीय दृष्टि किसी लेखक को देता है। इलाहाबाद की कुछ घटनाएँ, मन्टो का जाना और मन्टोनामा का आना, यह पूरा क्रम इस संस्मरण में उभरता है।

हम हशमत में निर्मला जैन की किताब 'शहर-दर-शहर' के बहाने दिल्ली की गंगा-जमुनी संस्कृति को फिर से हशमत ने जिन्दा किया है। रोचक शिल्प में लिखी गई इस किताब की कई खूबियों की बारीकी को सोबती उतने ही रोचक तरीके से पकड़ती है। यहाँ कृष्णा सोबती का आलोचक एक बार पुनः उभरता है।

"बाद में 'शहर-दर-शहर' की व्यापक दृष्टि ने एक साथ घने बसे शाहजहानाबाद और नई दिल्ली के विस्मयकारी खुले विस्तार को अपने कैमरे की रेंज में पकड़ने की जुर्रत की है। पाठक होने के नाते इतना कहना होगा कि रचनात्मक स्तर पर दोनों, पुरानी दिल्ली और नई दिल्ली दिल्ली को एक ही जिल्द में बाँधने में दो अलग-अलग रसायन एक-दूसरे को चुनौती देते लगते हैं, एक स्तर पर एक-दूसरे के प्रभाव को कुछ क्षीण भी करते हैं।"

गिरधर राठी के व्यक्तित्व और उनकी बहुमुखी प्रतिभा से पहचान कराता संस्मरण इस किताब में मौजूद है। 'हसीनों की न दोस्ती अच्छी, न दुश्मनी।' इस संस्मरण में गिरधर राठी के कवि पक्ष के साथ उनका आलोचक, सम्पादक और वैचारिक पक्ष भी उभरता है। सोबती ने उनके लेखक के गहन अध्ययन पर आधारित संस्मरण में बारीकी से हर एक पक्ष को उकेरा है।

'हम हशमत' नामक किताब अपने तीसरे खंड तक आते-आते जो स्वरूप ग्रहण करती है वह अपनी अलग तासीर के बावजूद पहले दो खंडों का क्रमबद्ध विकास है। कृष्णा सोबती एक साहित्यिक व्यक्तित्व के किसी भी पहलू को लेकर बात कर सकती हैं। ऐसे पहलू जो उन्हें आकर्षित करते हों या फिर ऐसे पहलू जो उन्हें अखरते हों। जब वह किसी लेखक के रचनात्मक कौशल पर अधिकारपूर्वक बात करती हैं तब वह गहरी आलोचनात्मक दृष्टि से लैस रहती हैं। इन सबसे आगे बढ़कर वह अधिकारपूर्वक साहित्य की दुनिया में बाजार के प्रभाव से पनप रही प्रवृत्तियों और विकृतियों के विरोध में चट्टान की तरह अडिग खड़ी नजर आती हैं।

समाज के यथार्थबोध की कविताएँ

ओमप्रकाश वाल्मीकि

हरीश करमचन्दाणी का पहला कविता संग्रह 'पिता बोले थे...' 1992 में प्रकाशित हुआ था और अब दूसरा संग्रह 'समय कैसा भी हो' एक लम्बे अन्तराल के बाद आया है। बेशक इस दौरान वे निरन्तर सृजनरत रहे व रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी होती रहीं। इस संग्रह की भूमिका में हरीश करमचन्दाणी लिखते हैं, इस लम्बे अन्तराल में कितना कुछ घट-बढ़ गया है, निजी से लेकर बाहरी दुनिया में उथल-पुथल सी मच रही है, शायद इन सब की ध्वनियाँ और छवियाँ कहीं कुछ इन कविताओं में भी मिले, जिसका अहसास संग्रह की पहली कविता पढ़ते हुए ही हो जाता है—

यह वक्त ही है ऐसा
कृतज्ञता करनी पड़ती है ज्ञापित
इसलिए नहीं कि किया कोई उपकार
बस इसलिए कि बख्श दिया गया यूँ ही

मैं आभारी हूँ
नहीं मारा गया
बचा हुआ हूँ अब तक
मगर कब तक?

(आभार शीर्षक)

इस खतरनाक दौर में कवि की ये पंक्तियाँ गहरी दहशत और आतंकित कर देने वाले समय से उपजी हैं जो देखने में भले ही सहज और सरल दिखाई दें, लेकिन ये पंक्तियाँ जीवन की सच्चाई बनकर सामने खड़ी हैं, जिन्हें आसानी से अनदेखा नहीं किया जा सकता, दहशत और आतंक की छाया में जीते हुए आम आदमी की अनुभवजनित पीड़ा का दस्तावेज बनकर बेहद सरल अन्दाज में अभिव्यंजित का हिस्सा बन जाती हैं, यह सरलता ही हरीश करमचन्दाणी की कविताओं की विशिष्टता है जो इस संग्रह की कविताओं का ऐसा गुण है जो अन्यत्र दिखाई नहीं देता है। आज के इस भयावह दौर में कवि ने अपनी गहन अनुभूतियों से कविताओं की संवेदनाओं को जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों के साथ जोड़कर देखने की कोशिश की है—

यह कैसा समय है?
बड़े लड़ रहे हैं
छोटी-छोटी बातों पर बच्चों की तरह
बच्चे गुमसुम उदास
चिंतान्तुर हो रहे बड़ों की तरह
यह कैसा समय है?

(पृ. 22)

कम्वासन, 29, इंदर विहार, फेज-2, लाडपुर, देहरादून-248008

इन कविताओं को पढ़ते हुए यह एहसास और अधिक गहरा होता जाता है कि हरीश करमचन्दाणी जीवन के सहज और सरल दिखने वाले प्रसंगों को भी गहरी अनुभूति के साथ मिलाकर देखते हैं और उसका उपयोग अपनी अभिव्यक्ति को धारदार बनाकर संवेदना की बारीकियों से जोड़ देते हैं, जीवन की जटिलताओं में फँसा आम आदमी समझ भी नहीं पाता है कि उसके इर्द-गिर्द घटित होने वाली तमाम घटनाएँ उसके खिलाफ मोर्चा बनाए हुए हैं। कवि उन्हें सावधान करने के लिए बहुप्रचलित मुहावरे का इस्तेमाल करते हैं—

हाँ, भेड़िए बहुत खुश हैं
पता है उन्हें कि झूठे गडरिए की कथ का सच
जान पाएँगे लोग
जब तक
तब तक
काम उनका हो चुका होगा

(पृ. 25)

स्मृतियों, अनुभवों और संवेदनाओं की गहनता से रची बसी ये कविताएँ जितनी सहजता से अपनी बात कहती हैं, उतनी गहराई से भीतर तक अपना प्रभाव छोड़ने में सफल हैं, किसी भी सामाजिक और धार्मिक मान्यता प्राप्त कर्म के सिद्धान्त को गीता से बाहर निकलकर देखने का साहस जुटाती हैं और मनुष्य के संघर्षशील जीवन को एक भरोसा देती हैं, इसीलिए इन कविताओं में कहीं भी नाउम्मीदी की झलक दिखाई नहीं देती है, बल्कि जीवन में जो बची-खुची उम्मीदें हैं वहीं संघर्षशील आदमी की ऊर्जा बनकर उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं। हरीश करमचन्दाणी की कविताओं में अमूर्तता से ज्यादा जोर मूर्तता की ओर है तभी कवि का यथार्थबोध जीवन की विसंगतियों से जुड़ता दिखाई देता है, सामाजिक और आर्थिक, राजनीतिक विषमताओं से जूझते जनमानस के साथ खड़ी ये कविताएँ अपनी पक्षधरता का बयान बनकर आती हैं—

फिर हम गिर जाते हैं अपनी ही नज़रों में
अपनी ही आत्मा के मरने से ठीक पहले
सोचते हैं कराहते हुए
अच्छा होता हम सीख पाते सिर्फ इतना
कि बचा पाते खुद को उनके प्रहारों से
बस इतना ही सीख पाते इतना ही
अपने बच्चों से झूठ बोलने से तो बच पाते

(पृ. 67, 68)

धुआँ देती है गीली लकड़ी इसीलिए तो
बरसात में नहीं जला चूल्हा
जान गया यह कच्ची उम्र में भी कलुआ
पर नहीं कभी जान पाया
कि क्यों नहीं जलता चूल्हा
जब नहीं भी हो रही होती है बरसात

(पृ. 101)

कवि के भीतर एक गहरी बेचैनी है, जिससे वह लगातार संवाद कर रहा है और संवाद के जरिए ही वह अपनी बेचैनी को रचनात्मकता में रूपान्तरित करते हुए एक बदलाव चाहता है, जिसमें जीवन की तमाम विषमताएँ कहीं गुम होकर खत्म हो जाएँ। 'पेड़' कविता के माध्यम से कवि शोषण की गहरी जड़ों की ओर संकेत करते हुए आग्रह करते हैं कि यह एक ऐसा षड्यन्त्र है जिससे शोषित बेखबर रहता है—

पेड़ कट रहा था
और मेरे पास शब्द नहीं थे
लकड़हारे के विरुद्ध
काट रहा था वह तो ठेकेदार के लिए
मैंने कनखियों से मगर गौर से देखा उसे
लगा वह खुद भी कट रहा था साथ-साथ
और उसका कटना
पेड़ के कट कर गिर जाने के बाद भी
जारी था

(पृ. 100)

हरीश करमचन्दाणी इन कविताओं में विषय-वस्तु की विविधताओं के साथ-साथ समसामायिक सामाजिक चिन्ताओं से भी रू-ब-रू होकर अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा समस्याओं से टकराते हैं, यही है कवि की सहज संप्रेषणशीलता और वस्तुनिष्ठता जो उन्हें समाज से गहरे तक जोड़ने की ओर ले जाती है, इसीलिए उनकी कविता में समय और समाज की चिन्ताएँ बहुत तीव्रता के साथ उभरकर आती हैं, जो उनकी सृजनात्मकता को ताजा करती हैं, उनकी कविताओं में जीवन से जूझते रहने की जो अदम्य आकांक्षा है वही उनकी कविता को विशिष्ट बनाती है। इसीलिए हरीश करमचन्दाणी की कविताएँ यथार्थ बोध और सामाजिकता की कविताएँ हैं। इसीलिए इनका वस्तु पक्ष ज्यादा प्रभावशाली दिखाई पड़ता है। जो बरबस ध्यान आकर्षित करता है।

(समय कैसा भी हो, हरीश करमचन्दाणी, रचना प्रकाशन, जयपुर)

ईमानदार आँखों से जिया गया जीवन

विनोद कुमार मंगलम्

समकालीन कविता का चेहरा जिस तरह धुँधला होता जा रहा था चाहे कथ्य के अभाव के कारण, चाहे भाषा के बोझ के कारण, चाहे घिसे-पिटे बिम्बों की आवृत्ति के कारण या चाहे रूढ़ हो चुके शिल्पगत वैशिष्ट्य के कारण, दिनेश कुशवाह की कविताएँ अपनी मसृणता और जीवन-प्रियता के कारण उम्मीद और प्रेम की बात करती हैं। कथ्य दैनंदिन घटनाओं से जरूर उठाए गए हैं लेकिन कब वे ऐतिहासिक विकास के क्रम में सामाजिक, आर्थिक सरोकारों के साथ हमारे जीवन में पसर जाते हैं, पता ही नहीं चलता। बिम्बों का टटकापन, उसकी गत्यात्मकता, उसकी घ्राणशीलता एवं उसका अछूता होना इस बात का संकेत है कि दिनेश अतीत के उत्खनन के कवि नहीं बल्कि भविष्य की सम्भावनाओं के कवि हैं। भाषा इतनी तरल है कि जुबाँ को एक नए स्वाद से भर देती है। अपने कसाव में इतनी सघन है कि मस्तिष्क की एक-एक शिरा झनझना उठती है और अपने बोध में इतनी सरल है कि होंठों पर तैरने लगती है अपनी पूरी संगीतात्मकता और आन्तरिक लयात्मकता के साथ।

दिनेश कुशवाह की कविताओं का ताना-बाना 'आत्मीयता' के तन्तु से न सिर्फ बना है बल्कि जीवन एवं सम्बन्धों की अतल गहराइयों में उतरकर उसकी कशमकश एवं उसके रेशे-रेशे को उद्घाटित करने में भी समर्थ है।

बेरोजगारी की आग, सामाजिक भेदभाव का क्षोभ एवं प्रेम की उष्णता, रचनाकार को एक बृहतर आयाम देती है। केदारनाथ सिंह ने कभी कहा था—"जहाँ लिखा है प्यार/वहाँ लिख दो सड़क/फर्क नहीं पड़ता/ क्योंकि मेरे युग का मुहावरा है/फर्क नहीं पड़ता" लेकिन दिनेश के यहाँ फर्क पड़ता है, कारण कि उनकी रचनाएँ किसी सपाट बयानी, खेमेबाजी, नारेबाजी, अभेद कलावादी या कृत्रिम बिम्बों के फेरे में नहीं रहती। यही कारण है कि उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण कहीं-न-कहीं मुक्तिबोध का स्मरण कराता है जिन्होंने जिन्दगी-भर इस दर्शन को माना कि विचारधारा कोई पानी पर तैरते हुए तेल की तरह नहीं है जिसे चट से छानकर हथिया लिया जाए बल्कि यह तो फूल में बसी उस खुशबू की तरह है जिसे फूल से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता। अनुभूति को कलात्मकता में, विचार को संवेदना में, अर्चना को विवेचना में तथा दर्शन को आर्द्रता में घुलाकर दिनेश कुशवाह ने अपने आपको निर्मित किया है, तभी तो उनकी रचनाएँ संवेदनात्मक ज्ञान एवं ज्ञानात्मक संवेदन का मिश्रण लगती हैं। सच ही डॉ. नामवर सिंह कहते हैं कि मार्क्सवाद कोई वाद नहीं है बल्कि यह तो एक 'विज़न' है, एक 'गाइड टू एक्शन' है, एक नज़रिया है, एक 'वे ऑफ लाइफ' है। दिनेश की कविताएँ उस विज़न को

403, उर्वशी अपार्टमेंट, बहादुरपुर गुमटी, कंकड़बाग, पटना-20

आत्मसात करते हुए अपने आपको कलात्मक फिसलन से बचाती हैं। अपनी रचना 'रात के सफर में' वे कहते हैं–'रंगों में अभिव्यक्ति तलाशना/या सिर्फ़ कविता लिखना काफी नहीं/उद्देश्य के लिए अनवरत/संघर्षों की आग में तपो/क्योंकि गन्तव्य के रास्ते में/कोई फिसलन नहीं होनी चाहिए।'

राहुल सांकृत्यायन पर लम्बे समय तक शोध-कार्य करने एवं एक दशक तक साम्यवादी छात्र राजनीति के पूर्णकालिक कार्यकर्ता होने के कारण कुशवाह की रचनाएँ कबीर एवं अज्ञेय की यायावरी का स्मरण कराती हैं तो फिलहाल 'अलावों के बीच मशाल की लौ पर कविता' आन्दोलन से जुड़ने के कारण कविता को लोगों के बीच ले जाने की जिद भी पालती हैं। उनकी रचनाएँ सीधे-सीधे अभाव की कोख से जनमती हैं और पूरी मानवीय संवेदना के साथ हमारे सामने बिछ जाती हैं। 'उस माँ की कोख से जनमे बिना' रचना में कवि कहता है– 'जितना पीड़ा भोगती है गरीब की माँ/क्या भोगेगा कवि!/माँ की अंगुली नहीं आँख की पुतली/बीनती है गोबर में अनाज/कूड़े में रोटी की चिन्दियाँ/और उसे भी क्षुधातुर जब देखता है/कलेजे का टुकड़ा/तो जितना हाहाकार करती है उस माँ की छाती/कोई भी पार्टी उतना हल्ला नहीं बोलती/कि एक बार उस माँ की कोख से जनमे बिना/कोई भी कवि/नहीं लिख सकता वैसी कविता।'

इस पूरे अवतरण में जो एक बात खटकती है वह है 'पार्टी का हल्ला बोलना'। मुक्तिबोध ने ऐसी ही परिस्थिति में कहा था–'सब चुप! साहित्यिक चुप, कविजन निर्वाक्।' पार्टी के हाथ में आन्दोलन की मशाल देकर कुशवाह ने प्रकारान्तर से साहित्य की धार को कमजोर करने का जो प्रयास किया है वह सहसा आघात पहुँचाता है।

दिनेश कुशवाह की कविताएँ दार्शनिक उप-स्थापन की माँग करती हैं। इस दार्शनिक पृष्ठभूमि को ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में देखना होगा, समझना होगा। यही कारण है कि नामवाचक संज्ञा शीर्षक से बँधी हुई कविताएँ भी ('कलकत्ता', 'बनारस', 'प्यार कर रही छात्रा मेघना के लिए', 'कुशवाहा राम प्रकाश', 'जार्ज बुश', 'डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का खाना', 'एकलव्य की तरफ से', 'पाश के लिए', 'रेखा', 'हेलन', 'स्मिता पाटिल', 'मीना कुमारी' इत्यादि) कब अपने आयतन की परिधि को तोड़कर सघन घनत्व का परिचय देते हुए दार्शनिक हो जाती हैं पता ही नहीं चलता। यह कवि की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का कमाल है जिसे न सिर्फ कथ्य पर बल्कि भाषा पर भी इतनी पकड़ है कि वह केन्द्र से छिटक-छिटककर उस परिवेश की भी यात्रा कर लेता है जो पूरे वातावरण को निर्मित करते हुए केन्द्र को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। कुछ उदाहरण देखें–(क) 'अपने पुराने संगियों को आज भी/सीने से चिपकाए है बनारस/फिर भी जानता है लोहे का स्वाद/काठ के कायदे/और पाहन की जाति/कि तनिक भी पेट में चला जाए नमक/तो पसीजता है बनारस।' (बनारस)

(ख) *'वे भाषा से प्यार करते और धरती से नेह/*
नंगे पैर चलने ने उन्हें पागल होने से बचा लिया/
और किसी भी बात पर दो बार/
सोचने की आदत ने आत्महत्या से।'

(कुशवाह राम प्रकाश)

(ग) *'जिन्दगी बड़ी कठिन है बेटे अपने आप में/*
बुदबुदाया बूढ़ा सँपेरा/
पिटारे में बन्द साँप से/
जिन्दगी तमाशा नहीं है/
पर तमाशा जरूरी चीज है जिन्दगी के लिए।' (साँप)

(घ) *'अजन्ता-एलोरा के शिल्पियों के स्वप्न भी/*
नहीं थी तुम/
पर तुम्हारे माथे पर लिखा जा सकता था/
कोणार्क का सूर्यमन्दिर।' (रेखा)

दिनेश कुशवाह प्रामाणिक अनुभूतियों के कवि हैं। ऐसा लगता है कि एक-एक रचना काफी लम्बे-लम्बे समय लेकर लिखी गई है तभी तो उनके देखने, जीने, भोगने और रचने में कोई द्वैत नहीं बल्कि अद्वैत है। उनकी कविताएँ 'वैल्यू ऐज हेल्ड' की नहीं बल्कि 'वैल्यू ऐज फेल्ट' की बात करती हैं। मांसल बिम्बों की रचना 'खजुराहो में मूर्तियों के पयोधर' में वे कहते हैं–'इन्हें देखकर मन करता है/कहीं से कटोरा-भर केसर घोल लाऊँ/और धीरे-धीरे करूँ इन पर लेप/जैसे ज्योतिर्लिंग का अभिषेक किया जाता है/मनुहार कर किसी को ले चलूँ अपने संग/खूब आदर-सत्कार करूँ और पूछूँ/इन मंगल घटों में बसे/मनुष्य के प्राणों का रहस्य।' तभी तो अपनी एक कविता 'एक लड़ाई अनवरत' में रचनाकार जीवन के सच को उड़ेलकर रख देता है–'प्यार करके हमने/सिर्फ महसूस किया है/कि उसके मिलते ही/एक दिन में बदल जाती है दुनिया/कि उसके टूटते ही/एक ही दिन में बदल जाती है दुनिया।'

नारी विमर्श दिनेश कुशवाह की रचनाओं का केन्द्र बिन्दु रहा है। प्राचीनकाल से लेकर आज के इस कम्प्यूटरी युग तक नारी अपने विभिन्न आयामों एवं कोणों के कारण रचना के केन्द्र में रही है लेकिन कुशवाह ने नारी को जिस ऐंगिल से देखा है उसमें प्रेम भी है, आक्रोश भी है, देह की भावप्रवण गन्ध भी है, सपनीली भोर की किरण भी है, गृहस्थ जीवन की

आपाधापी भी है और सम्बन्धों की रागात्मकता भी। रचनाकार का मानना है कि नारी जीवन के कई मोर्चों पर, कई पड़ावों पर मुठभेड़ करती है फिर भी इस सामन्तवादी-पूँजीवादी व्यवस्था ने इस दर्शन को झूठला दिया कि—'यत्र नार्यन्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' अगर छायावाद को छोड़ दें तो नारी को बाद के दिनों में हमेशा उप्योगितावादी नजरों से ही देखा गया। भले ही इसे प्रगतिशील चेतना का आवरण देकर हम नारी से दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हों लेकिन उस नारी पर बहुत कम लिखा गया जो गरीब की बेटी होती है। दिनेश कुशवाह कहते हैं—'जितना सहती है गरीब की बेटी/क्या सहेगी धरती।/ओफ्! शताब्दियों से इतने भयानक अनाचार/अगर सही में फटती धरती/तो न जाने कितनी बार फटी होती।'

कवि को इस बात का अफसोस है कि जब भी लड़की को पुरुषों ने अपने पुरुषत्व की कारा में गिरफ्तार किया तो उस समय पुरुषों को सबसे ज्यादा साथ अगर किसी ने दिया तो उसकी भाषा ने ही। बकौल कवि—'लड़की जानती है/अगर शब्द बहुरूपिया न होते/तो भाषा में कभी नहीं/छली जाती लड़की।'

सपनों को लेकर दिनेश कुशवाह बहुत सतर्क हैं। वे कहते हैं—'दुनिया में सिर्फ लड़की की आँख होती है/जहाँ चूजों की तरह जनमते हैं सपने/पलते हैं राजकुमार की तरह/और मुर्गे की तरह हलाल होते हैं।'

कबीर के 'ढाई आखर प्रेम का' को एक नए टटके अन्दाज में प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—'सीखने के बाद कई-कई या एक पूरी भाषा/उस दिन पहली बार हकलाती है लड़की/बोलने में 'ढाई आखर'।'

दिनेश के यहाँ 'प्रेम-पत्र' सूरदास के उस कृष्ण का गोपियों के नाम पत्र नहीं है जो 'लोचन-जल-कागद-मसि मिलि कै है गई स्याम-स्याम की पाति' हो जाती है। जीवन की संश्लिष्ट होती हुई अनुभूतियों के बीच भी दिनेश कुशवाह ने 'प्रेम के प्रथम निवेदन' को बहुत सहेज कर रखा है। 'प्रेम में पड़ी हुई लड़की' रचना में वे कहते हैं—'प्यार के पहले दिन के लिए/कोई उम्र नहीं होती/किसी उम्र की लड़की पा सकती है प्रेम-पत्र।' लेकिन इसे पाते ही लड़की की जो मनोदशा होती है उसे बहुत ही मसृणता से कवि प्रस्तुत करता है—'कन्या, कलम, सुई-धागा, काँटा, कुरुस/थामने के अभ्यस्त हाथ काँपकँपाते हैं बेतरह/जलती पतीली चुटकी से उठा लेने वाली उँगलियाँ/थरथराती हैं सिंगवत्/थामने में एक कागज़ का टुकड़ा/जैसे छूते ही होगा एक रहस्यमय धमाका/इतनी तेज़ चलती है लड़की की साँसें/जैसे अभी-अभी/सारी धरती की परिक्रमा करके लौटी हो लड़की।'

नारी सदियों से पुरुषत्व की मांसलता का शिकार रही है। कवि आगाह करता है कि कोई तो उसे ऐसी नजरों से बचाए—'सोचता रहा मैं/कि धरती की सुन्दर कलावती बेटियों को/कौन बाँटता है/नटी से लेकर नगरवधू तक के खानों में/कि जिसे हजारों-हजार लोग/लिफाफे में भरकर भेजते हैं सिन्दूर/कोई नहीं भेजता डिठौना?'

यह सुखद आश्चर्य है कि दिनेश के सपने में कोई गार्गी, कोई मदालसा, कोई सुलभा या कोई अनुसुईया नहीं आती। अगर कोई आती है तो हेलेन, रेखा, स्मिता पाटिल तथा मीना कुमारी। ज़ाहिर है, ये सब वे नाम हैं जिन्होंने अपने अभिनय से नारी के बहुआयामी व्यक्तित्व को न सिर्फ उद्घाटित किया बल्कि अभिनय का एक नया सौन्दर्यशास्त्र गढ़ा। 'स्मिता पाटिल' कविता में कवि कहता है—'उसके भीतर एक झरना था/ कितनी विचित्र बात है/एक दिन वह उसमें नहा रही थी/ लोगों ने देखा/देखकर भी नहीं देखा/उसकी आँखों का पानी।' दर्शन के गाम्भीर्य को भी जिस सरलता से दिनेश कुशवाह प्रस्तुत कर देते हैं, उसकी बानगी इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—'एक दिन मैंने उससे पूछा/बचपन में तुम जरूर सुड़कती रही होगी नाक/वह मुस्कुराकर रह गई/मैंने कहा/जिसने गौतम बुद्ध को खिलाई थी खीर/ तुम जैसी ही रही होगी वह सुजाता'।

नारी के जीवन को रचनाकार बड़ी शिद्दत के साथ महसूस करता है। तभी तो वह कहता है—'चाँदनी में सिर्फ चाँद-तारों से/बातें कर जी नहीं भरता/चाहिए ही चाहिए एक आदमी/अकेले आदमी का आसमान/कभी खत्म नहीं होता।'

प्रिया के रूप में नारी का गृहस्थ चेहरा कवि को आश्वस्त करता है कि इस कर्म-संकुल जीवन में वह किस तरह अपने दायित्वों का निर्वहन करते हुए उसके जीवन की धुरी बन चुका है। कवि कहता है—'बड़ी रात तक एक पैर पर/घर का सारा काम निभाकर/सारे घर को खिला-सुलाकर/फिर तड़के ही जाँत मिलाकर/मेरी प्रिया 'प्रात' गाती है।'

इतना ही नहीं आज नारी (प्रिया) पुरुषों को अपने श्रम से न सिर्फ जगाती है बल्कि, उन्हें निरन्तर संस्कारवान भी बनाती है। खुद कवि की स्वीकारोक्ति है- 'बरसों से मैंने देखा है/मेरे तन-मन की लेखा है/उसके चौका बासन से ही/मेरे यहाँ भोर आती है/जागी प्रिया जगा देती है।'

आज महिला-सशक्तिकरण, नारी-विमर्श, स्त्री-समीक्षा जैसे जुमले काफी उछाले जाते हैं लेकिन कवि बेबाकी के साथ आर्थिक आजादी की वकालत करता है—'इस स्त्री के पास अपनी कमाई नहीं थी/और थी तो भरोसे के आदमी नहीं

थे/जिनसे वह अपना घट-अघट सब कुछ दिल खोलकर कह सके/इसलिए अगर कोई एक पल के लिए भी/उसका मन छू देता तो/उसका तन-मन महावर की तरह/लाल हो जाता था।'

रचनाकार को ऐसा लगता है कि नारी का 'परकाया प्रवेश' ने ही उसे कमजोर बना दिया तभी तो वह कहता है—'स्त्री ने घर बनाया और/पुरुष को मालिक बना लिया/पुरुष ने स्त्री को घरेलू बनाकर/वनवास दे दिया।'

स्त्री के पास जो निजी सम्पत्ति बच गई थी, उसे लेकर वह सशक्तिकरण की बात कैसे कर सकती थी। कवि स्त्री की उस ताकत को रेखांकित करते हुए आज सम्पूर्ण 'नारी-विमर्श' पर एक प्रश्नवाचक चिह्न खड़ा कर देता है—'स्त्री के पास ऊब थी, आदतें थीं/अजूबे थे/मोहिनी थी, मर्म था, गृहस्थी थी/गरीबी थी, कठिन संघर्ष थे/गीत थे, गाने की इच्छा थी/कहीं अमीरी और ऐश भी थे/पर आँसू सब जगह थे।'

सामाजिक वैषम्य के कारण दिनेश कुशवाह की रचनाएँ 'दलित विमर्श' को न सिर्फ आगे बढ़ाती हैं बल्कि उन्हें और भी क्षिप्र और धारदार बनाती हैं। कविता का कन्टेंट शोषण की दुनिया से भले जनमता हो लेकिन ज्ञानात्मक संवेदन के कारण उसका पाराडाइम बदल जाता है। अपनी एक रचना 'हमारा खून लाल क्यों है?' में कवि कहता है—'अगर लालसा का कोई रंग होता है/तो वही रंग है तुम्हारी चूनर का/तुमसे मिलकर मैंने पहली बार जाना कि /प्रकृति ने अनादि काल से/मेहन्दी की हरी पत्तियों में/सहेजकर क्यों रखा है लाल रंग।'

मेहन्दी के हृदय में बसे क्रान्ति के रंग को पहचानकर दिनेश कुशवाह ने श्रम के सौन्दर्यशास्त्र का एक नया समीकरण गढ़ा है जो प्रकारान्तर से 'रक्तालोक स्नातपुरुष' (मुक्तिबोध) का स्मरण कराता है। ब्राह्मणवाद और सामन्तवाद को फेंटकर मिलाते हुए रचनाकार ने शोषक का जो चेहरा तैयार किया है उससे दलित विमर्श को समझने में सहूलियत होती है। कवि कहता है—'ये गीता भी उन्हीं की है/गदा-गांडीव जिनके हैं/जो अपने थे वे गूँगे थे/यही तो रोना, रोना है।'

इस रुदन के पीछे जो ऐतिहासिक साजिश है, उसकी कलई खोलते हुए कवि कहता है—'साँप जानता है/इतिहास के हाशिए पर/कैसे चली जाती है कोई कौम?/कि उसकी जाति पर/क्यों बने हैं इतने कुत्सित मुहावरे?/साँप जानता है/कि दुनिया में सिर्फ मुँह से नहीं लड़ा जा सकता/कि वध के समय लोग/क्यों कुचल देते हैं उसका सिर।'

सर का कुचलना बौद्धिक सशस्त्र क्रान्ति-चेतना को दफन करना है। मुक्तिबोध के काव्य-नायक को भी मि.गुप्ता द्वारा कुछ इसी तरह 'थौरोली क्रास एक्जामिन' किया गया था और मस्तक पर रंदा चलाया गया था। इतनी भयावहता और विडम्बनाओं के बीच भी रचनाकार अपने अभावग्रस्त जीवन एवं मूल्यों की उत्सवधर्मिता की बात करता है—'मारने की दर बढ़ी है दुनिया में/पर/कम नहीं हुआ है किसी पर मरने का मूल्य।'

उत्तर-आधुनिकता, भूमंडलीकरण और सेंसेक्स की संवेदन दुनिया में कवि को इस बात का अफसोस है और भय भी कि—'प्रेम के लिए सबसे कम समय है/हमारी दिनचर्या में/जरूरी है हर काम और उसका समय पर होना/यहाँ तक कि शाम नहीं तो सवेरे/सब्जी लाए बिना भी काम नहीं चलता'। जिस तरह पचास-साठ के दशक में मुक्तिबोध ने लोगों को आगाह किया था कि—'वर्तमान समाज चल नहीं सकता/और पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता।' उसी संवेदना को आगे बढ़ाते हुए 'जार्ज बुश! पेट्रोल से अधिक ज्वलनशील है आदमी का थूक' कविता में दिनेश कुशवाह कहते हैं—'जिन्हें अपने दाँत और नाखून बचाने हैं/उन्हें कहो पेट्रोल पिएँ/कि कुछ भी नहीं है पेट्रोल से दमदार/कमबख्तो! अपनी सेहत पर ध्यान दो/जनता से हमने उसके हथियार/दाँत और नाखून हमेशा के लिए छीन लिए हैं/शान्ति के लिए यह बेहद जरूरी था।'

माना कि पूरी दुनिया बदल गई है, क्रान्ति-चेतना के स्वर मद्धम पड़ गए हैं, शब्द चूक गए हैं, विचार पीले पड़ गए हैं, ऐसी परिस्थिति में भी दिनेश की पोटली में बहुत कुछ बचा है जो उम्मीद जगाती है—'अपना सब कुछ खोकर भी/अपनी इन्हीं छोटी नन्ही चीजों को ले/मैं खड़ा होना चाहता हूँ/फिर उसी सपने के साथ।'

संवाद आत्मा की जरूरत है। दिनेश कुशवाह सवाल खड़ा करते हैं कि 'क्या मेरा इस धरती पर होना अपने में सम्पूर्ण है? यदि गौतम बुद्ध बारह वर्ष समाधि में रहकर कोई सत्य, सत्य का दर्शन उपलब्ध कर पाए तो अवश्य ही वह दर्शन अपने में सम्पूर्ण रहा होगा। यदि ऐसा था तो उन्हें सारनाथ में चार आदमियों के सम्मुख अपना सन्देश देने की क्यों जरूरत महसूस हुई? क्या कहीं उनकी आत्मोपलब्धि सम्पूर्ण होने पर भी आत्म-शंकित, अप्रामणित थी? क्या ऐसा नहीं था कि बुद्ध का दर्शन अपने सन्देश में ही सम्पूर्ति पा सकता था? तपस्या में पाया हुआ सत्य जब तक दूसरे के अँधेरे को न छूता तब तक वह प्रकाश न ग्रहण कर पाता। दूसरे के अँधेरे को न छूता तब तक वह प्रकाश न ग्रहण कर पाता। दूसरे का अँधेरा ही उनके आलोक की कसौटी बन सकता था। संवाद हम दूसरों से करते हैं—दूसरों के लिए नहीं—स्वयं अपने को पहचानने के लिए। इसलिए वह आत्मा की जरूरत है। दिनेश कुशवाह

संवाद की मर्यादा के कवि हैं। उनके यहाँ संवाद कई स्तरों के हैं। कहीं अपने अतीत से, कहीं युग-बोध से, कहीं नारी की जातीय अस्मिता से, कहीं प्रेम की दीवानगी से, कहीं संबंधों की रागात्मकता से, कहीं दलित-चेतना से, कहीं साम्यवाद की प्रगतिशील विचारधारा से, कहीं पूँजीवादी घड़ियाल से तो कहीं स्वयं से। यही कारण है कि वे 'आत्मालोचन' के कवि हैं।

अंत में 'इसी काया में मोक्ष' इस संग्रह का नाम भी है और एक कविता का भी। यह कविता कवि की वैचारिक धुरी भी है और उनके रचनात्मक संसार में प्रविष्ट होने की वातायनी भी। मार्क्सवाद न अतीत को तवज्जो देता है और न ही भविष्य को। उसके लिए वर्तमान ही सब कुछ है। मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' की त्रासद मौत इसीलिए होती है कारण कि वह अतीतोन्मुखी हो जाता है। मुक्ति के लिए अतीत के रोमानी संसार और भविष्य के बेहतर जीवन के मोह को त्यागना होगा। अक्सर ऐसा होता है कि या तो हम अतीत में जीते रहते हैं या भविष्य में डूबे रहते हैं। इस क्रम में वर्तमान हमारी मुट्ठी से फिसल जाता है। दिनेश कुशवाह इसी काया में मुक्त होने की बात करते हैं। ज़ाहिर है 'इसी काया में मोक्ष' मार्क्सवादी दर्शन का भारतीय मुहावरा है। स्वयं कवि के मुख से ही सुनें—

'बहुत दिनों से मैं/किसी ऐसे आदमी से मिलना चाहता हूँ/जिसे देखते ही लगे/करोड़ों जन्मों के पाप मिट गए/कट गए सारे बन्धन/कि मोक्ष मिल गया इसी काया में।'

हालाँकि ऐसा नहीं है कि इस तरह की बात दिनेश कुशवाह कोई पहली बार कह रहे हों। अलबत्ता, आज से करीब पाँच सौ वर्ष पहले कबीर ने कुछ इसी तरह की बातें की थीं। जैसे—'खेल ब्रह्मांड का पिंड में देखिया' या 'साधो, यह तन ठाठ तँबूरे का' या 'इस घट अंतर अनहद गरजै' इसी में उठत फुहारा' या 'साधो सहजै काया सोधो'।

तब यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह मध्यकालीन परिस्थितियाँ थीं जहाँ दर्शन की व्याख्या धर्म के कलेवर में की जाती थी। आज आधुनिक परिवेश है जहाँ धर्म की बात तो छोड़ दें दर्शन भी जीवन के संघर्षों में पिघलकर बिखर जाता है। स्पष्ट है कि जिन्दगी की इस आपाधापी में दिनेश कुशवाह ने साहित्य के समाजशास्त्र, कला के दर्शनशास्त्र, विचारों के अर्थशास्त्र एवं श्रम के सौन्दर्यशास्त्र को अगर नए कलेवर एवं तेवर में प्रस्तुत किया है तो यह उनकी रचनात्मक ईमानदारी का ही प्रमाण है। **आ**

यहाँ रेत पर फैल रही है तमन्नाओं की पकी-मीठी महक

मनीषा झा

यह रेत की दुनिया है। सूना तट, अनन्त विस्तार में फलता-फूलता सन्नाटा, गहरी होती हुई उदासी। ऐसे में 'एक अफसोस-सी फैली है रेत।' रेत के ऊपर आकाश में विराट् नीला और सूरज है कभी सरकता तो कभी हाँफता। ऐसे में न तो किसी कलाकार को अपनी आकृतियाँ उकेरना आसान था, न ही कवि को अपनी तमन्नाओं की फसल बोना आसान। पर 'रेत में आकृतियाँ', नामक कविता-संग्रह में ये दोनों काम फलीभूत होते दिखते हैं।

'रेत में आकृतियाँ' की कविताओं की मूल प्रेरणा है प्रसिद्ध मूर्तिकार मदनलाल द्वारा 19 जनवरी, 2007 को गंगा के उस पार 'रेत में आकृति की खोज' विषयक मूर्तिशिल्प की आयोजना। यहाँ रेत में बनी तरह-तरह की आकृतियाँ कवि के दिलो-दिमाग पर छा जाती हैं और कवि जैसे-जैसे उन आकृतियों में डूबता जाता है, रेत में भिन्न-भिन्न विम्ब खुद-ब-खुद उभरते चले जाते हैं। फिर शुरू होता है बिम्बों को शब्द देने का काम। रेत को शब्दों में आकृति देने के उपक्रम में रेत की अपनी ही भाषा निर्मित हो जाती है, जैसे रेत को आकृति में ढालते हुए रेत को नया रूप और रंग प्राप्त हो जाता है। यह सचमुच अद्भुत और अभूतपूर्व है। कविता की ही पंक्तियाँ देखें—

"कौन कहता है
सपाट है रेत
कोहरे की तरह निचाट है रेत!
देखते नहीं
कितने बेबस आँसुओं को छिपाए है रेत" (पृ. 30)

उदासी में आकर्षण ढूँढ़ना हो, तो रुख कीजिए रेत की ओर।

इस कविता-संग्रह की भूमिका में कवि ने कहा है, 'मैंने यहाँ रेत में फसल-ए-तमन्ना बोने की कोशिश की है।' वाकई, रेत में उभरी आकृतियाँ जहाँ कलाकार के अरमान हैं, वहीं इस पुस्तक में रेत की विभिन्न छवियाँ कवि की तमन्नाओं की फसल हैं। फसलों की विविधता गौर फरमाने लायक है, "रेत नदी का दर्पण है जिसमें नदी अपना रूप निहारती है।" और नदी रेत की माँ है। माँ और शिशु का बिम्ब नदी और रेत के रूप में यह है—"नदी चुपचाप सोई हुई थी और रेत हुमच-हुमच कर दूध पी रही थी।" (पृष्ठ 26) यह नया प्रयोग है, एक टटका बिम्ब। यह कवि-मानस में ही सम्भव है कि कभी रेत एक ऐसा दर्पण बन जाए, जिसमें नदी अपना रूप निहारे तो कभी एक ऐसा शिशु बन जाए जो हुमच-हुमच कर माँ नदी का दूध पीए।

रेत और नदी के बीच सम्बन्धों की खोज बड़ी तल्लीनता से यहाँ की गई है। इसलिए कहना ही होगा कि रेत और नदी, दोनों एक-दूसरे को आधार दे रही हैं, एक-दूसरे की इयत्ता को बल प्रदान कर रही हैं।

हिन्दी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय राजा राममोहनपुर, सिलीगुड़ी, जिला-दार्जिलिंग-734013

'नदी' शीर्षक कविता में कवि कहता है, "यहाँ रेत में बहती नदी थी। जहाँ बहती हुई नदी लगातार रेत हो रही थी" 'रेत में अरमान' कविता की पंक्तियाँ हैं—"रेत जानती है कि नदी उसके साथ है जब वह ठहरेगी। नदी तब भी बहती रहेगी। उसके भीतर" (पृष्ठ 21) 'रेत भरकर' कह रही है, "रेत झरकर बह रही है। नदी महमह कर रही है"। (पृष्ठ 53) इस तरह रेत और नदी के सम्बन्धों की कई नवीन व्याख्याएँ इस कविता-पुस्तक में देखने को मिलती हैं।

हिन्दी में रेत पर कविताएँ अपेक्षाकृत कम लिखी गई हैं। सबसे अधिक अज्ञेय ध्यान खींचते हैं। कविता में रेत की उपस्थिति की तरफ रेत के माध्यम से कितना कुछ कहते हैं अज्ञेय। केदारनाथ अग्रवाल के यहाँ भी रेत, शमशेर के यहाँ भी रेत। इन कवियों के बाद कविता से रेत जैसे सूख कर गायब ही हो गई। रेत का युग जैसे बीत गया। लेकिन 'रेत में आकृतियाँ' में रेत पुनः सघन रूप में उपस्थित हुई। इस पुस्तक की पूरी की पूरी कविताओं के केन्द्र में रेत है। रेत के साथ जल है। इससे रेत को वैविध्य मिल गया है। इस पुस्तक की भूमिका में श्रीप्रकाश शुक्ल ने याद किया है अज्ञेय को। अज्ञेय के जिस रेत को उन्होंने याद किया है, निश्चय ही 'रेत में आकृतियाँ' की रेत वैसी नहीं है। अज्ञेय के यहाँ हरी घास रौंदी जाकर भी आमन्त्रित करती है, अन्तःसलिला रेत अनगिनत पैरों तले रौंदी जाकर बिखरती नहीं। हालाँकि, रेत पड़ी सज्जाहीन/धूसर गौर/निरीह और उदार।' अब 'रेत में आकृतियाँ' में आकर रेत सज्जाहीन नहीं रही। वह कलाकार के हाथों का स्पर्श और आँखों के सपने पाकर कुछ सरस होकर सज गई है। यहाँ 'धूसर गौर' भी नहीं है। यहाँ कलाकार से पूछा गया है, "बालू का रंग नीला है। हमें क्यों दिखता है लाल"।(पृष्ठ 36) लाल नाम है जीवन्तता का। यहाँ रेत गतिशील है बहते हुए। रेत होना बहना है—यह कहना है श्रीप्रकाश शुक्ल का। रेत को लेकर उनका कहना यह भी है—"पानी के भाप होने के विरुद्ध रेत/नदी की एक सार्थक उपस्थिति है।" और "रेत/जीवन की हर नाउम्मीदी के खिलाफ। एक संभावना है।" एक अलग दिशा में देखते हुए वे यह भी फरमाते हैं—"रेत नदी की चिट्ठी है। यात्रा की जल्दबाजी में छूट गई राह पर।" एक रेत को लेकर इतना कुछ कहना है कवि को मानो रेत-रेत नहीं, जीवन की कोई अनिवार्य इकाई हो।

"रेत नदी का अनुवाद नहीं है
वह नदी का विस्तार है"

रेत यहाँ नदी का अनुवाद नहीं है, बल्कि नदी से निरन्तर संवाद स्थापित कर वह विस्तृत हो रही है। यहाँ नदी की धारा को ही नहीं, समय की गति को भी संभालती है रेत। रेत क्षण की बूँद-बूँद को अक्षुण्ण रखते हुए समय की धारा को गति देने में पूर्ण समर्थ है। यह रेत हालाँकि वर्तमान में आकार ग्रहण करती है, पर इसके पास अतीत का लम्बा अनुभव है, जिसके बल पर वह भविष्य की ओर संकेत करती है। कौन कहता है कि आँखें अब स्वप्नविहीन होने लगी हैं। 'रेत में आकृतियाँ' देखें, जो न जाने कितने कलाकारों की आँखों के सपने को आकार देने में कामयाब है।

रेत और नदी की कई छवियाँ उकेरते हुए कवि नदी पर आए वर्तमान संकट को उभारना नहीं भूलता। औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण बढ़ता प्रदूषण तथा पर्यावरण संकट से सामना आज हर नागरिक का हो रहा है। एक संवेदनशील नागरिक के नाते कवि को यह एक विकट संकट प्रतीत होता है। इसलिए कवि सचेत करता है—"मत करो शहर को कैद नदियों में। नदियाँ जिस दिन शहर को कैद कर लेंगी। शहर कैद होगा कचरे में कचरा होने-तक"। क्योंकि कवि जानता है—"शहर तभी तक आबाद है। जब तक बह रही है। एक नदी।" अन्त में जब कवि से नहीं रहा जाता तो 'बस भई बस' वाले अन्दाज में कह ही उठता है—"आखिरकार और कितना सोखेंगे। नदी को उसकी पवित्रता के नाम पर।" एक संवेदनशील कवि अपने समय में जीता हुआ समय से मुठभेड़ भी करता है।

युवा कवि श्रीप्रकाश शुक्ल अपने दोनों काव्य-संग्रहों—'जहाँ सब शहर नहीं होता' और 'बोली बात' के लिए चर्चित और प्रशंसित हो चुके हैं और अब यह तीसरा काव्य-संग्रह 'रेत में आकृतियाँ' एक नवीन दृष्टि के साथ कविता के देश में उपस्थित हुआ है। यहाँ रेत को, नदी को और रेत और नदी के सम्बन्धों को एक भिन्न दृष्टि से देखने का आग्रह है। यह रेत के ठहराव में जल के बहाव का संयोग कर एक नई स्थिति को जन्म देती है, जिसे समय की तेज रफ्तार के बावजूद देखने, समझने और परखने की बड़ी आवश्यकता है। कहना न होगा कि 'लोक सौन्दर्य' से गहरे सरोकार रखनेवाले श्रीप्रकाश शुक्ल की इस काव्य-कृति में भी कवि लोक सौन्दर्य चेतना से दीप्त दिखाई पड़ता है। विश्वग्राम की अवधारणा और बाजारवाद के युग बन्धन से अपने को मुक्त रखते हुए एक कवि यदि लोक-संस्कृति और लोक-भाषा को अपनी रचना में स्थान देता है तो मानना होगा कि अभी बहुत कुछ बचा हुआ है। 'रेत में आकृतियाँ' जीवन के कई अनिवार्य पहलुओं को पहचानने, बचाने और सँजोने का संदेश देती है। मूलतः इस काव्य कृति में रेत के बहाने 'जीवन-धारा' गतिशील हुई है, जिसकी 'बीमा' हर एक के लिए नितान्त जरूरी है।

कविताएँ

प्रेमशंकर शुक्ल

कठकरेजी

कुछ पहरों की आत्मीयता के बाद
अपने हम उम्र उस साथी से
जैसे ही पूछा मैंने उसका नाम-पता
झूरा गया उसका चेहरा
और थोड़ी दूर की चुप्पी के बाद वह बोला—
बताता नहीं सबसे अपना पता-ठिकाना
पर तुमसे हिलमिल गया हूँ
इसीलिए सहज विश्वास होता है तुम पर
और बताने का मन है
हो सकता है आगे निकल जाओ औरों की तरह तुम भी
और मेरे दुख को उड़ाते फिरो इधर-उधर
मैंने होंठ नहीं खोला केवल एकटक ताकता रहा उसे

फिर वह बोला—
'मैं एक ऐसा पौधा हूँ
जिसने मुझे लगाया
उसी ने उखाड़कर फेंक दिया
मुझे क्या पता घास से लदी
खेत की उस मेड़ पर कब तक पड़ा रहा मैं
फिर किसने उठाया और पहुँचा आया
शहर के अनाथालय में मुझे
यह तो जैसे बताया गया है मुझे
दुहरा रहा हूँ मैं उसे

फिर उसने कहा—
वो देखो गाय का बछड़ा है जो
उसे उसके पिता का नाम नहीं मालूम
पर अपनी माँ का तो उसे पता है
अपनी माँ के थन में थपकियाँ मार-मार
पीता है जब वह दूध
और उसकी माँ दुनिया की सबसे महानतम् चीज करुणा से
जब उसे चाटती है तब मेरा रोम-रोम टीसता है

मैंने निहारा उसे पूरी तरह—
मुझे लगा जैसे गुब्बारे में हवा भरी रहती है
उसी तरह इसकी पूरी देह में रोना भरा है
और इसने बाँध रखा है अपना मुँह
खोल दिए जाएँ यदि इसके सारे बन्धन
तो रोम-रोम से रोता दिखेगा यह

उसने सुनाई जो अपनी दास्तान
मेरे जैसे कठकरेजी के भी टपक पड़े कितने तो आँसू
तभी से अनाथालय के बच्चों की मुस्कान में
सुनता हूँ मैं एक ही तरह का सवाल—
मेरी माँ कब आएगी
और मेरे पिता कहाँ हैं?

बरामदगी

जब-जब
मेरी तलाशी हुई
तुम्हारा प्यार ही बरामद हुआ
मेरे भीतर

तुम्हारा प्यार ही
छुपाता था जतन से
(छुपाने के लिए मेरे पास
और था ही क्या)

यह बड़ा गुनाह है मेरा
उनकी नजर में

इसीलिए उन्होंने जरा भी देर न की
मुझे अपना फैसला देने में

तुम्हारे प्यार की
मेरी आत्मा को तलब
और उन्हें जिम्मेदारी
मेरी आत्मा की तफ्तीश की!

भारत भवन, 146 [illegible], भोपाल-462002 (म.प्र.)

अशोक कुमार पांडेय

कश्मीर

1.
पहाड़ों पर बर्फ के धब्बे बचे हैं
जमीन पर लहू के

मैं पहाड़ों के करीब जाकर आने वाले मौसम की आहट सुनता हूँ
जमीन के सीने पर कान रखने की हिम्मत नहीं कर पाता

2.
यह फलों के पकने का समय है
हरियाए दरख्तों पर लटके हैं हरे सेब, अखरोट
खुबानियों में खटरस भर रहा है धीरे-धीरे

और कितने दिन रहेगा उनका यह ठौर
पक जाएँ तो जाना ही होगा कहीं और
क्या फर्क पड़ता है—दिल्ली हो या लाहौर!

3.
देवदार खड़े हैं पंक्तिबद्ध जैसे सेना हो अश्वत्थामाओं की
और उनके बीच प्रजाति एक निर्वासित मनुष्यों की

'कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई'
जहाँ आग लगी वह उनका घर नहीं था
जहाँ गोली चली वह उनका गाँव नहीं था
पर वे थे हर उस जगह

उनके बूटों की आहट थी खौफ पैदा करती हुई
उनके चेहरे की मायूसी थी करुणा उपजाती

उनके हाथों में मौत का सामान है
होंठों पर श्मशानी चुप्पियाँ

इन सपनीली वादियों में एक खलल की तरह है उनका होना
उन गाँवों की जिन्दगी में एक खलल की तरह है उनका न होना

4.
(श्रीनगर-पहलगाम मार्ग पर पुलवामा जिले के अवन्तीपुर मन्दिर के खंडहरों के पास)

आठवीं सदी साँस लेती है इन खंडहरों में

झेलम आहिस्ता गुजरती है किनारों से जैसे पूछती हुई कुशल-क्षेम
जमींदोज दरख्तों की बौनी आड़ में सुस्ता रही है एक राइफल
और ठीक सामने से गुजर जाती है भक्तों की टोलियाँ धूल उड़ातीं

ये यात्रा के दिन हैं
हर किसी को जल्दी बालटाल पहुँचने की
तीर्थयात्रा है यह या विश्वविजय पर निकले सैनिकों का अभियान?

तुम्हारे दरवाजे पर कोई नहीं रुकेगा अवन्तीश्वर
भग्न देवालयों में नहीं जलाता कोई दीप
मैं एक नास्तिक झुकता हूँ तुम्हारे सामने—श्रद्धांजलि में

5.

पहाड़ों पर चिनार हैं या कि चिनारों के पहाड़
और धरती पर हरियाली की ऐसी मखमल कि जैसे किसी कारीगर ने बुनी हो कालीन
घाटियों में फूल जैसे किसी कश्मीरी पेंटिंग की फुलकारियाँ

बर्फ की तलाश में कहाँ-कहाँ से आए हैं यहाँ लोग
हम भी अपनी उत्कंठाएँ लिए पूछते जाते हैं सवाल रास्ते भर

जनवरी में छः-छः फीट तक जम जाती है बर्फ साहब तब सिर्फ विदेशी आते हैं दो चार
फिरन के भीतर भी जैसे जम जाता है लहू
पत्थर गर्म करते हैं सारे दिन और गुसल में पानी फिर भी नहीं होता गर्म
समोवार पर उबलता रहता है कहवा...अरे हमारे वाले में नहीं होता साहब बादाम-बादाम
इस साल बहुत टूरिस्ट आए साहब, कश्मीर गुलजार हो गया
अब इधर कोई पंगा नहीं एकदम शान्ति है
घोड़े वाले बहुत लूटते हैं, इधर के लोग को बिजनेस नहीं आता
पर क्या करें साहब! बिजनेस तो बस छह महीने का है
और घोड़े को पूरे बारह महीने चारा लगता है
आप पैदल जाइएगा रास्ता मैं बता दूँगा सीधे गंडोले पर
ऊपर है अभी थोड़ी सी बर्फ...

यह आखिरी बची बर्फ है गुलमर्ग के पहाड़ों पर
अनगिनत पैरों के निशान, धूल और गर्द से सनी मटमैली बर्फ
मैं डरता हूँ इसमें पाँव धरते और आहिस्ता से महसूसता हूँ उसे
जहाँ जगहें हैं खाली वहाँ अपनी कल्पना से भरता हूँ बर्फ

जहाँ छावनी है वहाँ जलती आग पर रख देता हूँ एक समोवार
गूजरों की झोंपड़ी में थोड़ा धान रख आता हूँ और लौटता हूँ नुनचा की केतली लिए

मैं लौटूँगा तो मेरी आँखों में देखना
तुम्हें गुलमर्ग के पहाड़ दिखाई देंगे
जनवरी की बर्फ की आगोश में अलसाए

6.

यहाँ कोई नहीं आता साहब
बाबा से सुने थे किस्से इनके
किसी भी गाँव में जाओ जो काम है सब इनका किया
फारुख साहब तो बस दिल्ली में रहे या लन्दन में
उमर तो बच्चा है अभी दिल्ली में पूछ के करता है जो भी करता है
आप देखना गांदेरबल में भी क्या हाल है सड़क का...

डल के प्रशान्त जल के किनारे
संगीन के साये में देखता हूँ शेख साहब की मजार
चिनार के पेड़ों की छाँव में मुस्कराती उनकी तस्वीर

साथ में एक और कब्र है
कोई नहीं बताता पर जानता हूँ
पत्नियों की कब्र भी होती है पतियों से छोटी

7.

तीन साल हो गए साहब
इन्हें अब भी इन्तजार है अपने लड़के का
उस दिन आर्मी आई थी गाँव में
सोलह लाशें मिलीं पर उनमें इनका लड़का नहीं था
जिनकी लाशें नहीं मिलतीं उनका कोई पता नहीं मिलता कहीं

इस साल बहुत टूरिस्ट आए साहब
गुलजार हो गया कश्मीर फिर से
बस वे लड़के भी चले आते तो...

8.

गुलमर्ग जाएँगे तो गुजरेंगे पुराने श्रीनगर से
वहीं एक गली में घर था हमारा
सेब का कोई बागान नहीं, न कारखाने लकड़ियों के

एक दुकान थी किराने की और
दालान में कुछ पेड़ थे अखरोट के
तिरछी छतों के सहारे लटके कुछ फूलों के डलिए
एक देवदारी था मेरे कमरे के ठीक सामने
सर्दियों में बर्फ से ढक जाता तो किसी देवता सरीखा लगता
हजरतबल की अजान से नींद खुलती थी
अब शायद कोई और रहता है वहाँ...

वहाँ जाइए तो वाजवान जरूर चखिएगा...
गोश्ताबा तो कहीं नहीं मिलता मुगल दरबार जैसा
डलगेट रोड से दिखता है शंकराचार्य का मन्दिर...
थोड़ा दूर है चरारे शरीफ...
पर न अब अखरोट की लकड़ियों की वह इमारत रही न खानकाह
कितना कुछ बिखर गया एहसास भी नहीं होगा आपको
हम ही नहीं हुए उस हव्द* में अपनी शाखों से अलग...

मैं तुम्हें याद करता हूँ प्रांजना भट्ट हजरतबल के ठीक सामने
खड़ा होकर
रूमी दरवाजे पर खड़ा हो देखता हूँ तुम्हारा विश्वविद्यालय
डल के किनारे खड़ा बेशुमार चेहरों के बीच तलाशता हूँ तुम्हारा
चेहरा
चिनार का एक जर्द पत्ता रख लिया है तुम्हारे लिए निशानी की
तरह...।

508, भावना रेसीडेंसी, सत्यदेव नगर, गांधी रोड, ग्वालियर-474002

सच्चिदानंद विशाख

पार्टी का झंडा

बिलकुल अनिर्णय की स्थिति है
जैसे दाँतों से शीशे चबाना
जैसे राह पर चलते चले जाना किसी उपग्रह की तरह

मैं उसे उठा रहा था, पर वह उठ नहीं रहा था
और चलने लगा तो रुका नहीं था
वह रचता गया था लम्बे-लम्बे आकार
अन्ततः नीचे आया था

---

* पतझड़

अपने सारे सामान टूटे फूटे लिये
सब कुछ बटोरकर उसकी पत्नी ने ही फेंक डाला
उसके बच्चों ने ही फूँक दिया था झंडा
हवा में तैर रहा था वह अकेला
पर गाना नहीं छोड़ा
पार्टी का गान

अब पुकारना है किसे
कि कौन सामान उठाए
कौन बनाए आगे पार्टी का मैनुफेस्टो
बारी-बारी से नहीं

अब सभी को एक साथ घुसने की छूट है
निकलने के काफी दरवाजे हैं

पर, वह है कि चिल्ला रहा है वही पहले वाली चीज
वही पहले वाले आदर्श गा रहा है
अब भी कुर्ता धोती पायजामा
वह अब भी घिसट रहा है वही चप्पल
निकल रहा है बाजार के लिए फिर कभी जाएगा
आहार के बगल के खेत में बैठने।

अतीत

जो अतीत मेरे हिस्से से जा गिरा है
मैं उसके लिए ठहरा
मैंने गढ़ डाला, उसके लिए, माटी का घर
जो घर,
बता भी नहीं पाएगा ठीक से, जीवन का पूर्वार्द्ध कहाँ कैसे कट
गया है
डूब गया है कैसे गेंद का अधिकांश
हथेलियों से ही बनाएँगे
जलाशय का
आकार
काट काट उसे बदल देंगे शाम के सूर्यास्त के अनुसार
पतले पतले रस्से डाल
उसे
उतार लेंगे आहर के किनारे
बुला लेंगे सभी लोगों को बागों में बैठ

देखेंगे आहार का जल
बहता रहेगा काफी समय
गाँव को गवाह मानकर
कदमों पर कदम पसरते जाएँगे
बुलाते जाएँगे
पुकारकर सदियों को एक साथ
एक साथ बाँध डालेंगे आदमी से आदमी को
आदमी की परछाईं को ढूँढेंगे।

मध्य विद्यालय कल्याणपुर, पोस्ट कल्याणपुर, पटना-801453

कुमार वीरेन्द्र

आधा-आधा

आधा खेत भीग रहा है
आधा सूख रहा है
जोताई के बाद
मेड़ पर फेंक रहे हैं पिता
अरहर की खूँटी
आधा भीगते
आधा सूखते

पिता गा रहे हैं
लहरदार गीत प्रिया के लिए
और वह भी आधा भीग रहा है
आधा सूख रहा है
घुल-मिल रहा है
हवाओं-दिशाओं में

बाबूजी!
ई तो जादू हो रहा है
जादू नहीं बेटा
ई है बिन उधार बहार
अरे, इसे ही तो कहते हैं
आषाढ़।

अब भी बचे हैं बैल

खेतों के लिए
अब ट्रैक्टर की है जरूरत
बैलों की नहीं
इसलिए उनके खूँटे
उखड़ चुके

फिर भी
इस ट्रैक्टर युग से
बहुत-बहुत आगे
निकल जाने वाली इस दुनिया में
क्या सचमुच नहीं होंगे बैल

शायद नहीं बल्कि सचमुच
नहीं होंगे
फिर भी वे कहेंगे
उनके विश्वास
और विकास के रास्ते में
अब भी बचे हैं बैल

और हम सबसे बड़े बैल हैं।

संपर्क : 09199148556

शैलेश पंडित

अकेले आदमी की लौ

धरती के एक ओर-छोर तक
जहाँ से गुजरे हैं हमारे पाँव
हर जगह एक ही जैसी बोली जाती है
रोटी की भाषा।
एक ही जैसी भाषा में छूटती हैं बन्दूकें
और सारा बाजार आँखों-आँखों में कुछ कहकर
गली में गुम हो जाता है।

फिर शाम
अपनी नर्म उँगलियों से

छेड़ती है सितार...
और दुनिया के सारे पिता
अपने बच्चों में
उनके हिस्से का डर बाँटने लगते हैं।
तुम सात समन्दर पार से भी
जान सकते हो
कि कल रात मुझे अपने पुरखों से
क्या विरासत मिली होगी!

इस बारे में
कोई नहीं लड़ सकता मुझसे
भाषा और धर्म की लड़ाई।
हजारों मील दूर
तुम किसी भी भूखंड के वासी—
जब भी छुओगे मेरा हाथ
काँप जाओगे कि जैसे अपने सहोदर के
जलते हाथ छू रहे हो!

जहाँ भी धरती पर
छूटती हैं बन्दूकें
जहाँ ये पिता
अपने बच्चों में डर बाँटते हैं—
वहीं सड़क के किनारे
किसी जाने-पहचाने मकान में
कोई एक शख्स
ढूँढ़ रहा होगा माचिस की तीली।

जब भी चलती है तेज आँधी
हरहराता है तूफान—
लोग दौड़कर
अपने दरवाजे बन्द कर लेते हैं...
अकेला वही आदमी
निकलेगा उस तूफान में
टिमटिमाती हुई मोमबत्ती लेकर
कि जाने कौन इस दहशत में
अपना घर भूल गया हो!...

फिर धीरे-धीरे
बाहर आवाजें थम जाएँगी।
जम जाएगी घरों के भीतर
यह दुनिया शिलाखंड-सी...
मगर वह आदमी अकेला तब भी
रास्तों पर चल रहा होगा।
वह गल रहा होगा
हर लौ में सोए वक्त को जगाता हुआ।

तुम नहीं कह सकते
कि बन्दूकों ने
आदमी की लौ छीन ली है।

सुनो, कबीरा कोरी

कहा, कबीरा ने
रे पंडित वाद-बदन्ते झूठा—
इसी बात पर दुनिया रूठी
सारा काशी रूठा।

बाबा, मैं पंडित घर-जारा
मैंने झूठ न बोला
सच कहने-करने की धुन में
साधू चला अकेला।

बाबा, तुम कपड़ा बुनते थे
मैं बुनता हूँ दुनिया
दुनिया तो तुमने बुन डाली
मैं हूँ केवल धुनिया।

इस धुनिया ने कभी न सोचा
रैन-सुबह और शाम
वंशज हूँ तो धुन है मेरी
आऊँ जग के काम।

एक कुल-बोरनी
बोर-बोर कुल
गंगा चली नहाने।
कुल तो रहा महा अविनाशी
बैठी हाट बिकाने।

बिकी हाट और बाट

बिक गए हम तो देश-विदेश
फिर तो हुई जहाँ में केवल
यह बिकने की रेस।

बिक गए पांडे
बिके मौलवी
गोविन्द बिके सयाने।

अब यह जो बाजारवाद है
बिकते हैं हरिचन्दा
घर-घर बिकीं-लुटीं सतवन्ती—
सब कुदरत के बन्दा।

कविताई भी बिकी
ओ बाबा
हम भी लगे ठिकाने।

बाबा, मैं भी
वही राम का
कूता हूँ और सूता हूँ—
दुनिया जरे
भला क्या मेरा
मैं चमरौधा जूता हूँ।

इन्तजार है मुझे खरीदे
कोई पाँव सजाए
मुझे पहनकर खेती गोड़े
या सिंहासन पाए।

बाबा
तुम्हीं कहो दुनिया से
मैं किस-किस सिर बीता हूँ।
दुनिया मुझे भला क्या बूझे
मैं तो सकल पलीता हूँ।

एच बी 101, ब्लॉक 6, [illegible], [illegible], नई दिल्ली-110 049

राजेन्द्र उपाध्याय

अनाड़ी फोटोग्राफर

कई लोगों के मैंने फोटो खींचे हैं
अपने कैमरे से और दूसरों के कैमरों से भी–
देखिए यहाँ से ऐसे कीजिएगा 'क्लिक'
युवा पर्यटक दम्पतियों के फोटो उतारते वक्त
मेरा ध्यान उसकी पत्नी पर अधिक रहता है।
मैं उसे बार-बार मुस्कराने को कहता हूँ
और वह हाथ में फूल लेकर मुस्कराती है।
वो फोटो पता नहीं कब कहाँ किन शहरों के
अँधेरों में धुलकर
पता नहीं कहाँ, किन शहरों के
ड्राइंग रूम में लगे होंगे
गृहिणी शान से बताती होंगी उन्हें
और मेरा ध्यान भी न आता होगा।

कभी-कभी किसी पूरे एक परिवार का
फोटो उतारने को मुझे कहा जाता है
और मैं पूरे परिवार को एक साथ बैठाने में
असमर्थ रहता हूँ।
जैसे-तैसे खींचे गए उस फोटो में
हो सकता है, मँझली बहू कट गई हो
या उसका बेटा या बेटी का चेहरा आधा ही आया हो।
हो सकता है
कोई कहे कौन था यह
अनाड़ी फोटोग्राफर।
मेरे जैसे अनाड़ी फोटोग्राफर
आपको हर जगह मिल जाएँगे।

फोटोग्राफर

फटेहाल अपने घरबार से बेखबर
यूँ ही घूमते हुए जिनकी जेब में
आने-जाने के बस भाड़े के अलावा
कुछ खास नहीं
पर हाथों में महँगे कैमरे होते हैं

जिनसे वे अमीर लोगों को क्लिक
करते हैं, मुस्कुराते हुए लोगों को
फिर मुस्कुराने को कहते हैं।

उन्हें पता नहीं होता कि
पिछले बरस उन्होंने हनीमून पर आए
जिस जोड़े का बाँहों में बाँहें डाले
फोटो खींचा था
अब उनमें तलाक हो गया है।

अभी-अभी जिनको वो मुस्कराने को कह रहा है
थोड़ी देर में वो मारे जाएँगे
बम धमाके से, कार, रेल, हवाई दुर्घटनाओं में
या यों ही बैठे-बैठे!
अनाड़ी फोटोग्राफर
मौत को भी मुस्कराने को कहते हैं।

टी वी कैमरामैन

एक दुर्घटना से दूसरी दुर्घटना में भागते हुए
वे थकते नहीं हैं
एक विस्फोट से दूसरे विस्फोट में जाते हुए
वे काँपते नहीं हैं।

वे पत्थर के बने हैं
उन्हें एक घायल आदमी के मरने की
लेनी है तस्वीर
और हमारे ड्राइंग रूम में भेजनी हैं।

वे तुम्हारे गिरने के इन्तजार में हैं
उठने में नहीं
वे तुम्हारे मरने के इन्तजार में हैं
जीने में नहीं।

बी 108, पंडारा रोड, नई दिल्ली-110 003

प्रभा दीक्षित का रचना-संसार

कमल किशोर श्रमिक

कलावादी एवं यर्थायवादी धारणा के अन्तर्विरोध अब समीक्षाशास्त्र में दृष्टिगत नहीं होते क्योंकि मूर्त या अमूर्त ऐसी कोई भी कला नहीं होती, जो मनुष्य के लिए न हो, हाँ किसी कवि या कवयित्री के कृतित्व या व्यक्तित्व का सम्यक् विवेचन किया जाए, अर्थात् दोनों के तालमेल के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाए या दोनों को अलग-अलग चिन्हित किया जाए, यह बहस यदा-कदा आज भी उठ खड़ी होती है। कभी पश्चिमी समीक्षकों की यह अवधारणा रही है कि रचनाकार का चरित्र और उसका लेखन दोनों की अपनी अलग-अलग स्वायत्तता होती है, अतः साहित्यकार के कृतित्व का मूल्यांकन करते समय उसकी निजी जिन्दगी में झाँकने की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यवहारिक जीवन में प्रायः ऐसा अनुभव होता भी रहा है कि एक निम्नस्तरीय व्यक्ति भी एक स्तरीय सृजनकार के रूप में सफल हुआ है। ऐसे लेखक के लेखन का मूल्यांकन नहीं होना चाहिए, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, मगर एक मानवीय लेखक के उत्कृष्ट साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन के दौरान उसे कम अंक मिलने ही चाहिए क्योंकि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' के दोमुखी आदर्शवादी सिद्धान्त या 'चढ़ जा बेटा सूली पर' कहने वाले शब्द बहादुर क्रान्तिकारी कभी अपने जीवन में सफल नहीं हुए और साहित्य को जीवन से काटकर नहीं देखा जा सकता। मानव-समाज के बेहतर जीवन के संघर्षों को रचने की कला को ही उत्कृष्ट साहित्य की संज्ञा प्रदान की जाती है और यह काम जब लेखन और व्यवहार में कोई सर्जक समान रूप से करता है तो उसका यह दोहरा प्रदेय उसको यश और उसके काव्य को निरन्तरता प्रदान करता है।

निराला, महादेवी वर्मा, नागार्जुन, शमशेर, केदार, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, शील अग्रणी कवि होने के साथ साथ अच्छे व्यक्ति भी थे। वर्तमान में महाश्वेता देवी को उक्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु व्यक्तित्व और कृतित्व के तालमेल का सम्यक् मूल्यांकन यदि एक समीक्षक के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य कहा जा सकता है क्योंकि इसके लिए व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों पक्षों की जानकारी एक अनिवार्य शर्त होती है। कई बार लोग अपनी कम जानकारी के आधार पर औपचारिक रूप से मूल्यांकन का निर्वाह करते देखे गए हैं। ऐसे सतही मूल्यांकन आलोचना जगत् में हाशिये पर दृष्टिगत होते हैं। किन्तु जो लोग मूल्यांकन के पूर्व उक्त दोनों पक्षों की जानकारी जुटाने में अपना कीमती समय लगा देते हैं, वे अपनी पुस्तक को मील के पत्थर की भाँति एक अचल धरोहर साहित्य को अवदान के रूप में प्रदान करते हैं। निराला के साथ वर्षों रहकर लिखने वाले डॉ. रामविलास शर्मा या शरतचन्द्र के उक्त दोनों

254/1, श्रमिक बस्ती, बाबूपुरवा, कानपुर-208023

पक्षों को जानने के लिए एक दशक तक बंगाल के विभिन्न अंचलों में भटकने के बाद 'आवारा मसीहा' लिखने वाले विष्णु प्रभाकर को इसी कोटि के समीक्षकों में चिन्हित किया जा सकता है। यहाँ 'आत्महन्ता निराला' के लेखक दूधनाथ सिंह को भी स्मरण करना अस्वाभाविक नहीं होगा। हाँ किसी कृतिकार के दोनों पक्षों को जानने के पश्चात् समीक्षा के लिए एक चेतनासम्पन्न समीक्षात्मक दृष्टि तो होनी ही चाहिए क्योंकि सूचना (जानकारी) और मूल्यांकन में जहाँ एक वैचारिक अन्तराल होता है वहीं मूल्यांकनकर्ता की अन्तर्दृष्टि हीरे को खरीदने की भूमिका का निर्वाह भी करती है। क्या कारण है भूतों, चुड़ैलों के प्रतीकों के माध्यम से बात कहनेवाले शेक्सपीयर की मार्क्स जैसा वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न लेखक उनके जीवन-मूल्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है।

अब मैं निर्धारित विषय पर कलम चलाने के पूर्व आप (पाठकों) को यह सूचित करना अनिवार्य समझता हूँ कि मैं अपनी पचहत्तर वर्ष की आयु के दौरान पिछले तीन दशकों से 'प्रभा' से परिचित रहा हूँ और पास-पास किदवईनगर में रहते हुए अन्तरंग भी। अन्तरंगता टकराहट की एक अनिवार्य प्रक्रिया है। कहावत है एक टोकरी में दो बर्तन खटकते अवश्य हैं। इसी टकराव और सहयोग के बीच उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जो झलक मुझे प्राप्त हुई है, उसे आधार बनाकर मैं उनकी नवीन प्रकाशित काव्य-कृति 'प्रेम करती हुई स्त्री' के बारे में समीक्षात्मक दृष्टि से कुछ कहने या लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। उनकी पूर्व प्रकाशित गद्य या पद्य की ढेर सारी पुस्तकें मेरे सामने बिखरी पड़ी हैं और मैं इस सोच का शिकार हूँ कि बात कहाँ से प्रारम्भ करूँ?

चलिए प्रस्तुत संकलन में जो दो पृष्ठों का 'आत्मकथ्य' उन्होंने लिखा है, उससे चन्द शब्द उधार लेते हुए मैं अपनी बात प्रारम्भ करता हूँ। 'आज भी प्रेम करने के अपराध में स्त्री संगसार की जा रही है। जिन्दा जलाई जा रही है, उसकी हत्या की जा रही है, फिर भी प्रकृति के विपरीत आदमी कितना लड़ सकता है।' यह शब्द किसी भावुकहृदया स्त्री के उद्‌गार मात्र नहीं हैं बल्कि पिछले दो दशकों से स्त्री-मुक्ति के प्रश्न पर कलम चलानेवाली, लगभग दो सौ से अधिक लेख लिखनेवाली, क्रमिक विकास करनेवाली उस चेतना सम्पन्न कवयित्री के हैं, जो अच्छी तरह जानती है कि स्त्री को प्रेम करने का सामाजिक अधिकार नहीं रहा। वह पराई आँखों वाले सपने देखती है। वह प्रेम पाती रही, देती नहीं रही। वह भोग्या रही, उसे भोगने का अधिकार कभी प्राप्त नहीं हुआ। यूँ विश्वभर की भाषाओं के साहित्य में प्रेम के आख्यान भरे पड़े हैं। जीवमात्र के प्रेम करने के उपदेशों से लेकर ईश्वर से भी आशिक, माशूक या दोस्त के रिश्ते कायम किए गए। 'सिया-राममय सब जग जानी' से लेकर 'दिल के आइने में है तसवीर यार की। जब जरा गरदन झुकाई देख ली' लिखा गया, किन्तु सम्पूर्ण विश्व के साहित्य को खँगालने के बाद आप इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री को प्रेम करने का अधिकार नहीं रहा। वह प्रेमिका रही, प्रेमी की आँखों की पुतली रही, मगर नजर बदलते ही पाँवों की जूती में तब्दील हो गई। प्रश्न उठता है कि क्या प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक स्त्री में प्रेम सम्बन्धी भावनाएँ नहीं उठी होंगी। मगर स्त्री कभी इसे व्यक्त करने का जोखिम नहीं ले पाई। हिन्दी साहित्य में ही नहीं सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दी तक कोई स्त्री 'शेक्सपीयर' नहीं बन पाई, ऐसा विचार उस काल के पुरुष लेखकों, विद्वानों का रहा है। शेक्सपीयर अपनी प्रसिद्ध कविता 'ट्रू लव' (True Love) में लिखते हैं—

"सच्चे हृदयों के परिणय में
मैं मान न पाता
कोई व्यवधान
वह प्रेम नहीं होता
जो परिवर्तित होता
जब परिवर्तन देखता।" [2]

इस सन्दर्भ में 'वर्जीनिया वुल्फ' लिखती हैं—'सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दी तक स्त्री-जाति में कोई लेखिका प्रतिभासम्पन्न नहीं हुई। वह कहती हैं—मान लो शेक्सपीयर की कोई बहन होती और वह भी शेक्सपीयर के समान प्रतिभासम्पन्न होती तो भी क्या वह उस काल में शेक्सपीयर जैसी बन पाती। क्या उसे शेक्सपीयर के समान सुविधाएँ प्राप्त होतीं।' (वर्जीनिया वुल्फ, 'अपना कमरा' (ए रूम ऑफ वन्स ओन) के अनुवाद से उद्धृत) [3]

22 फरवरी, 1962 को उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में जन्मी प्रभा, अपनी किशोर वय से ही इस प्रश्न से जूझती रहीं कि पुरुष के बरक्स एक स्त्री को दोयम दर्जे का प्राणी क्यों समझा जाता है? वह एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में जन्मी है और अपनी तीन बहनों और तीन भाइयों में सबसे बड़ी है। घर सम्भवतः उनके स्त्री विमर्श की पहली पाठशाला इसलिए रहा क्योंकि उन्होंने बचपन में पिता के द्वारा माँ की उपेक्षा को व्यवहार में अपनी आँखों से देखा था। भाइयों की तुलना में स्वयं का तथा अपनी बहनों का प्रतिबन्धित जीवन तथा पास-पड़ोस में स्त्री जाति का पुरुषों के द्वारा उत्पीड़न उनके बाल-मन में निरन्तर गूँजता रहा कि समान बौद्धिक क्षमताएँ

रखने के बाद भी एक लड़की समाज में किसी लड़के की भाँति सुविधाओं और स्वतंत्रता की अधिकारिणी क्यों नहीं होती? प्रभा के अनुसार, जब वे अपने शहर रायबरेली के फीरोज गाँधी कॉलेज से बी.ए. की छात्रा थीं तभी उन्होंने समाज में स्त्री-पुरुष की असमान स्थिति के बारे में अपने राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर श्री रामबहादुर वर्मा से पूछा था, जो एक मार्क्सवादी चिन्तक व कम्युनिस्ट पार्टी के पदाधिकारी भी थे। उन्होंने इतिहास के माध्यम से प्रभा को यह बताने का प्रयास किया था कि मानव सभ्यता के प्रथम काल में स्त्री एवं पुरुष की सामाजिक अस्मिता में कोई फर्क नहीं था किन्तु समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के चलन के साथ-साथ तथा सामाजिक कार्यों में बँटवारे के द्वारा हाड़-मांस की स्त्री को भी एक वस्तु में बदल दिया गया एवं समाज में एक ऐसी आचार-संहिता पुरुषों के द्वारा निर्मित की गई जिसके द्वारा स्त्री जाति के सामाजिक अधिकारों का हनन ही नहीं किया गया बल्कि उसे घर की चहारदीवारी में कैद करके घरेलू काम करने एवं बच्चा जनने की मशीन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। युवा होती प्रभा के लिए उक्त प्रश्न उनके जीवन-मरण का प्रश्न बनता गया। सन् 82 में अपनी जिद एवं माँ के सहयोग के द्वारा उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. में एडमीशन लिया। कहा जा सकता है कि यह काल राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से विशेष उथल-पुथल का काल था। पिछले दो दशकों में लोकतंत्र के कर्णधारों का पूँजीवादी रुझान जो समाज की आर्थिक विषमता का मूल कारण था, आम जन के मन में आक्रोश पैदा कर रहा था। भारत का किसान या मजदूर वर्ग अपने अधिकारों के लिए आन्दोलनरत था। विद्यार्थी युवा वर्ग पर, खासतौर से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रों में समाजवादी विचारधारा का विशेष प्रभाव था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पी.एस.ओ. (प्रोग्रेसिव स्टूडेन्ट यूनियन) जो मार्क्सवादी विचारों के प्रवाह में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष कर रही थी, का आम विद्यार्थियों के बीच विशेष प्रभाव था। प्रभा भी पी.एस.ओ. की सदस्य बन गईं और छात्र-संगठन की ओर से होनेवाले डिबेट्स, स्टडी सर्किल, नाटक, प्रदर्शन आदि के आन्दोलनकारी कार्यों में पूर्ण आस्था के साथ अपनी भागीदारी का निर्वाह करना प्रारम्भ किया। कहा जा सकता है कि यह काल प्रभा के जीवन में होनेवाले वैचारिक परिवर्तन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल था। वह अपने कुछ साथियों की तरह किसी राजनैतिक दल की पूर्णकालिक सदस्य तो नहीं बनीं। शायद इसका कारण उन पर राजनीति से अधिक साहित्य का प्रभाव भी एक कारक रहा हो। इस बीच वे एक मध्यमवर्गीय परिवार की बहू बनीं, तीन बच्चों की माँ बनी, आर्थिक आत्मनिर्भरता की दृष्टि से शिक्षिका बनीं, इस सबके बाद भी उन्होंने वैचारिक स्तर पर पीछे मुड़कर नहीं देखा। वर्तमान समय में भी वह जन संस्कृति मंच की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सदस्य एवं प्रादेशिक उपाध्यक्ष हैं तथा अखिल भारतीय प्रगतिशील महिला एसोसिएशन की राष्ट्रीय-पार्षद हैं तथा नौकरी, पारिवारिक दायित्व एवं लेखन के व्यस्त जीवन से समय निकालकर स्त्री अधिकारों के लिए होनेवाले संघर्षों में आन्दोलनकारी भूमिका का निर्वाह करती देखी जाती हैं। गद्य-पद्य की लगभग एक दर्जन पुस्तकें, अखबार के कॉलम तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर लिखे गए लेख उनकी वर्गीय प्रतिबद्धता तथा पितृसत्ता के विरुद्ध अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती स्त्री के प्रति सम्बद्धता को प्रमाणित करते हैं। परिवार के आर्थिक दायित्व तथा वैचारिक प्रतिबद्धता के दोहरे संघर्षों के बीच कुन्दन की भाँति अपनी अस्मिता बनाए रखनेवाली इस कवयित्री का मानसिक या वैचारिक विकास भी क्रमिक ढंग से ही हुआ है, इस बात को मैं लेख के पूर्व पृष्ठों में भी चिन्हित कर चुका हूँ मगर आम मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की भाँति पाला बदलने या निराशा में भटक जाने की मानसिकता इनके सम्पूर्ण साहित्य में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। कहावत है—"गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में"। जीवन संघर्षों की यात्रा में कई बार जय-पराजय आशा-निराशा के भाव किसी भी यात्री के हृदय में अंकुरित होना बेहद स्वाभाविक है, किन्तु निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ने की दृढ़ जिजीविषा स्वयं अपने अन्तर्द्वन्दों पर अंकुश चलाने का प्रयास करती हुई एक कल्पित या मानसिक विकल्प तलाश लेती है। अपने विद्यार्थी जीवन की प्रारम्भिक रचनाओं के काव्य संकलन 'अधूरी-कविता' में 'आँसुओं की सुगन्ध' कविता में कवयित्री लिखती है—

"जब जिन्दगी में
संघर्ष तुम्हें तोड़ने लगे।
दुख तुम्हें फोड़ने लगे
हर राह, गलियाँ, चौराहे
अपरिचित से साथ छोड़ने लगे
तब तुम अपने आसपास सुनना
जिन्दगी की कराहें
मानवता की आहें
सूँघना माटी की गन्ध में
आँसुओं की सुगन्ध
तब तुम्हें जिन्दगी का दाँव
हार जाने का। कोई गम नहीं होगा।"[4]

जिन्दगी की यात्रा में पराजित इतिहास को जय के रूप में ग्रहण करने की उक्त मानसिकता दीर्घकालीन संघर्ष के महत्व को आत्मसात् कर सकती है। अन्यथा आपातकाल के टूटे हुए गिरे वृक्ष आज भी हमारे हिन्दी साहित्य के अरण्य में देखे जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कवयित्री की काव्य यात्रा में उनके व्यावहारिक जीवन के कड़वे-मीठे अनुभव, धूप छाँह के परस्पर विरोधी निकष एवं सामूहिक संघर्षों की तपन सभी कुछ उनके काव्य की भाषा में बेहद स्वाभाविक रूप से हृदयस्पर्शी अनुभूति के रूप में शब्द-शब्द में दृष्टिगत होती है। प्रेम यूँ तो आदमी ही नहीं जानवर भी करते है। क्रौंच पक्षी के बारे में तो लोकप्रसिद्ध है कि उनके जोड़े में किसी एक की मृत्यु के बाद दूसरा भी प्राण त्याग देता है किन्तु मनुष्य जाति का प्यार मात्र उक्त भावना तक सीमित नहीं है। वह प्यार में कुछ और भी जोड़ते हुए उसे व्यापक बनाने का प्रयास करता है। उसे कर्तव्य किस सीमा तक विस्तारित करता है जहाँ प्रेम निजी जीवन की सम्वेदना को स्पर्श करते हुए सामाजिक सरोकारों से सम्बद्ध हो जाता है। शायद यही कारण है कि जनवादी विचारधारा वर्गीय प्रेम को प्रेम के उच्चतम स्वरूप के रूप में ग्रहण करती है। कवयित्री अपने कविता संग्रह की प्रथम कविता 'प्रेम करती हुई स्त्री' की प्रारम्भिक पंक्तियों में कहती है–

"प्रेम करती हुई स्त्री
होती है दुनिया की सबसे चेतनासम्पन्न स्त्री
इस दुनिया की बंजर धरती पर
वह उगाती है-सपनों के फूल
निराशा के रेगिस्तान में
आशा और विश्वास के उसूल"

इस लम्बी कविता में प्रेम के कई रंग, कई शेड, कई अन्दाजों को प्रस्तुत करती हुई वह प्रेम के उन व्यापक आयामों को चिन्हित करती हैं जहाँ प्रेम एक निजी आवेग के साथ-साथ एक जीवन-दर्शन के रूप में आकार ग्रहण करता हुआ सम्पूर्ण विश्व की जड़ताओं को समाप्त करते हुए, उसे एक बेहतर आकार देना चाहता है।

"प्रेम एक जिद है।
एक हठ है
एक ख्वाब है।
एक इंकलाब है
दुनिया की जड़ताओं के खिलाफ।"

यहाँ यह तर्क उठ सकता है कि कविता में प्रेम सम्बन्धी दीवानगी न होकर प्रेम की उदात्त भावनाओं को बौद्धिक चिन्तन से जोड़कर बड़ी-बड़ी बातें की गई हैं। किन्तु इसी कविता की निम्न पंक्तियाँ इसका जवाब बन जाती हैं–

"प्रेम करती हुई स्त्री
उफनाती नदी में उतर सकती है–
कच्चे घड़े के साथ।"

क्या उक्त पंक्तियाँ प्रेम के सम्बन्ध में गालिब के इस अमर शेर के समानान्तर नहीं रखी जा सकतीं। 'इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।' मगर कविता यहाँ ठहरती नहीं है। प्रेम यहाँ ठहराव की स्थिति में नहीं है। कवयित्री आगे लिखती है–

"प्रेम करती हुई स्त्री
रचती है। बारूद के ढेर पर बैठी हुई
दुनिया के समानान्तर
एक नई दुनिया।"

अथवा

प्रेम करती हुई स्त्री
कर रही है एक ईमानदार कोशिश
न्याय के साथ प्रेम को बचाने की
पूरे विश्व के लिए
जहाँ शोषण नहीं होगा
जहाँ युद्ध नहीं होगा।

ध्यान दें कि प्रेम के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा आधुनिक युग की एक स्त्री (कवयित्री) एक जोखिम ले रही है। ऐसा भी नहीं है कि इसके पूर्व किसी स्त्री ने प्रेम की बात करने का खतरा मोल नहीं लिया। सामन्त युग की मीरा पुरुष निर्मित भीषण सामाजिक प्रतिबन्धों के बाद भी मोहन के माध्यम से अपने प्रेम की उदात्तता को सम्प्रेषित करने की सजा विष के प्याले के रूप में पा चुकी थी और 'शृंखला की कड़ियाँ' की लेखिका महादेवी वर्मा जिन्होंने अपनी पुस्तक में स्त्री-पुरुष समानाधिकारों की भरपूर वकालत की है, शायद इसी सामाजिक दबाव के कारण एक सुखी दाम्पत्य जीवन की आकांक्षा रखती हुई भी जीवन भर 'नीर भरी दुख की बदरी' ही बनी रहीं। क्योंकि छायावाद में भी मानव-जीवन के सत्य की छाया न रही हो, ऐसा सम्भव नहीं है। किन्तु मीरा एवं महादेवी वर्मा के काल की परिस्थितियाँ या साहित्य का युगबोध दूसरा था। अपने समय में उक्त कवयित्रियों ने अपने तरह के जोखिम उठाए हैं किन्तु आज के समय में जब यह कहा जा सकता है कि सामजिक जीवन के हर क्षेत्र में स्त्री पुरुष के साथ कदमताल कर रही है। स्त्री-मुक्ति की बात भले ही आज भी समाज के हाशिये पर हो, उसे साहित्य के केन्द्र में देखा जा

सकता है। भूमण्डलीकृत बाजारवाद अपनी अनेक मनुष्यता द्रोही आर्थिक गतिविधियों के बावजूद अपने अन्दाज में स्त्री-मुक्ति का समर्थन करता है। वैसे यह समर्थन भी स्त्री के लिए बेहद खतरनाक है बकौल किसी शायर के "सिर्फ पिंजरा बदल दिया तुमने। कैसे आजाद हो गई चिड़ियाँ।" हाँ, बाजारवाद में स्त्री के पक्ष में एक सकारात्मक बात यह अवश्य हुई है कि स्त्री के लिए वर्जित समझे जाने वाले अनेक क्षेत्रों में स्त्री-पुरुष के साथ प्रवेश कर रही है। साथ ही साथ उक्त उपभोक्ता संस्कृति स्त्री को पुरुषजनित दुर्गणों के लिए प्रोत्साहित करती हुई उसे बाजार की वस्तु, सुन्दर देह या विज्ञापन का मॉडल बनाने का प्रयास कर रही है और बाजार के प्रभाव या आर्थिक ग्लैमर के कारण चन्द स्त्रियाँ सौन्दर्य प्रतियोगिताओं से लेकर, विज्ञापनी मॉडल बनने की शुरुआत भी कर चुकी हैं। यहाँ तक कि पुरुष वर्ग को वर्ग शत्रु के रूप में चिन्हित करनेवाली देह मुक्ति के लिए यौनिक क्रान्ति करनेवाली लेखिकाओं की भी कमी नहीं है और सिक्के का दूसरा पहलू यह है कि 90 प्रतिशत भारतीय दाम्पत्य अपने एकनिष्ठ प्रेम-प्रदर्शन के साथ एक-दूसरे को झेल रहे हैं। इस मुद्दे पर थोड़ी-बहुत ईमानदारी बची है तो वह स्त्रियों में पाई जाती है क्योंकि जहाँ तक यौन शुचिता का प्रश्न है पुरुष हमेशा इसका ठीकरा स्त्रियों के सिर पर फोड़ता है। सती-प्रथा जैसी कुप्रथा इसी प्रवृत्ति की देन कही जा सकती है। मेरे विचार से उक्त दोनों पक्षों की सैद्धान्तिक जानकारी के साथ-साथ युवा से प्रौढ़ होती हुई कवयित्री के पास प्रेम के अपने निजी अनुभव हैं जिन्हें वह साहस के साथ व्यक्त करती हैं। वह अपने साथी से स्नेहिल भाव-तंत्र से जुड़ती हुई कहती हैं–

"तुम थोड़ी देर मेरे साथ थे
मुझे लगा। मेरे जीने का कोई अर्थ है
तुम थोड़ी देर मेरे साथ चले।
मुझे लगा मेरे पाँवों में गति है।
उतर गई सारी थकान
ऐसा क्यों होता है।
जब किसी का वजूद किसी के लिए
इतना अर्थपूर्ण हो जाता है
कि जिन्दगी के मायने बदल जाते हैं।"[10]

इस भावपूर्ण पक्ष को शब्द देने के बाद वह 'विश्वासघात' नामक कविता में कहती हैं–

"विश्वासघात क्या है?
एक व्यक्ति जो सो रहा है
अपनी पत्नी के बजाय
किसी पराई औरत के साथ
या जो सोता रहा जबरन
उस पत्नी के साथ। जिससे उसने
कभी किया ही नहीं प्यार।"[11]

इस कविता में अगर आप जेंडर बदल दें तो कवयित्री की अभिव्यक्ति और तीखी एवं साहसपूर्ण हो जाती है। शायद उनका अभिप्राय भी यही है। क्योंकि यह मजबूरी आदमी की नहीं औरत की अधिक रही है। कहने का तात्पर्य मात्र यही है कि कवयित्री ने प्रेम सम्बन्धों की व्यापक पड़ताल करते हुए जीवन के प्रेम सम्बन्धी हर पहलू को स्पर्श किया है। वह प्रेम के समन्दर में डूबती है, उतराती है और एक कुशल तैराक की भाँति किनारे पर पहुँचती दृष्टिगत होती हैं। "प्रेम अन्धा होता है" कवयित्री इस परम्परागत बात को स्वीकार नहीं करती और मानव जीवन के हर रिश्ते में प्रेम की तलाश करती हुई प्रेम के पाखंडों का खंडन करती है। वह 'कविताओं के फूल' शीर्षक कविता में लिखती हैं–

"बहुत दिनों बाद। कविताओं की तलाश में।
मैं गई फूलों के पास। उन फूलों के पास
जिन्हें देखकर मेरा मन। चिड़ियों सा चहक उठता था
वे फूल जो मिलते-जुलते हैं। मेरे बेटे के चेहरे से।
बहुत दिनों से। मैंने नहीं देखा। फूल-सा चेहरा।
अपने बेटे का।"[12]

फूल, पत्तियाँ, तितलियाँ प्रतीकों के रूप में उनकी कविताओं में भरी पड़ी हैं। प्रकृति प्रेम को उनके निजी जीवन में भी देखा जा सकता है। अपनी आमदनी का एक हिस्सा वह अपने छोटे से घर पर रखे हुए दर्जनों किस्म-किस्म के फूलों वाले गमलों एवं छोटे से बगीचे पर खर्च करती हैं। जहाँ फूलों, तितलियों से उनके स्वाभाविक प्रेम को पाठक देख सकते हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि उक्त कवयित्री गीत और गजल की विधा में भी अपनी बात कहती रही है। वह अपने प्रेम विस्तार को शब्द देते हुए 'रोशनी की इबारत' नामक गजल संग्रह में कहती है–

"चन्द गूँगों की मैं जुबाँ भी हूँ
एक पत्नी हूँ और माँ भी हूँ।"

अथवा

"इस जमीं पे जहाँ तू लेटा है
एक आँचल सा आसमाँ भी हूँ।"

उनकी शायरी में भी प्रेम के अन्तर्विरोधपूर्ण व्यापक प्रसंगों को चिन्हित किया जा सकता है। देखें–

"कई बार ऐसा लगता है कोई मेरे पास न हो।

प्रतिबन्धों वाली बस्ती का कोई भी आभास न हो।"[15]

किन्तु गजल के दूसरे शेर में वे अपने प्रेम को व्यक्त करती हुई कह उठती हैं—

"कई बार ये भी लगता है कोई आकर प्यार करे।
देश में मेरे बिना अकेले कोई उदास न हो।"[16]

इस तरह प्रेम-प्रसंगों की जमीनी हकीकत को आसमानी ऊँचाईयाँ देनेवाली कवयित्री जहाँ प्रेम के पावन रंगों को अपनी स्मृति के कैनवास पर फैलाती हुई लिखती हैं—

"एक निःशब्द दुर्निवार आकर्षण
कल्पना सा कोमल।
रुई के बादलों सा उजला-उजला
आकाश की आँखों सा स्नेहिल
इन्द्रधनुष सा स्वप्निल
होता है प्रेम का रंग
प्रेम के बन्धन में बँधे बिना
हम सोच नहीं पाते
इसके अस्तित्व की विराटता।"

क्या प्रेम के इन्द्रधनुषी रंगों में रँगी हुई कवयित्री से आप यह अपेक्षा भी कर सकते हैं कि वह प्रेम के नकली स्वरूप को देखकर आक्रोश की भदेस भाषा में यह भी लिख सकती है—

"क्यों मरी जाती है। अपने स्वामी के लिए।
उस पतिव्रता स्त्री की भाँति। जो हर पल
आदमी की लात खाकर भी। खाने की थाली
के साथ। परोसती है अपनी देह।"[18]

और अन्त में वह अपना बौद्धिक विकल्प प्रेषित करते हुए प्रेम के बारे में घोषणा करती है—

"आओ हम प्यार को पिंजरे का बन्धन नहीं
आकाशी खुलापन दें।
उस बदलते सत्य को समझें
जहाँ हमारा प्यार पराया हो जाता है
निजी जरूरतों की तरह।
लोक जीवन की मुक्ति का। साधन बन जाता है।
जहाँ बच्चों की मुक्ति
और चिड़ियों की उड़ान से लेकर
करोड़ों लोगों का सरोकार बन जाता है।"[19]

"मृत्यु के सच को भूल जाने का। अमोघ मंत्र भी है प्यार" जैसा काव्य वक्तव्य देनेवाली उक्त कवयित्री अपने प्रेम सम्बन्धों के उस समय को भी चिन्हित करती हैं जब प्रेम अहं का शिकार होकर अपना सुख-दुख अलग-अलग जीने लगता है। वह उक्त शिकायतों को बेलाग कहती है—

"तुम्हें शिकायत है। मैंने तुम्हारा साथ नहीं दिया।
हम दोनों। अपनी-अपनी मुसीबतों को।
सलीबों की भाँति ढोते रहे। बिना एक-दूसरे से
कुछ कहे-सुने। और आशा करते रहे कि
हम समझ लेते हैं। एक-दूसरे की कठिनाइयाँ।
मुसीबतें और संघर्ष। बिना कहे ही।"[21]

प्रेम को प्राचीन कवियों ने इतना दुरूह और आदर्शात्मक बना डाला कि आम आदमी यह सोचने पर विवश हो गया कि प्रेम करना सबके बस की बात नहीं है क्योंकि प्रेम का घर खाला का घर नहीं है। यहाँ सर काट कर हाथ में लेना पड़ता है। मगर सत्य यह है कि प्रेम मानव की सहज वृत्ति है। जीवन जीने की जरूरत है। पेट की भूख के बाद दूसरी भूख है एवं सामान्य असामान्य स्थितियों में प्रसन्नता एवं नाराजगी के क्षणों में भी प्रेम का अस्तित्व बना रहता है। कवयित्री इस मनोविज्ञान को भली-भाँति जानती है। वह यह भी जानती है कि इस बीमार पूँजीवादी व्यवस्था में प्रेम का सह-अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसी मनोविज्ञान की परतें उधेड़ती हुए वह लिखती है—

"वह फिर बुरा मान गया
छोटी सी बात का
जैसे शाम की धूप
खिड़की से उतर जाती है
या गाँठ में बँधी सिक्के की तरह
जो पास में गिर जाता है
अब कई दिन नहीं आएगा।
मोबाइल पर गालियाँ बकेगा
और जब कभी आएगा
मैं शिकायत करूँगी
तो कहेगा क्या करूँ?
किसी ने नाराज होने का हक नहीं दिया?
और रो देगा।"[22]

मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं या संवेदना या आक्रोश के परस्पर विरोधी क्षणों में प्रेम की शिनाख्त करनेवाली इस कवयित्री के काव्य-संसार को पूर्णता में तभी समझा जा सकता है जब आप उनके स्त्री विषयक लेखों को भी देखें। समय-समय पर स्त्री अस्मिता के प्रश्नों या स्त्री-प्रेम को लेकर उन्होंने गद्य में भी लिखा है। लेखिका इतिहास के बीहड़ों में भटकती हुई पौराणिक मिथों, गाथाओं के प्रेम प्रसंगों में स्त्री के प्रेम का मूल्यांकन करती है और इसी नतीजे पर पहुँचती दृष्टिगत होती है कि प्रेम सम्बन्धों में भी स्त्री का स्थान दूसरे दर्जे का होता

है। वह प्रेम करने में भी पूर्ण स्वतंत्र नहीं हैं। "हाँ सूरदास ने गोपियों के द्वारा श्रीकृष्ण की अनुरक्ति, संयोग-वियोग का मार्मिक वर्णन अवश्य किया है, किन्तु इस प्रेम में बराबरी वाली गन्ध शुरू से ही नदारद है। श्रीकृष्ण तो ईश्वर के अवतार थे, उन्होंने साधारण गोपिकाओं के साथ लीलाएँ की थीं। इसके बाद तो लीलाओं की एक दीर्घकालीन परम्परा देखी जाती है। हर राजा या समृद्ध पुरुष स्त्रियों से लीला रचाने की छूट पा जाता है। कृष्ण के साथ समान रूप से जुड़ी राधा को क्या अनेकानेक पुरुषों से लीला करने या रास रचाने का अधिकार था।"[23] मगर लेखिका अपनी कविताओं में हर जगह यही रोना नहीं रोती। वह कई बार इस समझदारी के साथ कि वर्तमान व्यवस्था में सम्पूर्ण प्रेम की कल्पना असम्भव है, एक एण्टी थीसिस लागू करते हुए प्रेम सम्बन्धों को मानवीय सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर स्थापित करती हुई प्रेम राग की पूर्णता को जिन्दगी की सम्पूर्णता का गीत बना देती है।

विश्व में कोई भी ऐसी राजनैतिक व्यवस्था नहीं है जिसमें प्रेम, स्नेह, सौहार्द्र की आवश्यकता न हो। हाँ, समाज के हर रिश्ते में स्वाभाविक प्रेम केवल समाजवादी व्यवस्था में सम्भव है, यही यहाँ कवयित्री की सम्पूर्ण भाषा-पाठ या कविता का निहितार्थ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी सौन्दर्यनुभूति को लोकमंगल या लोकदृष्टि से जोड़कर देखते हैं। "किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी सत्ता के बोध का जितना अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारे सौन्दर्य की अनुभूति कही जाएगी।"[24] प्रस्तुत काव्य-संग्रह जो धूमिल के शब्दों में एक सार्थक वक्तव्य की भाषा में निर्मित है, अपने भावबोध के द्वारा प्रेम एवं सौन्दर्य को व्यापक मानवीय लोकजीवन से सलंग्न करते हुए मानव विकृतियों के केन्द्रीय स्वरूप युद्धों का प्रतिरोध करता हुआ उसे मानव मुक्ति के अन्तहीन संघर्षों से जोड़ता है–

"यह कविता ही तो थी
जो मुझे जोड़ती थी
इस विराट् संसार से
एक बड़े संवाद से
मानव मुक्ति के अन्तहीन संघर्ष से
धूल, मिट्टी और आँसुओं के बीच
खिलाती थी आशाओं के फूल।"[25]

आलोचना वर्तमान समय में एक रचना कर्म के रूप में देखी जाती है। अतः आलोचक का भी यह दायित्व है कि वह पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सम्पूर्ण काव्य की पड़ताल करने के बाद, उसके स्पष्ट या अस्पष्ट निहितार्थ को शब्द प्रदान करे। पता नहीं, यह नाचीज समीक्षक जो कतई सफल समीक्षक होने का दावा नहीं करता, इसमें कहाँ तक सफल हुआ है। मगर मैंने प्रस्तुत कविता संग्रह की परस्पर विरोधी अवधारणाएँ या अन्तर्विरोध पूर्ण काव्य-चिन्तन को पढ़ने के बाद इसे प्रेम के साधारणीकरण के बीच प्रेम की असाधारण गरिमा को चिन्हित करने का प्रयास घोषित किया है। कवयित्री स्वयं भी लिखती हैं–

"हम प्यार से रूठ कर भी। प्यार से भाग नहीं पाते।
ये जीवन की कैसी जटिल फंतासी है।
जिसमें महाभारत की विराटता में भी
अक्षुण रह जाती है
स्नेह की अखण्ड रामायण।"[26]

इस अखण्ड रामायण के पृष्ठ पलटते हुए, मैं बेचैनी से सोच रहा हूँ कि इस भयावह वर्तमान में जब किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं, दिहाड़ी मजदूर भीख माँग रहे हैं; आदिवासी उजड़ी हुई फसल की भाँति लुटेरे के हाथों दमित हो रहें हैं। दलितों पर उत्पीड़न, स्त्री शोषण, बच्चियों से बलात्कार की खबरें रोज आती हैं।

ऐसे में प्रेम सम्बन्धों की कविता का औचित्य एक कठोर प्रश्नचिन्ह पैदा करता है। तभी मेरी दृष्टि कवयित्री के दूसरे कविता संग्रह, 'साझी उड़ान' की एक कविता 'एक उदास स्वप्न की बच्ची' पर टिकी रह जाती है। इसे मैं पूरी की पूरी यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। इस कविता के अन्त में लिखा है इराक अमेरिकी युद्ध के समय अमेरिकी सैनिकों से खाना माँगती इराकी बच्ची के अखबार में छपे चित्र को देखकर लिखी गई कविता–

एक उदास सपने में।
इराकी बच्ची का चेहरा
एक गहरी उदासी से भर देता है
मेरे जागरण के पलों को।
बगदाद के खँडहर में
मौत के साये से निकली
जिन्दगी की एक नन्ही किरन
अमेरिकी सैनिकों से खाना माँगती
ओह मौत से बड़ी हो गई है
इराक की भूख।

मैं अपनी बच्ची को जोर से भींच लेती हूँ
बच्चियाँ बदल गई हैं।
मैं गौर से देखती हूँ
आँसुओं से धुला कुनमुनाता चेहरा
चेहरे पर लिखी इबारत
आतंक के साये में पलता अबोध इतिहास
बालू के समन्दर में बारूदी धुएँ के बीच
खोई-खोई सी दुधमुँही संस्कृति
एक बेहद तकलीफदेह घायल उम्मीद के साथ
एकटक बच्ची को देखती है मेरी ममता
पढ़ती हूँ आँखों की आशा भरी इबारत
सुना है भेड़िये बच्चों को पाल लेते हैं
काश भेड़ियों पर पड़ता मासूम जिन्दगी का प्रभाव
भेड़िये आदमी बन जाते।"[27]

उक्त कविता को पढ़ने के बाद मैं अपने अपराध-बोध से मुक्त हो जाता हूँ। मुझे लगता हैयुद्ध में या शान्ति में या जीवन की किन्हीं विषम परिस्थितियों में प्रेम अपने महत्त्व को घटने नहीं देता। अकाल की छाया से लेकर मौत के क्षणों तक प्रेम अपनी अस्मिता बनाए रखता है। ■

(प्रेम करती हुई स्त्री (कविता-संग्रह), डॉ. प्रभा दीक्षित, प्रकाशक–साहित्य निलय, कानपुर)

सन्दर्भ

1. प्रेम करती हुई स्त्री - आत्मकथ्य, डॉ. प्रभा दीक्षित, साहित्य निलय प्रकाशन, कानपुर, 2012 (प्रथम संस्करण)
2. अंग्रेजी की श्रेष्ठ कविताएं, अनुवाद–उमेश जोशी, अनुज प्रिंटर्स, 98 जयनारायण रोड, लखनऊ
3. वर्जीनिया वुल्फ–अपना कमरा (ए रूम ऑफ वन्स ओन) अनुवाद गोपाल प्रधान
4. प्रभा दीक्षित – अधूरी कविता, जे.एम.डी. पब्लिकेशन, दिल्ली, 1998 प्रथम संस्करण, पृ. 53
5. डॉ. प्रभा दीक्षित–प्रेम करती हुई स्त्री
6. वही, पृ. 7
7. वही, पृ. 8
8. वही, पृ. 12
9. वही, पृ. 12
10. वही, पृ. 94
11. वही, पृ. 96
12. वही, पृ. 34
13. डॉ. प्रभा दीक्षित–गजल संग्रह : रोशनी की इबारत, युगप्रभा प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2000, पृ. 2
14. वही, पृ. 2
15. वही, पृ. 8
16. वही, पृ. 8
17. डॉ. प्रभा दीक्षित – प्रेम करती हुई स्त्री
18. वही, पृ. 31-32
19. वही, पृ. 29-30
20. वही, पृ.
21. वही, पृ. 46
22. वही, पृ. 75
23. डॉ. प्रभा दीक्षित–गूँगे कल का बयान से उद्धृत–भारतीय संस्कृति में स्त्री-पुरुष प्रेम सम्बन्धों की पड़ताल, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, पृ. 203
24. अरविन्द अवस्थी–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रचना की पड़ताल, अक्षरशिल्पी आलोचना विशेषांक–अंक जनवरी-फरवरी, 2013, स. विजय शिरढोणकर
25. डॉ. प्रभा दीक्षित–प्रेम करती हुई स्त्री
26. वही, पृ. 25
27. डॉ. प्रभा दीक्षित–साझी उड़ान–'एक उदास स्वप्न की बच्ची, सैनबन पब्लिकेशन, दिल्ली, 2012, पृ. 2012

जलधि नदी जमुना सी...

परिमला अम्बेकर

सूर की ब्रज की भूमि अपने अस्तित्व में दो समकालीन विरोधी व्यवस्थाओं को पहचानती है। वह बार-बार इन विरोधी व्यवस्थाओं की चुनौतियों को झेलती है और अपनी अस्मिता के लिए इन दोनों विरोधी मान्यताओं के सवालों से भी बार-बार प्रश्नित की जाती रही है, और आश्चर्य की बात तो यह है कि हर बार हर चुनौती एवं सवालों के उत्तर की खोज में वह अपनी विस्तृत गहन लोकवादी एवं जनपदीय प्राकृतिक सम्पद्भरित संस्कृति की पृष्ठभूमि की ओर लौटती है। ब्रज की भूमि केवल भौगोलिक खंड न होकर एक जीवन्त सांस्कृतिक परिवेश बनकर सम्पूर्ण भ्रमरगीत में उभरकर आती है। ब्रज का यह परिसर ब्रजीय लोकजीवन की अनन्य वाहिनी है, ब्रज की मानवीय जीवन की मर्यादा का संकेत है। ब्रज की राजकीय व्यवस्था, सामाजिक सरोकार, प्रशासनीय मर्यादा के साथ-साथ वहाँ का परिसर सम्पूर्ण ब्रजीय लोकजीवन की संस्कृति का आईना बनकर प्रस्तुत होता है। सूरदास रचित भ्रमरगीत, ब्रज के जीवन में बसे परिसरीय चेतना एवं प्राकृतिक सामंजस्य की अद्भुत मिसाल है। ब्रज में बसने वाला हर व्यक्ति, चाहे राजा हो या नागरिक, एक ही मन से अपने चहूँओर के परिसर के साथ ही अपने को पहचानता है। नन्द, जसोदा, गोप-गोपियाँ, राधा और कृष्ण का ब्रजीय पर्यावरण के साथ का अन्तर्सम्बन्ध अनन्य है, जैसे उद्धव से अपनी पहचान बताती गोपियाँ कहती हैं–

हम तो नन्दघोष की वासी।
नाम गोपाल, जाति कुल गोपहि, गोप-गोपाल-उपासी ॥
गिरवरधारी गोधनचारी, वृन्दावन-अभिलासी।
राजा नन्द जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी ॥
प्रान हमारे परम मनोहर कमलनयन सुखरासी।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं अष्ट महासिधि दासी ॥

ब्रज एक तरफ मथुरा की नागर राजकीय सभ्यता की विपरीत मर्यादा की मार से संत्रस्त है तो दूसरी तरफ 'ईशापुर काशी' के आध्यात्मिकीय जीवन के स्पर्धात्मक वातावरण से भी आक्रान्त है। सूरदास *भ्रमरगीत* में ब्रज-जीवन को इन उभय विपरीत संस्कृति के असहज जीवन से अलग-थलग अत्यन्त ही संवेदनीय, सहज और प्रामाणिक लोकजीवन की शैली को पाठकों को परोसता है, जो प्रकृति के आगोश में संरक्षित है, जो नदी यमुना, वृन्दावन के वनखंड और गाय धेनुओं से, पशु-पक्षियों से घिरे बने अद्भुत परिवेश को रंगता जाता है। ब्रज के हर व्यक्ति को इस प्रकृति से लगाव है, एक सहज और भावनात्मक अन्तर्सम्बन्ध है। यहाँ तक कि इसी पर्यावरण में ब्रज की गोपियों की धार्मिक आस्था, आध्यात्मिक विश्वास *कृष्ण* के साथ-

हिन्दी विभाग, गुलबर्गा विश्वविद्यालय, गुलबर्गा

साथ आकार लेते जाते हैं, इसी प्रकृति के आगोश में उनके बाल सँघाति के प्रति का लरकाई को प्रेम परवान चढ़ता है।

भ्रमरगीत में उद्धव-गोपी संवाद सम्पूर्ण विश्व-साहित्य का ही मार्मिक और अनूठा पक्ष है। उद्धव से बतियाती, संवाद करती विवाद पर उतर आती रोती, झड़पती, उलाहना देती आक्षेप करती गोपियाँ, अपने आप में मानवीय समाज के स्त्रीपक्ष के उस रूप को सामने लाती हैं जो कन्स्ट्रक्टिव हैं, संरक्षणीय है। अपनी दोनों बाँहें फैलाकर सम्पूर्ण ब्रज को एक स्वर एक विचार एक समझ देने की अकूत आन्तरिक स्नेहिलता से लकदक। जब गोपी बोलती है तो लगता है जैसे सारा ब्रज, ब्रज की संवेदना, ब्रज का जीवन उसके स्वर में सरगम की तरह बज रहा हो। दूध दुहती, मक्खन काढ़ती, गइया हाँकती ब्रज की स्त्री वह कड़ी है जो बड़े ही सलीके से नागरी राजकीय जीवन और भक्ति के आध्यात्मिक अतिवादों के ब्रज में प्रवेश पर निषेध लगाती है। इन उभय अतिवादों के ब्रज जीवन में प्रवेश के रोक के लिए गोपियों के पास जो अद्भुत संबल है, वृन्दावन की सुरम्य सम्पत्ति का, ग्वाल संस्कृति का, ब्रज के मानव जीवन एवं फसलों को हरिभरि रखने वाली जल सम्पत्ति यमुना नदी का, गोवर्धन पर्वत का, कालिन्दी सरोवर का। उद्धव के विरुद्ध उठा गोपियों का मनोगत, ब्रज की इसी मानवीय एवं प्राकृतिक परिवेश से पुष्टित और सिंचित है। कृष्ण के उस रूप का गोपियों को ध्यान है जो सम्पूर्ण अहिरों के जनपदीय जीवन को संबल देता है। वहाँ की गो सम्पत्ति, भू-सम्पत्ति, जल-सम्पत्ति और तो और वन सम्पत्ति के संरक्षक के रूप में कान्ह अहिरों की बस्ती का प्राण है।

उद्धव को घेरकर बैठी गोपियाँ, जब संवाद करती हैं, तो लगता है सम्पूर्ण ब्रज का मानवीय एवं प्राकृतिक जीवन उनकी ध्वनि में सिमटकर आया है। कृष्ण का भेजा जोग का सन्देश गोपियों के गले नहीं उतरता। भूल मिटाने का उनका विरोध का ढंग अत्यन्त सहज और आत्मिक है। कारण गलत पता याने Wrong destination का आरोप डाकिया उद्धव पर लगाती हैं। अपनी पहचान को समर्थित करती है। *उधो हम तो नन्दघोष की वासी*! किसी एक जनपदीय परिवेश का, वहाँ के लोक जीवन का और वहाँ बसे जीवन की वैविध्यता का इससे बढ़कर परिचय और क्या हो सकता है?

पर्यावरण बोध एवं जीव-वैविध्यता के आयाम से *सूरदास* कृत *भ्रमरगीत* की विमर्शा अपने आप में दो ढंग के ब्रज जीवन को याने गोपियों के संघर्ष को सम्मुख लाती है।

1. मथुरा की नागरीय संस्कृति से मुखामुखी
2. ईशपुर काशी के आध्यात्मिक वर्चस्व से भिड़ंत

भ्रमरगीत में, गोपी उद्धव विवाद के रूप में सम्पूर्ण ब्रज और मथुरा का भौगोलिक एवं राजकीय परिवेश प्रतिनिधित्व करता है, उद्धव-गोपी संवाद अपने आप में एक ढंग से विकसित एवं विकासशील संस्कृति के मध्य के संघर्ष के समान है। विकसित नगरी संस्कृति का प्रतीक *मथुरा* अपने अधीनस्थ ब्रज के लोक जीवन में हमेशा से रोड़े ही बिछाता आया है। कारण *मथुरा* की सोच व्यवहार के प्रति ब्रज एक अव्यक्त विद्रोह या वैमनस्यता पालता आता है। वर्चस्व का अतीव दम्भ, शासकीय अधिकार का मद मथुरा के हर व्यवहार में सर चढ़ बोलता है। ग्रामीण जीवन के प्रति, नागर सभ्यता द्वारा पालित हेय दृष्टि, अपनी अभिजात्यता का गुर *कुब्जा* के सन्देसे में बिन ढका है। *कहँ बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप-बस कीन्हीं*॥ साथ ही गोपियों को अपनी लघुता का अहसास सालता है। वे मथुरा की ओढ़ी सांस्कृतिक अभिजात्यता से भीतर तक घायल हैं। उद्धव से गोपियाँ कहती हैं–

कहँ वै गोकुल की गोपी सब बरनहीन लघुजाती।
कहँ वै कमला के स्वामी सँग मिल बैठी इक पाँती॥
निगमध्यान मुनिज्ञान अगोचर, ते भए घोषनिवासी।
ता ऊपर अब साँच कहो धौं मुक्ति कौन की दासी?

मथुरा की इस श्रेष्ठता और अभिजात्यता के दम्भ के वार को गोपियाँ अपने हृदय पर झेलती हैं। लेकिन अपने अन्तस् में अपने पक्ष की सत्यता और अपने प्रेम की अनन्यता के सारे विश्वास से लदीफदी *उद्धव* को आड़े हाथों लेती हैं। मथुरा द्वारा ढाए गए विपदाओं से ऊपर उठकर, ब्रज का जीवन जिस परिहासीय और उलाहना भरी शैली में अतिथि से संवाद करता है, जिस ठसक से उधो से बतियाता है उसके लिए अपने जीवन रस को कान्ह के उस रूप से पाता है जिसके त्यागने का गम, मथुरा के वैभव नगरी में रहकर भी स्वयं कृष्ण को सालता है–

यद्यपि मथुरा विभव बहुत है तुम बिन कछु न सुहाय।
सूरदास ब्रजवासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय॥

मथुरा रहते हुए भी कृष्ण का ब्रज लोक के प्रति लगाव, और ब्रज के लोगों का कृष्ण के प्रति सुखद सम्बन्ध के चित्रों के लिए ब्रज का पर्यावरण कैनवॉस का काम करता है। कृष्ण की स्मृतियों में बसा ब्रज देश और गोपियों के लिए कृष्ण का रासरसी ब्रज और बरसाने के पर्यावरण की सुरम्यताओं, वनों, घाटियों में और उसका आपात्रक्षक रूप मथुरानगरी की बर्बरता एवं प्रकृति प्रकोप की पर्यावरण विपदाओं में आकार पाता है।

ब्रजवासी और कृष्ण के मध्य के सम्बन्धों की पृष्ठभूमि ब्रज और बरसाने का परिसर गोपियों को अलग पहचान जहाँ देता है वहीं परिसर, कृष्ण के वियोग को और अधिक मुखरित

करता है। उद्धव से सन्देसा भिजवाते हुए कृष्ण की आँखें नम हैं, रासक्रीड़ा में वृन्दावन की सुरम्यता उसे सालती है, गोप सुग्वालों के संग वन में गोचारण के क्षण व्यथित करते हैं, घर के सम्मुख बँधे धूमरि धौरी गाय की याद हो *गोपाल* उनके विशेष देखभाल का जिक्र *नन्दबाबा* से करके कहता है : *कृष्ण* के *मधुपुरि* जाने के पश्चात्, गोपियों के विपृलम्भ शृंगार रूप के निरूपण हेतु ब्रज और बरसाने की प्रकृति, पलक पावड़े बिछाती जाती है। अपने प्रति की घोषवासियों की प्रीति, अनन्यता और संरक्षणीयता के बदले, ब्रज का पर्यावरण ह्यूमन टच को लेकर प्रस्तुत होता है। कृष्ण के वियोग में गोपियाँ अपने प्रियकर के लोकप्रिय रूप अर्थात् वह रूप जो परिसर बन्धु का है उसे उलाहनामय वाणी में नकारती है। यही तो वह रूप है जो सम्पूर्ण ब्रजभूमि में आवृत्त है।

बरू माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा के आए?
कत प्रभु गोप वेष ब्रज धारयो, कत ये सुख उपजाए?
कत गिरि धारि इन्द्र-मद मेट्यौ, कत बन रास बनाए?
अब कह निठुर भए हम ऊपर लिखि-लिखि जोए पठाए?

ईशपुर काशी की आध्यात्मिक व्यवस्था और समकालीन निवृत्ति मार्गी भक्ति के हस्तक्षेप के विरुद्ध भी *ब्रजप्रदेश* संघर्षरत है, *सूरदास* की सगुण भक्ति का निरूपण, निवृत्त मार्ग को लताड़ते हुए *गोपियों* द्वारा प्रवृत्ति मार्ग का मंडन ब्रज परिसर की जीव वैविध्यता और परिसर प्रेम के माध्यम से अर्थ को पाता जाता है। गोपियों का जीवन एवं परिसर प्रेम अचाट है। उनकी सगुण भक्ति अपने से बाह्य जीवन के माध्यम से, भौतिक सुख-सुविधाओं के माध्यम से ईश्वरीय तत्त्व को प्राप्त करने का जरिया है, इसीलिए उधो से कहती हैं—

गोकुल सबै गोपाल उदासी।
जोग-अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥

जिस प्रकृति के तत्त्वों से गोपियों की भक्ति परवान चढ़ी थी, उन्हीं प्राकृतिक तत्त्वों के माध्यम से गोपियाँ कृष्ण के वियोग को जीती जाती हैं। गोपियों का विप्रलम्भ रूप ब्रज की प्रकृति के तत्त्वों में अनुभावित होता जाता है। ब्रज की हृदय वेदना ब्रज के पर्यावरण के तत्त्वों में यूँ रिसती है—

बिन गोपाल बैरिनि भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजै॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलै, अलि गुंजै।

भ्रमरगीत में सगुण प्रवृत्तिमार्गी भक्ति के पोषक तत्त्व के रूप में ब्रज की प्रकृति जहाँ प्रस्तुत होती है वहीं निर्गुण आराधना के योगमार्गी भक्ति के प्रति निषिद्धता जताती है। कारण गोपियों का जीवन रूपी ब्रज रागात्मक प्रकृति के रंगीन जीवन आनन्द को अपने पर्यावरण की हरित छटा में देखता है। वहीं योग साधना की शुष्कता, बेरंग जीवन व्यवहार, निर्गुण साधना, पर्यावरण से दूर ईश्वर की नगरी काशी में अपने हठयोगी साधकों के अतीव नीरस, शुष्क व्यापारों में दिखाता है। हठयोग की साधना गोपियों को यातनामय और बेजान लगती है। जिसमें न वृन्दावन की हरित लताओं का झूलना है, न कोयल की कूक, न ही यमुना नदी का जल स्रोत है न ही गोधन और गोरस का आह्लाद। भला कैसे गोपियाँ भस्म, मृगत्वचा, जटा जूट से अपनी सगुण तत्त्व से पोषित मन और बुद्धि को संतृप्त कर सकती हैं? कारण ऊधो से पूछती हैं—

घर लागै औघूरि कहे मन कहा बँधावै?
अपनो घर परिहरे कहो को घरहि बतावै?
मूरख जादवजात हैं, हमहिं सिखावत जोग।
हमको भूलो कहत हैं, हो हम भूली किधौं लोग?

मानव सदियों से जिस परिवेश में साँस लेता है और जिस प्रकृति में अपने अस्तित्व को खोजता है, विविध जीव एवं जातियों के मध्य एक विशिष्ट अन्तर्सम्बन्ध या समीकरण को पाता है, उसी का बोध पर्यावरण है। मानव और पर्यावरण के मध्य की घनिष्ठता के सिक्के का दूसरा मुख मानवों के आपसी सम्बन्धों की निर्भरता एवं बांधव्यता में खुलता जाता है। पंचतत्त्वों की वैज्ञानिक व्यवस्था जहाँ भौतिक प्रगति के इतिहास चक्र को रचती है वहीं, इन पंचतत्त्वों एवं जीवों के मध्य के आपसी सम्बन्ध का समीकरण, जीवन दर्शन के समतोलन की नीति को प्रस्तुत करता है। भारतीय जीवनशैली अपने चहुँओर की प्रकृति को दैविक शक्ति रूप में पूजती आई है। भारतीय धर्मदृष्टि पर्यावरण में आध्यात्मिकता का दर्शन करती है। अपने चहुँ ओर के वनखंड, पर्वत-शिखर, नदी-नाले- सरोवर, सूर्य-नक्षत्र-चन्द्रमा, आकाश और पवन आदि में दैवतता का आरोप कर उन्हें पूजते, मानवीय संरक्षणीय शक्ति के रूप में उनसे भय भक्ति जताती आई है।

विशेषतया भारतीय लोकजीवन और आदिवासी संस्कृति का प्रकृति एवं पर्यावरण के साथ का अधिक करीबी का अहसास, नागरी यान्त्रिक सभ्यता के असमतोलन विकास एवं भौतिक एवं जैविक दुष्परिणामों की ओर चुपके से संकेत कर जाता है। विकास के यान्त्रिक और वैज्ञानिक आयाम, मानवीय जीवन और व्यवहार की अतीव शिष्टता और शुष्कता, केन्द्रित और बन्धित संस्कृति को हमारे सम्मुख खोल रहे हैं। भौतिक विकास एवं पर्यावरण के मध्य के इस विलोमी सम्बन्ध के

प्रश्नों को *नन्दघोष* की *गोपियाँ* उठाती हैं। गोपियों द्वारा, *मधुपुरि* और *काशी* को अपने आरोप प्रत्यारोपों भरे संवाद का टार्गेट निश्चित करवाना और उसकी व्यवस्था के खंडन द्वारा *सूरदास*, अवश्य ही विकास एवं प्रकृति के विलोमी तोलन को बड़ी गम्भीरता से नोट करते हैं। दर्शन, अध्यात्म एवं सामाजिक जीवन के मानवीय सूत्र को प्रकृति के माध्यम से बाँधकर प्रस्तुत कर, शृंगार के संयोग के क्षणों के आनन्द को लूटने वाली ब्रज की *गोपियाँ*, कृष्ण वियोग को, अपने जीवन आई हुई विषम स्थिति को, विप्रलम्भ शृंगार के घोर विषादमय क्षणों को परिभाषित करने हेतु, ब्रज की प्रकृति का ही आधार ग्रहण करती है। वियोग की कालिमा पर्यावरण में घुलकर सम्पूर्ण ब्रज में घर कर बैठ जाती है।

खैर, *जलधि नदी जमुना सी*...कहकर अपने भाग्य पर मदमाती *गोपियाँ* कृष्ण वियोग में पुकार उठती हैं– *'करयो प्रगट पुकार द्वार कै 'कालिंदी फिरि आयो काली'*। गोपियों की इस चेतावनी भरी पुकार को क्या हम विकसित देशों द्वारा पर्यावरण के दोहन के विरुद्ध, तीसरी दुनिया की सम्भावित चेतावनी मानें?

(यह आलेख 'हिन्दी साहित्य और पर्यावरण के अन्तर्सम्बन्ध' विषय पर दिनांक 15-16 मार्च, 2013 को हिन्दी विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया था।)

समय-सापेक्ष नैतिकताओं का सृजन

अभिजात

'लावण्यदेवी' डॉ. कुसुम खेमानी का पहला उपन्यास है जिसमें लेखिका ने एक जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है, जो व्यावहारिकता पर आधारित आध्यात्म का पथ है। यह जीवन की एक नई राह का अन्वेषण है जिसमें अपने सुख-दुख के साथ-साथ परोपकार भी शामिल है। राग और विराग की एक विलक्षण सन्धि इस उपन्यास में मिलेगी, जो पाठक को जीने का एक नया सलीका देती है। यह विवेकवाद पर आधारित पथ है, जो सिर्फ त्याग नहीं सिखाता बल्कि त्याग का नया अर्थ और वैकल्पिक मार्ग देता है। यह उस व्यवहार से मिलता-जुलता है जो वारेन बफे ने शुरू किया है, जो अपनी मेधा और श्रम से कमाई दौलत का एक बड़ा हिस्सा लोकहित में खर्च करने को सार्थक मानता है।

अपने जीवन के उत्तरकाल में संन्यासी-सा जीवन जीते हुए अपने समर्थकों से एक जगह लावण्यदेवी कहती है—"हमें भी जीवन में दुनियादारी निबाहते हुए उच्चतर मूल्यों के लिए काम करना चाहिए। देह के धर्म को उसका प्राप्य देते हुए मनुष्य जब अपने विवेक से काम करता है, तो आधिभौतिक तत्त्व आधिदैविक तत्त्वों की प्राप्ति में अड़चन नहीं डालते। फलस्वरूप हमारे मन, वचन तथा कर्म तीनों ही सुन्दर हो जाते हैं।....अपनी देह से प्रेम करते हुए उसका प्रयोग लक्ष्य- प्राप्ति की सीढ़ी की तरह कीजिए।" (पृष्ठ 77) उपन्यास की गति तेज है। इसमें धीमे-धीमे घटित होता जीवनक्रम नहीं है बल्कि कई पीढ़ियों के अनुभवों को एक-दूसरे के बरअक्स देखने का उपक्रम है। इसमें पिछली पीढ़ी कई बार नई पीढ़ी से सीखती है तो वहीं बड़ी सहजता से बिना किसी दबाव के नई पीढ़ी को बहुत कुछ सिखाती है। मामूली लगते अनपढ़ और अनगढ़ पात्र भी उच्च शिक्षा प्राप्त पात्र को बिना कहे सिखाते हैं। यह उपन्यास एक तरह से कई पीढ़ियों और कई वर्गों के बीच वैचारिक विमर्श और उनमें सामंजस्य की महती भूमिका निभाता है। किसी एक विचार को सायास थोपने या किसी विचार सूत्र को पात्रों के माध्यम से लादने की कोशिश इसमें नहीं मिलती बल्कि तमाम विचारों को आमने-सामने रखकर व्यावहारिक पथ निकालने की कोशिश दिखती है। आम सहमति बनाने का प्रयास हर जगह है। इस उपन्यास में जगह-जगह समाज में समझे-समझाए और लगभग रूढ़ हो चुके आदर्शों पर बौना करते विमर्श मिल जाएँगे। उपन्यास दरअसल जीवन का एक खंड नहीं अपितु पूरा एक जीवन होता है अपनी तमाम खूबियों और खामियों के साथ। मनुष्य की जय-पराजय, उत्थान-पतन, राग-विराग, लोभ और त्याग के प्रश्नों को यह उपन्यास पूरी शिद्दत से उठाता है और उसे एक विशेष अन्विति तक पहुँचाता है। लावण्यदेवी उपन्यास एक सम्पन्न बंगाली परिवार से जुड़ी पाँच पीढ़ियों के लोगों की गाथा

40 ए, ओल्ड कोलकाता रोड, पोस्ट-पातुलिया, टीटागढ़, कोलकाता-700119

है जिसमें उनके उत्थान-पतन, कार्यशैली, रहन-सहन और सोच के ढर्रे को उसकी पूरी बनावट और बारीकियों के साथ चित्रित किया गया है। लेकिन जिस चीज पर लेखिका का फोकस है वह है धनवान लोगों का सामाजिक योगदान। धन का लोकहित में उपयोग। अब तक पूँजी का शोषणमूलक स्वरूप ही साहित्य में मुख्य तौर पर प्रस्तुत किया जाता था। धनवान की और अधिक धनवान होने की होड़, उसकी ओर से गरीब और मजबूर लोगों का किया जाता आर्थिक शोषण। यह उपन्यास पूँजी के सामाजिक योगदान को रेखांकित करता है और दौलतमंद लोगों के बारे में रूढ़ विचारों को बदलता है। पूँजी के इर्द-गिर्द रहने वालों के उदात्त चरित्र को उजागर करता है। इस प्रकार साहित्य की दुनिया में एक नया प्रयोग इस उपन्यास में है। सम्पन्न परिवार के आदर्शवादी कई युवा और बुजुर्ग पात्र इस उपन्यास में अलग-अलग तरीकों से समाजसेवा और जनहित के कार्यों में अपने जीवन को खपा देते हैं या फिर अपनी कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे कार्यों के लिए दान कर देते हैं। उदात्त पात्रों में स्वयं कथानायिका लावण्यदेवी के अलावा नशाखोरी उन्मूलन से जुड़ी प्रियंवदा भी है, जो एक तमिल वैभवशाली खानदान की बेटी और दूसरे वैभवशाली खानदान की बहू है।

समाजसेवा के कार्य में बुजुर्ग और प्रौढ़ लोग ही नहीं हैं युवा भी हैं। लावण्यदेवी की प्रेरणा से उनकी युवा पौत्रियाँ मंजुलिका और मालविका भी समाजसेवा के कार्यों में जुट जाती हैं, एक ने नशा उन्मूलन के कार्यों में अपने को जोड़ा तो दूसरी ने सोनागाछी की वेश्याओं की समस्याओं के निवारण में। उपन्यास में समाज कल्याण और सुधार की दिशा में सक्रिय लोगों की विश्वस्त दास्तान है। लावण्यदेवी की नानी भी ऐसे ही कार्यों से जुड़ी थी। उपन्यास का यह रुझान और मिशन से जुड़े पात्रों की समाज सुधार की परिकल्पनाओं के कारण प्रेमचन्द का 'सेवासदन' नारी चरित्र के उत्कर्ष के सन्दर्भ में यशपाल के 'दिव्या' जैसे उपन्यासों की याद दिलाता है। तिक्त अनुभव इस उपन्यास में लगभग नहीं हैं क्योंकि पात्रों के अन्दर की खामियाँ उनके समूचे व्यक्तित्व को नहीं ढक पाती हैं, उनमें कहीं-न-कहीं पछतावा है जो अपनी परिधि तोड़कर समाज सुधार के व्यापक विमर्श से जुड़ जाता है। जीवन की उदात्तता की ओर जाता यह उपन्यास कई मूल्यों को एक साथ साधता है और अपने बहुआयामों के साथ इसकी अर्थवत्ता को प्रकट करता है। एक जगह कुसुम जी कहती हैं—"सांस्कृतिक और सामाजिक एकता की इससे बड़ी परिकल्पना और क्या हो सकती थी कि एक आदमी अपने व्यक्तित्व में अपने संस्कार, अपनी भाषा, अपने उच्चारण, अपने रीति-रिवाज आदि समेटे हुए धुर विपरीत प्रदेश में आकर उस स्थान के संस्कारों को स्वयं में और स्वयं के संस्कारों को उस स्थानीय समाज में समावेशित कर उत्कृष्ट मूल्यों की स्थापना करे। एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति में घालमेल, यह बिखरे भारत की अखंडता के लिए भी अनिवार्य था।" (पृष्ठ-92)

रांग साइड ऑफ द बेड् वाले नाजायज रिश्तों से लेकर गे और लेस्बियन सम्बन्धों की भी इस उपन्यास में चर्चा है किन्तु इन सम्बन्धों को हिकारत से नहीं देखा गया है बल्कि उसके व्यावहारिक पहलुओं के साथ-साथ उसके उजले पक्ष को ही लेखिका सामने लाती हैं। अपनी बात कहने के लिए जगह-जगह लोककथाओं और पौराणिक प्रसंगों का बखूबी प्रयोग उन्होंने किया है। भाषा परिष्कृत और आध्यात्मिक और वैचारिक पहलुओं को उजागर करने में समर्थ है। आध्यात्मिकता की व्याख्या करते हुए उन्होंने एक जगह कहा है—"साधारण आदमी के लिए स्वयं से और मेरे-तेरे की ममता से ऊपर उठकर नाम, यश और अर्थ लाभ की कामना किए बिना दूसरों के लिए कोई अच्छा काम करना क्या अध्यात्म नहीं है?" (पृष्ठ 97) शिक्षा की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—"शिक्षा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि शिक्षा आदमी के व्यक्तित्व को विस्तार देती है और वह जीवन की ओछी क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर स्वयं का और दूसरों का विकास करना चाहता है।" (पृष्ठ 87) यह उपन्यास वृहत्तर अर्थों में समय सापेक्ष नैतिकताओं का सृजन है। जो लोग यह मानकर चलते हैं कि यह समय घोर अनैतिकताओं का है और सब मूल्य टूटकर बिखर रहे हैं, उन्हें यह जरूर पढ़ना चाहिए, क्योंकि इस उपन्यास में यह अहसास बराबर बना रहता है कि हर नई पीढ़ी अपने समय के साथ कुछ पुरानी पड़ गई नैतिकताओं से असहमत होती है तथा कई बार उन्हें सीधे-सीधे खारिज कर देती और कई बार उनके साथ मजबूरन समझौता कर उन्हें केवल ढोती है। उसे लगता है कि कुछ मूल्य और नैतिकताएँ पुरानी पीढ़ी ने जबरन उस पर थोपी हैं। लावण्यदेवी परवर्ती काल में नैतिकताओं व जीवन-मूल्यों को समय की कसौटी पर कसती है और उनमें आवश्यकतानुसार बदलाव और नएपन को अपनाने को तत्पर हो जाती है। इससे कई पीढ़ियों के बीच एक सेतु बनता है जिसकी आज आवश्यकता है। यदि पुरानी पीढ़ी अपनी ही धारणाओं को अन्तिम मानकर उसी पर अड़ी रहती है तो वह नई पीढ़ी के लिए बोझ बन जाती है। लेखिका ने बड़ी खूबी के साथ आज के उन मूल्यों को तलाश किया है जो नई पीढ़ी के लिए लगभग अप्रासंगिक हो चले हैं, उनमें बदलाव की आवश्यकता को सहजता से स्वीकार किया है। यदि समाज नए मूल्यों को भी स्वीकारने को तैयार हो तो वह अनैतिक समय में जीने की कुंठा से मुक्त

हो सकता है। दरअसल नैतिकताएँ समय सापेक्ष होती हैं और नई चुनौतियों के अनुसार यदि उनमें बदलाव होता रहे तो उसकी स्वीकार्यता भी बढ़ेगी और समाज का जो विखंडित रूप हमें दिखाई दे रहा है उस पर से धुन्ध छँट जाएगी। पुराने मूल्यों की कसौटी पर यह जो पतित लगता समय है उसे नए मूल्यों के आलोक में देखने पर समाज का कुछ स्वस्थ चेहरा भी नजर आएगा। यह ठीक है कोई भी साहित्य अपने समय की आलोचना के आधार पर श्रेष्ठता का दावा करता है किन्तु वह साहित्य उससे कमतर कतई नहीं माना जाना चाहिए जो समय की आलोचना के नए मानदंडों का सृजन करे। कुसुम खेमानी की यह कृति जोखिम उठाकर भी यह करती है, जिसके लिए इसे अलग से याद किया जाना चाहिए। यह उपन्यास जितना अध्यात्म सम्बन्धी प्रश्नों से जूझता है उतना ही सामाजिक ताने-बाने की खामियाँ-खूबियों को लेकर भी चिन्तित है। यहाँ अध्यात्म का ताल्लुक परलोक से नहीं बल्कि व्यक्तित्व के आन्तरिक विकास और आत्म-निरीक्षण से है।

लावण्यदेवी कोलकाता के सोनागाछी इलाके से लेकर सुदूर गाँव व पहाड़ों के जीवन की तमाम समस्याओं को हल करने के लिए जगह-जगह स्वयंसेवी संस्थाएँ बनाकर उसमें समर्पित स्वयंसेवकों को मुस्तैद करती चलती है। उन्हें सामाजिक कार्यों के लिए पैसे की कोई कमी नहीं होती। हमख्याल लोग उनके प्रति समर्पित होते रहते हैं। उनके व्यक्तित्व के जादुई प्रभाव के कारण कई युवा अपना जीवन उनके महान् उद्देश्यों के लिए समर्पित करने को तैयार हो जाते हैं। ये युवा तमाम आधुनिक संसाधनों से लैस हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक उनकी पहुँच है जहाँ से ये तमाम जनहितकारी योजनाओं का लाभ लोगों तक पहुँचाने की सीढ़ी तैयार करते हैं। मोहम्मद युनूस की माइक्रो बैंकिंग के महत्त्व को यहाँ स्वीकार किया गया है जिसने बांग्लादेश जैसे गरीब मुल्क में महिलाओं को केन्द्र में रखकर छोटे ऋण देने की पहल की गई।

गांधीवादी तरीकों से उन्हें गुरेज नहीं है, ना ही सुन्दरलाल बहुगुणा के सामाजिक उत्थान के काम-काज के तौर तरीकों से। फिर भी यह काम इन दिनों समाजसेवा में जुटे उन सामाजिक कार्यकर्ताओं से भिन्न है, जो सेवा में दिलचस्पी कम रखते हैं और उनका एकमात्र काम भ्रष्टाचार को उजागर करना है। वे अव्यवस्था के खिलाफ मुखर तो हैं पर इसे ही अपने काम की इतिश्री मान बैठे हैं। उनकी राजनीतिक और व्यावसायिक महत्त्वाकांक्षाएँ समय-समय पर उजागर होती रहती हैं। शुक्र है कि आज के सोशलाइटों की तरह लावण्यदेवी राजनीति में नहीं जाती बल्कि क्रमशः जीवन के उस शिखर पर पहुँचती है जहाँ जीवन की तमाम उत्कंठाएँ तिरोहित होती जाती हैं। वह कहती है—"तुम लोग अभी ज्ञानमार्गी हो इसलिए विवेकसम्मत तर्क प्रस्तुत करोगे पर मैं अब भक्तिमार्ग की पथिक बन गई हूँ, जिसमें सारे तर्क-वितर्क से ऊपर केवल पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण समर्पण होता है। वहाँ एक ही सत्ता राज्य करती है वह है—प्रेम।" (पृष्ठ 121) प्रारम्भिक जीवन में वैभवपूर्ण जीवन होते हुए और उच्चशिक्षा ग्रहण करने के बाद क्रमशः सामाजिक जीवन और फिर वैराग्य की ओर उन्मुख लावण्यदेवी की गाथा भारतीय मानस की एक ऐसी गाथा है जिसे एक श्रेष्ठ व सार्थक जीवन का मॉडल कहा जा सकता है। इसमें कहीं भी त्याग अतिशयोक्ति नहीं लगता न ही आदर्श ओढ़े हुए। एक महिला के बेहतर जीवन का क्रमिक विकास इसमें है और यह उपन्यास भी क्रमशः नई ऊँचाइयों को छूने में समर्थ हुआ है। लावण्यदेवी अपने जीवनकाल में ही लोगों की प्रेरणा का केन्द्र नहीं बनी रही बल्कि उनकी मृत्यु के बाद वे अपने पीछे अपने आदर्शों पर चलने वाले असंख्य लोगों को छोड़ जाती है। वह पारिवारिक व सांसारिक सुख-सुविधाओं से ऊपर उठकर समाजसेवा व अध्यात्म के पथ पर चलकर एक अलौकिकता अर्जित करती है। उपन्यास के कथानक का यह लगभग अप्रत्याशित मोड़ है जिसमें एक ठोस लगता चरित्र अपनी मृत्यु के बाद कतिपय अलौकिक घटनाओं के साथ अपनी रहस्यमय उपस्थिति के साथ मिथ में बदल जाता है। ■

(लावण्यदेवी, कुसुम खेमानी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली-110002)

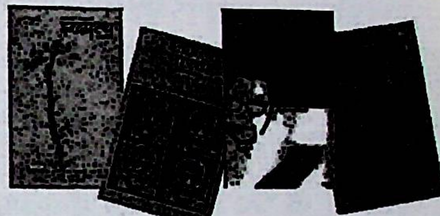
WITH BEST COMPLIMENTS

From

INTEGRATED CORPCOM SERVICE

NAGPUR

अकादमी के प्रकाशन



**देश-भर के ख्यातिप्राप्त सृजनधर्मी शब्द-शिल्पियों के साथ-साथ
उदीयमान प्रतिभाओं की सशक्त लेखनी का संयुक्त मंच**

इन्द्रप्रस्थ भारती

साहित्य-संस्कृति की समग्र त्रैमासिकी

हिन्दी भाषा और साहित्य के उन्नयन-हेतु सतत प्रयत्नशील

हिन्दी अकादमी, दिल्ली
द्वारा प्रकाशित एक ऐसी सम्पूर्ण त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका जो सहज मानवीय संवेदनाओं, उदात्त जीवन-मूल्यों तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का अनूठा संगम और हर वर्ग के पाठक-समुदाय की अपेक्षाओं के अनुकूल पठनीय एवं संग्रहणीय है।

लगभग एक सौ छिहत्तर पृष्ठ
मूल्य : एक प्रति 25/- रुपये
वार्षिक 100/- रुपये ● त्रैवार्षिक 300/- रुपये

सुरुचि सम्पन्न स्वस्थ सकारात्मक अभिव्यक्ति की सूत्रधार 'इन्द्रप्रस्थ भारती' के स्थायी सहभागी बनें। आज ही अपना वार्षिक शुल्क सचिव, हिन्दी अकादमी, दिल्ली के नाम मनीऑर्डर/चैक (स्थानीय) द्वारा भेजकर सदस्यता प्राप्त करें।

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें -
डॉ.हरिसुमन बिष्ट
सचिव, हिन्दी अकादमी, दिल्ली
समुदाय भवन, पदम नगर, किशन गंज, दिल्ली-110007
दूरभाष : 23690274, 23693118, 23694562, फैक्स : 23696897
E-mail : hindiacademy_delhi@rediffmail.com
hindiacademydelhi@gmail.com

असंकलित-अप्रकाशित यशपाल साहित्य



प्रिय पाश
(यशपाल के पत्र प्रकाशवती के नाम)

यशपाल का विवाह 1936 में जेल में क्रान्तिकारी दल की साथी प्रकाशवती से हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक विवाह से पहले और बाद में प्रकाशवती को लिखे उनके अन्तरंग पत्रों का संग्रह है जो अपनी भावुकता और भावात्मकता के कारण लेखक के व्यक्तित्व का एक बिलकुल नया आयाम पाठकों के सामने पेश करता है।

अप्रकाशित गल्प

एक आंशिक रूप से लिखा उपन्यास, ध्वनि नाटक, रेडियो नाटक एवं वार्ता, कहानी, संस्मरण आदि विविध विधाओं में लिखी रचनाओं का संग्रह।



विप्लव

हिन्दी राजनीतिक पत्रकारिता में यशपाल द्वारा सम्पादित 'विप्लव', 'बागी' तथा 'विप्लवी ट्रैक्ट' का अपना अनोखा, अनूठा स्थान है। उनके द्वारा लिखित सम्पादकीयों, टिप्पणियों तथा लेखों की माँग बहुत समय से रही है। प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से यह कमी शीघ्र ही दूर हो जाएगी।

असंकलित निबन्ध (तीन जिल्दों में)

- मैं और मेरा परिवेश
- यथार्थ और उसकी समस्याएँ
- मार्क्सवाद में पुनर्विचार

विवादों और बहसों से यशपाल कभी नहीं बचते थे। सामयिक प्रश्नों और मुद्दों से भी वह कभी कटे नहीं रहे। निबन्धों के इन तीन खंडों में न केवल सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर बल्कि व्यक्तिगत सन्दर्भों पर उनका लेखन भी काफी मात्रा में है। विविध प्रसंगों पर ये लगभग पौने दो सौ निबन्ध यशपाल की रचना-प्रक्रिया और उनके सरोकारों तथा लेखक को समग्रता से समझने में मूल्यवान होंगे। इनमें से कुछ इस बात का प्रमाण हैं कि उनका सोच अन्त तक नहीं बदला था।

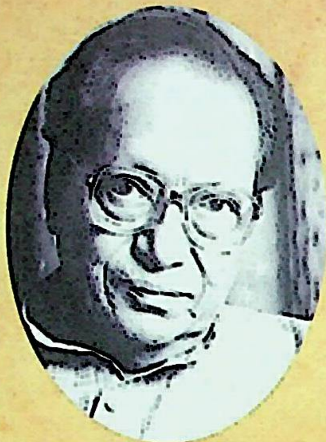


मेरी जेल डायरी

वायसराय की गाड़ी के नीचे बम विस्फोट तथा अन्य क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण 1932 में गिरफ्तार हो जाने के बाद यशपाल को आजीवन कारावास का दंड मिला था। 1938 में अकस्मात् मुक्त हो जाने से पहले का समय उन्होंने कारागार में अध्ययन-मनन में बिताया था। साहित्य और पत्रकारिता को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था जिसके रूपान्तर को उन्होंने 'बुलेट की जगह बुलेटिन' रूप में परिभाषित किया था। 'मेरी जेल डायरी' में न केवल उनकी अनेक कहानियों के प्रारम्भिक रूप और ड्राफ्ट हैं बल्कि विज्ञान, मनोविज्ञान तथा विविध विषयों पर उनके अध्ययन तथा मनन का रिकार्ड भी है।

शीघ्र प्रकाश्य

सृजन स्मरण



कोई भी धर्म – जब वह आदमी की
अपनी कुदरत में समा जाता है,
वह जीने की संस्कृति का हिस्सा बन जाता है,
तो उसका ज़हरीलापन समाप्त हो जाता है।

कमलेश्वर

(1932–2007)

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड के स्वामित्व में मुद्रक एवं प्रकाशक अशोक कुमार महेश्वरी ने बी.के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित कराकर 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110 002 से प्रकाशित किया।